संक्षिप्त
जीवाणु विज्ञान

A Short Manual of Bacteriology
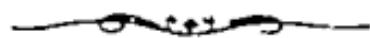
लेखक—

आयुर्वेदाचार्य

डॉ० भास्कर गोविंद घाणेकर

बी० एस् सी, एम् बी, बी० एस्०

स्वास्थ्यशिक्षापाठमाला, स्वास्थ्यविज्ञान, औपसर्गिक रोग जीवन-रसायन
चिकित्सा शास्त्र, आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति सुश्रुत भाषाटीका
(आयुर्वेद रहस्य दीपिका) तुलनात्मक रोगविज्ञान
(अंग्रेजी) इत्यादि ग्रन्थों के रचयिता

प्रकाशक —

डाक्टर भा० गो० घाणेकर

हिंदू विश्वविद्यालय

बनारस

मुद्रक —

बजरंगबली

श्रीसीताराम प्रेस

जालिपादेवी, काशी।

द्वितीयावृत्ति की भूमिका

श्रीविश्वनाथ की असीम कृपा से जीवाणुविज्ञान की द्वितीयावृत्ति पाठकों की सेवा में उपस्थित करने का परम सौभाग्य आज मुझे प्राप्त हुआ है। इसकी प्रथमावृत्ति बहुत पहले समाप्त हो गयी थी परन्तु कागज की दुष्प्राप्यता के कारण द्वितीयावृत्ति का प्रारंभ पिछले वर्ष के जनवरी तक मैं नहीं कर सका। उस समय बड़ी कठिनाई से कुछ कागज मिल जाने पर मैंने इस आशा से इस आवृत्ति का काम प्रारंभ किया कि जो कुछ कागज कम पड़ेगा वह मुझे अगले साल मिल जायगा। परन्तु इस साल कागज की दुष्प्राप्यता और भी बढ़ जाने से मेरी आशा पर पानी फिर गया और विषाणुजनित रोग, रोगक्षमता, आयुर्वेदोक्त जीवाणुविज्ञान इत्यादि विषय छूट जाने के कारण यह आवृत्ति अपूर्ण सी रह गयी।

वैज्ञानिक ग्रन्थों के लेखन में सबसे बड़ी कठिनाई परिभाषा की होती है। यह कठिनाई प्रथम आवृत्ति के समय थी, इस आवृत्ति के समय रही तथा भविष्य में भी रहेगी। परन्तु इस समय प्रथम आवृत्ति की अपेक्षा मैंने परिभाषा का क्षेत्र बहुत कुछ विस्तृत कर दिया। दिग्दर्शनार्थ केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त है। अंग्रेजी में सूक्ष्मजीवों को मैक्रोब या मैक्रो आर्गानिज्म (Microbe, micro-organism) कहते हैं। हिंदी में इनके लिए कीटाणु शब्द पहले से प्रचलित था। परन्तु मैक्रोब के लिये यह शब्द मुझे ठीक न जचने के कारण मैंने जीवाणु शब्द बनाकर उसका प्रयोग और प्रचार जीवाणुविज्ञान की प्रथमावृत्ति में किया। अब यह शब्द कीटाणु के स्थान में हिंदी में बहुत प्रचलित हो चुका है। मैक्रोब के अतिरिक्त अंग्रेजी में प्राणिविभाग के सूक्ष्मजीवों के लिये प्रोटोज़ुआ (Protozoa) और वनस्पति विभाग के सूक्ष्मजीवों के लिये बैक्टेरिया करके और दो शब्द मिलते हैं। प्रथमावृत्ति में इनके लिये कोई हिंदी पर्याय नहीं बनाये गये थे। कीटाणु का अर्थ सूक्ष्म कीड़े हैं। कीड़े प्राणीवर्ग के

ध्यान के कारण प्राटोजुआ के लिये मैंने पुराना कीटाणु शब्द निर्धारित कर दिया। अब रहा बैक्टेरिआ। प्राणिविभाग में जैसे कीट वैसे वनस्पति विभाग में तृण, इसलिये वनस्पति विभाग के सूक्ष्म-जीवों का प्रदर्शित करने के लिये कीटाणु के समान तृणाणु शब्द सिद्ध करके उसको मैंने बैक्टेरिआ का पर्याय निर्धारित कर दिया। जीवाणुदर्शन के लिये सूक्ष्म-दर्शक का प्रारम्भ होने पर सबसे पहले जो जीवाणु देखनेवाले का दीख पड़ा वह उसको छड़ी या तिनके के समान प्रतीत हुआ, इसलिये उसने उसका बैक्टेरिआ (Baktron-stick) नाम रक्खा। बैक्टेरिआ शब्द की इस उत्पत्ति का विचार करने पर यह पर्याय और भी अधिक जँचता है। ऐसे अनेक नवीन पारिभाषिक शब्द मैंने इस आवृत्ति में बनाये हैं तथा अनुभव के आधार पर कुछ पुराने पारिभाषिक शब्दों में परिवर्तन किया है। जब तक कोई परिभाषा रूढ़ और सार्वदेशिक नहीं होती तबतक उसका निश्चित अर्थ मालूम करने के लिये उसके अंग्रेजी पर्याय जानना बहुत आवश्यक है इस दृष्टि से प्रत्येक नये शब्द के साथ उसके अंग्रेजी पर्याय कोष्टक में दिये गये हैं। इन सब शब्दों का एक स्वतन्त्र कोश अन्त में देने का मेरा विचार था, परन्तु कागज न मिलने के कारण अन्य आवश्यक विषयों के समान यह कोश इसमें समाविष्ट न हो सका।

इस ग्रंथ के लिखने में मुझे अनेक अंग्रेजी ग्रंथकारों से सहायता मिली है जिनका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इनमें निम्न मुख्य हैं—Bacteriology by De and Chaterji, An introduction to practical Bacteriology by Mackie and Mc Cartney, Approved laboratory technic by Kolmer and Boerner, Pathology by Green, Pathology by Boid text book of clinical Pathology by Kracke, Manual of Bacterio logy by Muir and Ritchie Clinical diagnosis by laboratory methods by Todd and Sanford

अत्यन्त परिश्रम से संशोधन और परिवर्धन कर तथा नये ढंग से लिखकर मैंने इस आवृत्ति में जीवाणु विज्ञान की पूर्ण काया-पलट और बहुत कलेवर वृद्धि कर डाली है जिसके कारण इस आवृत्ति को द्वितीयावृत्ति कहने की अपेक्षा नयी पुस्तक कहना ही अधिक उचित है। अतः मुझे आशा है कि यद्यपि इस पुस्तक में प्रथमावृत्ति के कुछ विषय छूट गये हैं, फिर भी यह पुस्तक प्रथमावृत्ति की अपेक्षा विद्यार्थियों का अधिक उपयोगी होगी।

मैं जानता हूँ कि इस पुस्तक में भाषा के तथा मुद्रण के अनेक दोष रह गये हैं। उदार चित्त पाठक कृपा करके इसके लिये क्षमा करेंगे।

महाशिवरात्र २००१
काशीविश्वविद्यालय

भास्कर गोविंदघाणेकर

अध्यायानुक्रमणिका

संक्षिप्त जीवाणु विज्ञान

प्रथम अध्याय

जीवाणु सम्बन्धी सामान्य विवरण

जीवाणु—(Microbes, micro-organisms)—संसार की सजीव या चेतन सृष्टि में जो जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनको देखने के लिये अणुवीक्षणयंत्र या सूक्ष्मदर्शक (Microscope) की आवश्यकता होती है वे अणुवीक्ष्यजीव या जीवाणु कहलाते हैं। य अनंत और सर्वव्यापक होते हैं। कुछ तो हमेशा पालतू प्राणियों के समान मनुष्यों की त्वचा में, बालों पर, पचन संस्थान में, मूत्र-प्रजनन-संस्थान में, कण्ठनासादि अंगों में उपस्थित रहते हैं। ये सहवासी (Commensals) कहलाते हैं। अधिक संख्य जीवाणु सृष्टिचक्र में बहुत ही लाभदायक होते हैं। इनके द्वारा दूध से दही पनीर इत्यादि बनना, गन्ने के या द्राक्षा के रस से मद्य का बनना, मैले से खाद का बनना, मृत शरीरों को मिट्टी के साथ मिला देना, वातावरण से नैट्रोजन ग्रहण करके उससे पौधों के लिये खाद बनाना इत्यादि अनंत आवश्यक क्रियाएँ बनती हैं और विशिष्ट क्रियाओं के अनुसार जीवाणुओं के नाम भी दिये जाते हैं। जीवाणु जो केवल-मृतशरीरों पर या सड़े गले सन्द्रिय द्रव्यों पर अपना निर्वाह करते और जीवधारियों से प्रायः दूर रहते हैं मृत्युपजीवी (Saprophytes) कहलाते हैं। जो नैट्रोजन से खाद बनाते हैं वे नैट्रोबैक्टर (Nitro-bactor) कहलाते हैं। कुछ जीवाणु रोग भी

उत्पन्न करते हैं वे विकारी (Pathogenic) कहलाते हैं। ये अपना निर्वाह अन्य जीवधारियों के ऊपर करते हैं इसलिये परोपजीवी (Parasites) भी कहलाते हैं। सहवासी जीवाणुओं में कुछ ऐसे होते हैं कि कदापि भी विकार उत्पन्न नहीं करते। परन्तु दूसरे ऐसे होते हैं कि अनुकूल अवसर मिलने पर या अपने नियत स्थान से दूसरे स्थान में प्रविष्ट होने पर विकार उत्पन्न करते हैं। ये अवसरग्राही (Opportunist) या समान्य विकारी (Facultative Pathogens) कहलाते हैं। इसके मुख्य उदाहरण ई० कोलाय और स्ट्रेप्टोकोकाय हैं। कुछ वास्तविक विकारी जीवाणु कभी कभी सहवासी स्वरूप के पाये शरीर में रहते हुए भी रोग न उत्पन्न करनेवाले होते हैं। विकारी जीवाणुओं की यह स्थिति वाहकों (Carriers) में दिखाई देती है। सब विकारी जीवाणु सब जाति के प्राणियों में रोग उत्पन्न नहीं कर सकते। कुछ मनुष्येतर प्राणियों में, कुछ केवल मनुष्यों में और कुछ दोनों में रोग उत्पन्न कर सकते हैं। मनुष्य वैद्यकान्तर्गत जीवाणु विज्ञान में केवल अन्तिम दो प्रकार के जीवाणुओं का विचार किया जाता है।

वर्गीकरण (Classification)—विकारी और सहवासी जीवाणुओं के मुख्यतया निम्न मोटे मोटे वर्ग किये जाते हैं।

(१) तृणाणु (Bacteria)—ये वनस्पति वर्ग के अत्यंत सूक्ष्म जीव माने जाते हैं। इनको निम्नश्रेणी के तृणाणु (Eubacteria) भी कहते हैं। यद्यपि ये वनस्पति विभाग में समाविष्ट किये गये हैं तथापि इनमें हरितक (Chlorophyll, वनस्पतियों की पत्तियों में होनेवाला एक हरे रंग का पदार्थ) नहीं होता। ये केवल एक सैल के होकर आकार में गोल, लम्बे या टेढ़े होते हैं। इनके शरीर में केन्द्र नहीं होता। संख्यावृद्धि पक्की तरी के साथ लंबाई या चौड़ाई के दो टुकड़े फटजाने से होती है। कुछ गति-युक्त या चलक होते हैं और कुछ प्रतिकूल परिस्थिति में स्पोर (Spore) जैसे प्रतिकारक रूप धारण कर सकते हैं।

तृणाणुओं का दूसरा एक विभाग कुछ उच्चश्रेणी का होता है। इस विभाग को (Chlamydobacteria) कहते हैं। इसके तृणाणु तन्तुयुक्त और आकसदृश होते हैं। निम्न श्रेणी के तृणाणु और छत्रकाणु इनको जोड़नेवाली यह कड़ी मानी जाती हैं। इसका उदाहरण अङ्कुरापाद का जीवाणु (Actinomyces) है।

(२) छत्रकाणु (Fungus)—इनके दो विभाग किये गये हैं। प्रथम विभाग के जीवाणु अनेक सेलीय, तन्तुआकसदृश (mycelium) होकर स्पोरों द्वारा संख्यावृद्धि करते हैं। ये हैफोमैसीट या मोल्ड (Hyphomycetes, mould) कहलाते हैं। (२) दूसरे विभाग के जीवाणु एक सेल के कुछ लम्बोतरे होकर अंकुरों (Budding) से बढ़ते हैं। ये किण्व (Yeast, Blastomycetes) कहलाते हैं।

(३) कीटाणु (Protozoa)—ये प्राणि विभाग के अत्यन्त सूक्ष्म जीव माने जाते हैं। ये तृणाणु के समान एक सेल के ही होते हैं, परन्तु इनमें केन्द्र स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ये आकार में गोल या बहुत लंबे तथा प्रायः गतियुक्त होते हैं। संख्या-वृद्धि विभजन, स्पोरोत्पत्ति या मैथुन से होती है। इनका मिश्रित जीवन चक्र होता है और कई कीटाणुओं में इसके लिये दो स्वतन्त्र प्राणियों की आवश्यकता होती है। कुछ कीटाणु प्रतिकूल परिस्थिति में प्रतिकारक सिस्ट (Cysts) बनाते हैं।

(४) सूक्ष्म दर्शकातीत (Ultra microscopic)—उपर्युक्त तीनों प्रकार के जीवाणु सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी जीवाणु विद्यमान हैं कि जो सूक्ष्मदर्शक से दिखाई नहीं देते। य सूक्ष्मदर्शकातीत या अतिसूक्ष्म कहलाते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म निस्यन्दकों (Filters) से छनकर बाहर निकल जाते हैं इसलिये निस्यन्दनशील (Filterable) कहलाते हैं। ये अदृश्य होने के कारण इनके शरीरादि का ज्ञान असंभव है। कार्य की दृष्टि से इस वर्ग के

जीवाणु विषाणु (Virus) कहलाते हैं। इनका समावेश तृणाणु या कीटाणु वर्ग में नहीं किया जाता है।

परिमाण (Size)—जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उनके शरीर-मापन के लिये जो मानदण्ड नियत किया गया है वह अत्यन्त सूक्ष्म है और उसे मैक्रोन (संक्षेप-म्यू) कहते हैं। इसकी लम्बाई एक मिलीमीटर का १/१००० भाग या एक इंच का १/२५००० भाग होती है। इसका अर्थ यह है कि जो जीवाणु एक म्यू लंबा है उसके २५००० जीवाणु एक सीध में पास पास रक्खे जायें तो वे एक इंच लंबा स्थान घेर लेंगे। परिमाण की दृष्टि से सूक्ष्मदर्शकातीतों के संबंध में कहना बेकार है। तृणाणु साधारणतया कीटाणुओं की अपेक्षा परिमाण में छोटे होते हैं। सबसे छोटा विकारी तृणाणु बै० पुष्पसुपन्था का है जिसकी चौड़ाई ½ म्यू और लंबाई ½ म्यू है। विकारी कीटाणुओं में सबसे छोटा काला आजार का कीटाणु है जिसकी चौड़ाई १½ से दो म्यू और लंबाई २ ३ म्यू होती है।

प्रभाव—विकारी जीवाणुओं से भीषण स्वरूप के असंख्य संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं जो प्रतिवर्ष असंख्य प्राणियों का संहार किया करते हैं तथा असंख्य प्राणियों को सदा के लिए या अल्प काल के लिये दुर्बल बनाकर उनका जीवन संकटमय बनाते हैं। इनमें तृणाणुओं तथा सूक्ष्मदर्शकातीतों द्वारा होनेवाले रोग संख्या में बहुत शीघ्र फैलनेवाले, भयानक और संसारव्यापी होते हैं। कीटाणुओं द्वारा होनेवाले रोग संख्या में मध्यम, चिरकालीन स्वरूप के, धीरे धीरे फैलनेवाले और क्वचक मंद या समशीतोष्ण कटिबंधव्यापी होते हैं। कवकाणुओं द्वारा होनेवाले रोग संख्या में अत्यन्त अल्प और क्षुद्र स्वरूप के होते हैं।

आज कल जीवाणु संबंधी ज्ञान इतना बढ़ गया है कि प्रत्येक विभाग का एक स्वतन्त्र शास्त्र बन गया है। जिस विभाग में तृणाणुओं का विचार किया जाता है उसको तृणाणु विज्ञान (Bacteriology) जिसमें कीटाणुओं का विवेचन किया जाता है उसको कीटाणु विज्ञान (Protoz-

oology) और जिसमें छत्रकाणुओं का विवेचन किया जाता है उसको छत्रकाणु विज्ञान (Mycology) कहते हैं। यह सब होते हुए भी तृणाणुओं का क्षेत्र बहुत व्यापक होने के कारण बैक्टेरिओलोजी की पुस्तक में तृणाणुओं के अतिरिक्त अन्य सब विकारी जीवाणुओं का समावेश किया जाता है।

परोपजीवियों का वंशयुक्त
चेतन सृष्टि
प्राणी
वनस्पति
अतिसूक्ष्म
अनेक सेलीय
एक सेलीय
थ्यालोफैटा
(स्कंधशाखा रहित)
कृमि
कीट
कीटाणु
सार्कोडीना
स्पोरोजुआ
फ्लाजेलेटा
इन्फ्यूजोरिआ
फंगस (हरितक रहित)
एक सेलीय
अनेक सेलीय
स्पोर से वृद्धि
मोल्ड
अंकुरों से वृद्धि
विभजन से वृद्धि
यीस्ट (किण्व)
तृणाणु
उच्च श्रेणी के
निम्न श्रेणी के
एक्टिनोमाइसीस
कोकाय
बेसीलाय
स्पैरीलाय
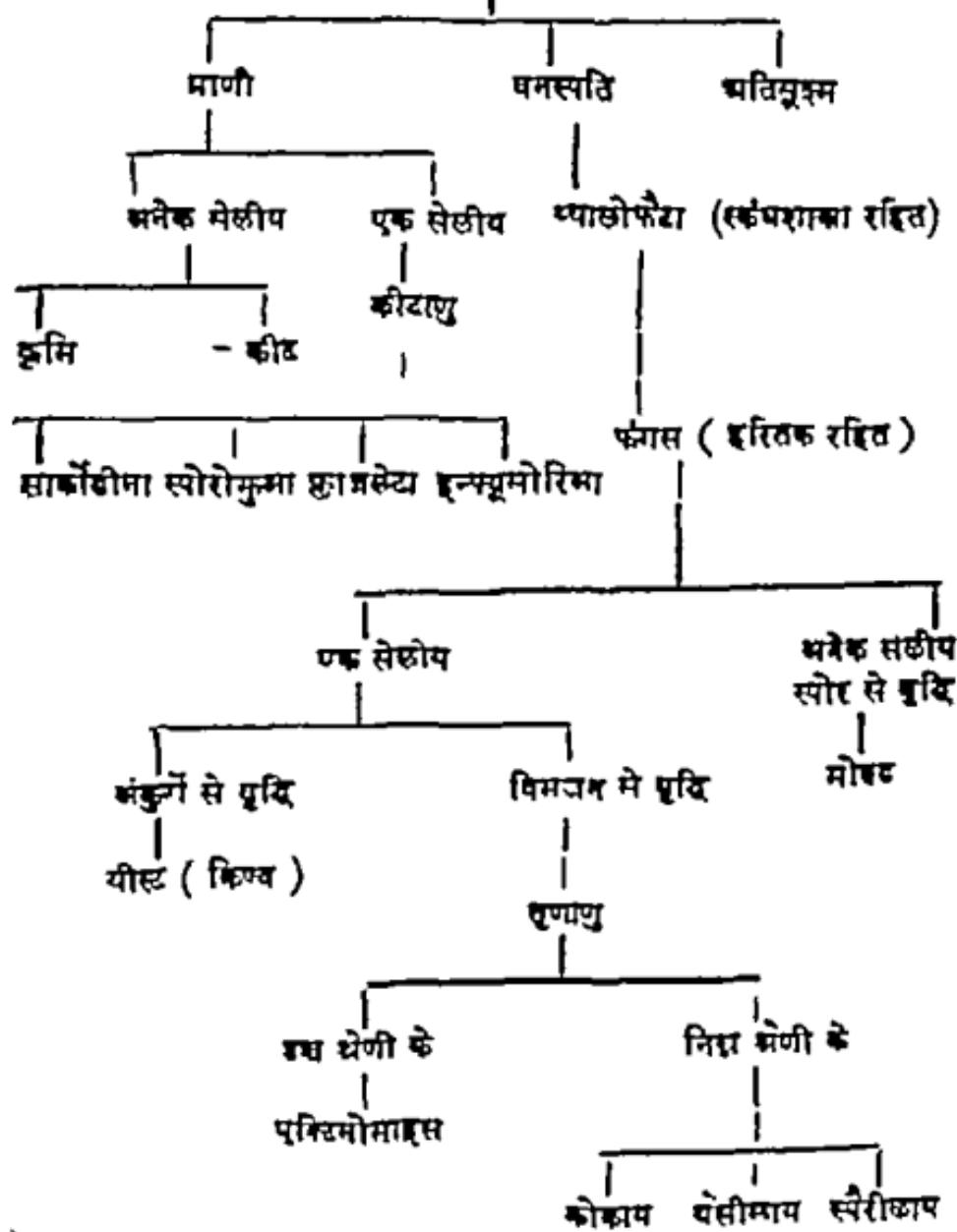
तृणाणु वासस्थान (Habitat)

तृणाणु सर्वव्यापी होने के कारण वायु जल, भूमि तथा प्राणियों के शरीर पर कहीं अधिक कहीं कम, कभी अधिक कभी कम संख्यामें मिलते हैं। इनमें विकारी और अविकारी दोनों प्रकार के उपस्थित रहते हैं।

भूमि—भूमि के उपरितम भाग में इनकी संख्या बहुत अधिक होती है और पाँच छ फुट गहराई के पश्चात् कम होती है। नीचे के भाग में धातमी स्वरूप के होते हैं। भूमि में होने वाले तृणाणु अधिकतर पुरयुप जीवी होते हैं जो सेन्द्रिय पदार्थों में सड़न उत्पन्न करके उनका नाश करते हैं। इनके अतिरिक्त स्यूडोमोनस नैट्रोबैक्टर इत्यादि मत्रीकरण क्रिया करने वाले अन्य प्रकार के भी होते हैं। इन अविकारियों के अतिरिक्त भूमि में विकारी स्वरूप के भी अनेक तृणाणु मिलते हैं यद्यपि भूमि इनके लिये अनुकूल स्थान नहीं होता तथा पुरयुपजीवियों द्वारा इनका नाश किया जाता है। ये समय समय पर उपसृष्ट रोगियों के मलमूत्रादि के साथ भूमि में पहुँच जाते हैं। विकारियों में निम्न प्रधान हैं—धूमजनक कोकाय, क्षय, कुष्ठ पेम्याक्स, धनुर्वात अतीसार विषु चिका, आन्त्रिकज्वर, एन्फ्लुएन्जा, दुष्टशोथ वातिककोथ के वैसीलाय।

जल—जल में भी अनेक तृणाणु उपस्थित रहते हैं। इनके तीन विभाग कर सकते हैं। (१) स्वाभाविक जल तृणाणु (Waterbacerita) ये अविकारी होते हैं। (२) भूमितृणाणु (Soilbacteria) ये वर्षा के कारण भूमि से बहकर पानी में मिलते हैं या जब जोर की हवा चलती है तब धूलि के साथ उड़कर पानी में मिलते हैं। (३) मोरी परनाले के (Sewage) तृणाणु, ये विकारी होते हैं। इनमें निम्न प्रधान है—विषुचिका, अतीसार, आन्त्रिकज्वर के वैसीलाय। इनके अतिरिक्त भूमि में मिलने वाले अन्य सब तृणाणु पानी में मिल सकते हैं।

वायुमण्डल— रोगाणु वायुमण्डल में भी होते हैं। इनकी संख्या ऋतु, स्थान और वायु प्रवाह पर न्यूनाधिक हुआ करती है। ग्रीष्म ऋतु में शरद् तथा हेमन्त ऋतु की अपेक्षा अधिक होते हैं। खूब पानी बरसने के बाद इनकी संख्या वायुमण्डल से कम हो जाती है। जोर से हवा चलने पर इनकी संख्या बढ़ती है। जिस स्थान पर मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की बस्ती होती है उस स्थान के वायुमण्डल में अन्य स्थान की अपेक्षा इनकी संख्या अधिक होती है। वायुमण्डल में विकारी तथा अविकारी दोनों रहते हैं। विकारियों में निम्न प्रधान हैं।

सामान्य पूयजनक कोकाय; राजयक्ष्मा, धनुस्तम्भ, आन्त्रावस, आंत्रिक ज्वर इन्फ्लुएन्ज़ा, रोहिणी के बैसीलाय।

प्राणियों का शरीर—प्राणियों की त्वचा पर विशेष करके मलों में तथा अतिक्लेदयुक्त भागों पर जीवाणु सदैव उपस्थित होते हैं। महास्रोत में विशेष करके मुख, गला तथा आंत्र में इनकी संख्या पर्याप्त होती है। आमाशय में अम्ल के प्रभाव से इनकी संख्या बहुत कम होती है। श्वसनसंस्थान में नासापश्चिम भाग प्रसनिका तथा मोटी-मोटी श्वासा-नलिकाओं में जीवाणु होते हैं। स्वस्थावस्था में वायुकोष तथा सूक्ष्मश्वास नलिकाओं में ये नहीं मिलते हैं। बाह्य गुह्यांगों में ये होते हैं। शरीर पर रहने वाले ये सहवासी (Commensals) कहलाते हैं।

सहवासियों में विकारी तथा अविकारी दोनों प्रकार के उपस्थित रहते हैं। विकारी क्वचित् मनुष्यों के मुख, नासा और महास्रोत में निवास करते हुए भी रोग उत्पन्न नहीं करते हैं पर उनका उत्सर्ग शरीर छिद्रों से सदैव होता है जिससे अन्य लोग रोग से पीड़ित हो जाते हैं। शरीर के भीतर रहने की यह अवस्था 'वाहकावस्था' (Carrierstage) कहलाती है और जिस मनुष्य के शरीर मे जीवाणु निकल जाते हैं यह मनुष्य 'वाहक' (Carrier) कहलाता है। यह अवस्था विशेष करके आंत्रिक रोहिणी, विसूचिका इत्यादि के बैसीलाय के सम्बन्ध में देखने में

जाती है। जीवाणु रोगावस्था के सिवाय शरीर के अभ्यन्तरीय धातु तथा रसादि में नहीं पाये जाते।

अविकारियों में तो कुछ निश्चित अविकारी होते हैं परंतु दूसरे ऐसे होते हैं कि जो मौका मिलने पर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। ये सम्भाव्य विकारी कहलाते हैं। जैसे, बे कोकाय जब तक आन्त्र में ही रहते हैं तब तक अविकारी हैं, परंतु जब मूत्र-प्रजनन संस्थान में प्रविष्ट होते हैं तब मूत्राशय तथा अन्य स्थानों में शोथ और विद्रधि उत्पन्न करते हैं। वैसे ही स्ट्रेप्टोकोकाय जब तक मुख में ही रहते हैं तब तक अविकारी हैं परन्तु जब रक्त में पहुँच जाते हैं तब हृदय सन्धि इत्यादि स्थानों में शोथ उत्पन्न करते हैं। नीचे मनुष्यों के सहवासियों के नाम दिये जाते हैं—त्वचा—स्टाफिलोकोकाय, रोहिणीसम बैसीलाय और एक्न-बैसीलाय।

महास्रोत—स्टाफिलोकोकाय, स्ट्रेप्टोकोकाय, चक्राणु, लैक्टो-बैसीलाय प्न्टरो कोकाय सार्सीनी, ये कोकाय, यीस्ट, धनुर्वात के बैसीलाय इत्यादि।

श्वसनसंस्थान—स्टाफिलोकोकाय, रोहिणीसमबैसीलाय, मैक्रो-कोकस क्याराफ़िस, न्युमोकोकाय स्ट्रेप्टोकोकाय, एफ्लुएन्जा बैसीलाय,

प्रजननसंस्थान—स्ट्रेप्टोकोकाय, स्टाफिलोकोकाय, रोहिणीसम, वे स्मेग्मा, चक्राणु डोडरलेन्स बै बे कोकाय, फ्यूसीफार्म बै

नेत्र—स्टाफिलोकोकाय बै ज़ेरोसिस

कर्ण—स्टाफिलोकोकाय, रोहिणीसम बैसीलाय

तृणाणु शारीर (Morphology)

आकार (Shape)—तृणाणुओं में कई आकार दिखाई देते हैं और आकार के अनुसार उनके निम्न तीन वर्ग किये गये हैं।

(१) कोकाय (Cocci)—ये बिंदु या सरसों के आकार के

गोल-गोल या कुछ लंबोतरे बीज होते हैं। लम्बाई और चौड़ाई में इनका व्यास प्राय समान होता है। मोटाई प्राय १ म्यू के करीब होती है। कुछ कोकाय कोषयुक्त, कुछ आकार में भाले की नोक के समान त्रिकोणाकृति और कुछ सेम के बीज के समान चपटे होते हैं। इनके पहचान में ग्राम का रंग विशेष महत्व रखता है। इनमें आपस में इकट्ठे रहने की प्रवृत्ति अधिक होती है। (पृष्ठ १४ पर संघात देखो।)

(२) दंडीलाय (Bacilli)—ये सलाई के समान लंबेबीज हैं। कुछ चौकूंटे और कुछ गदाकार भी होते हैं। इनकी लंबाई चौड़ाई से दुगुनी या उससे अधिक होती है।

(३) स्पैरीलाय (Spirillae)—ये कुछ टेढ़े या मुड़े हुए होते हैं। जब एक स्थान में वक्रता होती है तब ये वक्राणु (Vibrio) कहलाते हैं; जैसे—विसूचिका वक्राणु। जब चक्राकार वक्रताएँ होती हैं तब उसको चक्राणु (Spirochaete) कहते हैं। ये सब गति युक्त या चपल होते हैं। ये लम्बाई में भी बहुत अधिक होते हैं।

शरीर-रचना (Structure)—अरंजित अवस्था में सब तृणाणु पारदशक, प्रकाश परावर्तक, वर्णहीन और एक द्रव्य के बने हुए दिखाई देते हैं। रंजन करने पर उनकी रचना स्पष्ट रूप म दिखाई देती है।

आवरण (Membrane)—यह इनका बाहर का भाग है जो त्वचा के समान इनके चारों ओर रहता है। यह आवरण प्रवश्य स्रस्य (Permeable) का होता है जिसमें से होकर भीतर के द्रव बाहर और बाहर के द्रव भीतर आ सकते हैं। क्षय और कुष्ठ के तृणाणुओं का आवरण चर्बीयुक्त द्रव्य (Lipoidal, fatty) का होता है। आगे जील नील सेन की रञ्जन विधि देखो।

कोष—(Capsule) कुछ तृणाणु आवरणके बाहर एक दूसरा भी आवरण कभी कभी बनाते हैं। इसकी मोटाई भिन्न-भिन्न परिस्थिति में भिन्न भिन्न होती है। इस बाह्यावरण को कोष कहते हैं। यह कोष

आवरण से निकले हुए स्राव (Secretion) से बनता है ऐसा माना जाता है। सब तृणाणु कोष बना सकते हैं, परन्तु कुछ जातियों में यह शक्ति अधिक देखी जाती है जैसे—न्यूमोकोकस, न्यूमो बैसीलस, वे परिफ्रोजीनस कैप्सुलेटस। ये प्राणियोंके शरीर में कोष बनाते हैं, कृत्रिमवधनद्रव्य में वर्धित व ही कोषविहीन होते हैं। कोष शरीर-रक्षा का एक साधन होता है। इसलिये कोषयुक्त तृणाणु अधिक उग्र तथा अधिक विकारी होते हैं (आगे न्यूमोकोकस में कोष देखो) ये कोष साधारण रंग द्रव्य से रंजित नहीं होते विशेष रंगों का उपयोग करना पड़ता है। साधारण रंगों का उपयोग करने पर कोष का स्थान आवरण के बाहर एक अरंजित वलयके रूप में दिखाई देता है।

केन्द्र (Nucleus)—तृणाणुओं के शरीर में केन्द्र स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। केन्द्र होता है इसके संबंध में संशय नहीं है, किन्तु किस रूप में होता है इसमें मत भिन्नता है। कुछ लोगों का मत है कि केन्द्र द्रव्य संपूर्ण शरीर में सूक्ष्म कणों के रूप में फैला हुआ रहता है और दूसरों का यह मत है कि इसको प्रत्यक्ष करने की विधि अभी तक हमें उपलब्ध नहीं हुई है। जो भी हो कुछ तृणाणुओं के शरीर में केन्द्र द्रव्य के समान द्रव्य (Nucleo protein) के कण विशिष्ट स्थानों पर दिखाई देते हैं और उनके पहचान में सहायता होती है। जैसे कि डिफ्थीरिया (रोहिणी) के शरीर में मिलनेवाले कण (Meta chromatic granules) आगे रंजन विधि भी देखो)।

स्पोर (Spore)—तृणाणुओं की यह विश्रब्धावस्था है। इसमें संख्यावृद्धि का काम नहीं होता। जब प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होती है तब शरीर-रक्षा तथा जाति-रक्षा के लिये यह स्वरूप धारण किया जाता है। सबमें यह शक्ति नहीं है। केवल बैसीलस वर्ग के कुछ जातियों में यह शक्ति दिखाई देती है। जैसे टेटानस और धनुर्वात का बैसीलस। प्रत्येक शरीर में केवल एक ही स्पोर होता है, उसका

आकार गोल या कुछ अंडगोल होता है और प्रत्येक जाति में उसका स्थान निश्चित रहता है। स्पोर की मोटाई शरीर से कुछ अधिक होती है। उपर्युक्त कारणों से स्पोरयुक्त शरीर में कुछ वैशिष्ट्य आ जाता है और उससे पहचानने में सहायता होती है। जब स्पोर शरीर मध्य में होता है तब मध्यम (Equatorial) कहलाता है; जैसे बै एन्थ्राक्स। जब स्पोर अन्त में होता है तब अन्तिम (Terminal) कहलाता है; जैसे, बै टेटानी (धनुर्वात)। जब स्पोर अन्त में न होकर कुछ भीतर की ओर होता है तब उपान्तिम (Subterminal) कहलाता है, जैसे बै स्पोरो जीनस। वायवी (Aaerobic) वर्ग को छोड़कर अन्य वर्ग के जीवाणु प्राणियों के शरीर में स्पोर उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिये धनुर्वात और दुष्टव्रणिक कोथ (Gas gangrene) के बैसीलाय को छोड़कर अन्य बैसीलाय के स्पोर प्राणियों के शरीर में नहीं दिखाई देते। साधारण रंगों से स्पोर रंजित नहीं होते उसके लिये विशेष रंगों की आवश्यकता होती है। इसलिये जब साधारण रंगोंसे स्पोरयुक्त बैसीलाय रंजित किये जाते हैं तब स्पोर का स्थान अरंजित रहता है और उसी से स्पोर की कल्पना की जाती है।

बैसीलाय औद्भिद अवस्था की (Vegetative stage) अपेक्षा स्पोर की अवस्था में उष्णता तथा जंतुघ्न द्रव्यों के साथ मुकाबला अधिक सफलता से कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि स्पोर का आवरण अधिक मोटा तथा प्रतिकारक होता है और उसमें जलांश कम रहता है। आगे बै० एन्थ्राक्स और टैट्यानी देखो।

जब अनुकूल परिस्थिति आती है तब स्पोरों से पुनः बैसीलाय उत्पन्न होने लगते हैं। प्रथम स्पोरों की चमक नष्ट होकर वे लम्बे होने लगते हैं। पश्चात भीतर के बैसीलाय आवरण का अन्त में या मध्य में तोड़कर बाहर निकल आते हैं। इसको स्पोरोद्भेद (Germination of spores) कहते हैं।

तन्तु पिच्छ (Flagella)—ये संकोचनशील तंत्वाकार अवयव हैं जो तृणाणुओं के शरीर पर अनेक प्रकार से लगे रहते हैं। ये शरीर से बहुत ही पतले परंतु लंबे होते हैं। यह अवयव जिवाणु का ही शरीर बाह्य शेष भाग माना जाता है। इनका दर्शन करने के लिये विशेष रंगों का उपयोग करना पड़ता है। तन्तु पिच्छ गति प्रवर्तक अवयव है। इसके कारण गति उत्पन्न होती है। अर्थात् जिनमें यह अवयव नहीं होता वे गति विहीन होते हैं; जैसे, कोकाय वर्ग। जिनमें यह अवयव होता है वे गतियुक्त होते हैं; जैसे, आन्त्रिक ज्वर वर्ग, धनुस्तम्भ, विसूचिका और मूषिक दंश ज्वर के तृणाणु। चक्राणु तन्तु पिच्छ रहित होने पर भी चंचल होते हैं। ये तन्तुपिच्छ अनेक प्रकार से शरीर पर लगे रहते हैं और प्रत्येक जाति में उनके लगने का तरीका निश्चित होता है। इसके अनुसार चार प्रकार होते हैं। (१) शरीर के एक अन्त में केवल एक ही तन्तुपिच्छ का होना; जैसे—विसूचिका भक्षाणु। (२) दोनों तरफ एक-एक तन्तुपिच्छ का होना। (३) एक या दोनों तरफ तन्तुपिच्छों का गुच्छा होना; जैसे—मूषिकदंश ज्वर का स्पैरिलिम्। (४) भालू की तरह संपूर्ण शरीर पर अनेक तन्तुपिच्छों का होना; जैसे—आन्त्रिक ज्वर और धनुर्वात के दंसीकाय।

अपचयाकार (Involution forms)—जब जीवन के लिये आवश्यक परिस्थिति में प्रतिकूलता उत्पन्न होती है तब तृणाणुओं की संख्या-वृद्धि रुक जाती है रंग ग्रहण शक्ति तथा रोगोत्पादन शक्ति घट जाती है और उनकी स्वाभाविक आकृति जिसके द्वारा उनकी पहचान होती है बदल जाती है। इस अवस्था में ये काफी मोटे और भद्दे दिखाई देते हैं। इस प्रकार के आकार अपचयाकार कहलाते हैं। प्रायः पुराने संवर्धन द्रव्य में इस प्रकार के आकार दिखाई देते हैं। आर्थोस्पोर (Arthrospore) करके स्पोर का जो एक प्रकार बताया जाता है वह वास्तव में स्पोर का प्रकार न होकर अपचयाकार का ही एक प्रकार

है। रोहिणी, प्लेग के बैसीलाय में तथा मेनिंगोकोकस में अरण्याकार अधिक दिखाई देते हैं।

सख्यावृद्धि (Reproduction)—इसमें भी पुरुष का कोई भेद नहीं होता। अतः एक ही व्यक्ति अपने शरीर से अनेक व्यक्तियों को उत्पन्न करती है। उचित खाद्य द्रव्यों से पुष्ट हुई व्यक्ति प्रथम शरीरमध्य में कुछ संकुचित होकर पश्चात् उसी स्थान में दो भागों में विभक्त होती है। इस प्रकार एक से दो दो से चार चार से आठ यह सिलसिला तबतक जारी रहता है जबतक भोजन तथा जीवन के लिये अन्य आवश्यक सामग्री मिलता रहती है। इस संख्या-वृद्धि की पद्धति को द्विधाविभजन (Binary fission)—कहते हैं। कोकाय में विभजन अनेक दिशाओं में और बैसीलाय तथा स्पैरिलाय में केवल एक ही दिशा में होता है। विभजन का काम सामान्यतः आधे घंटे में एक बार होता है। कभी इसमें कुछ कम समय में कभी कुछ अधिक समय में। यदि आधे घण्टे में एक दो बनें तो हिसाब लगाने से मालूम होगा कि २४ घण्टों में एक व्यक्ति से अनेक पद्म के लगभग जीव बन जायँगे। तथापि साधारणतः इस तेज़ी से तृणाणु नहीं बढ़ने पाते। क्योंकि कभी भोजन मिलता है कभी नहीं; कभी जल मिलता है, कभी नहीं; कभी उष्णता अधिक होती है कभी शीत; कभी उनके वैरी उन्हीं के साथ रहते हैं जो कुछ को खा जाते हैं और प्रायः उनके शरीर से जो विष बनता है वह भी उनकी वृद्धि में कुछ रुकावट डालता है। इस तरह उनकी वृद्धि में कई बाधाएँ उपस्थित रहा करती हैं जिनके कारण वे तेज़ी से बढ़ने नहीं पाते, यदि ऐसा न होता तो संसार भर में वे ही वे दिखाई देते, अन्य जीवों का रहना असम्भव हो जाता।

तृणाणु संवास (Arrangement)—विभजन के पश्चात् भी कुछ काल तक कुछ व्यक्तियों में आपस में इकट्ठे रहने की प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति गोल तृणाणुओं में अधिक दिखाई देती है। इसके अति

रिक इनमें विभजन अनेक दिशाओं में होने के कारण इनके संघात बहुत प्रकार के होते हैं और ये इनकी पहचान में बहुत सहायता करते हैं। कोकाय—१ स्ट्रेप्टो कोकाय (Streptococci) इसमें विभजन एक दिशा में होकर अनेक कोकाय माला के रूप में आपस में मिले रहते हैं। यह माला छोटी या लम्बी होती है। (२) डिप्लोकोकाय (Diplococci)—इसमें भी विभजन एक ही दिशा में होता है परंतु केवल दो दो कोकाय इकट्ठे रहते हैं। जैसे, न्युमोकोकस, गोनोकोकस, मेनिंगो कोकस। (३) टेट्रा कोकस (Tetracocci)—इसमें विभजन दो दिशाओं में ९० अंश का कोण करके होता है इसलिये चार चार कोकाय एक साथ (चतुष्ट) मिलते हैं। (४) सार्सीना (Sarcinae)—इसमें विभजन तीन दिशाओं में होने से कोकाय का स्वरूप घन (Cube) के समान होता है। (५) स्टाफिलो कोकाय (Staphylo cocci)—इसमें विभजन विषम दिशा में होकर अनेक कोकाय द्राक्षागुच्छ सदृश इकट्ठे होते हैं।

बेसीलाय—इनमें आपस में मिले हुए रहने की प्रवृत्ति बहुत ही कम होने के कारण ये प्रायः अकेले दिखाई देते हैं। तथापि कुछ बेसीलाय में इकट्ठे रहने की भी प्रवृत्ति होती है। जैसे ऐन्थ्राक्स के बेसीलाय माला की भाँति इकट्ठे रहते हैं। न्यूमोबेसीलाय, कोकबेकले तथा मोरे ऐक्सन्फेल्ड (ये दोनों आँखों में मिलते हैं) के बेसीलाय दो दो इकट्ठे रहते हैं।

स्पैरीलाय—ये प्रायः अकेले रहते हैं। कभी कभी लम्बाई में ये आपस में मिले रहते हैं। जैसे विसूचिका के दो वक्राणु आपस में मिलने पर एस् (S) के समान और अनेक मिलने पर चक्राणु के समान दिखाई देते हैं।

तृणाणुरजन विधियाँ (Staining methods)

रंगग्रहण शक्ति—तृणाणु प्रकाश परावर्तक होने के कारण अरंजित अवस्था में सांधकार पार्श्व प्रकाशन (Dark ground illumination) के समान विशिष्ट पद्धतिका प्रयोग किये बिना भली भाँति दिखाई नहीं देते । इसलिये उनके शरीर समुचित रूप से देखने के लिये रंगों का उपयोग आवश्यक होता है। ये रंग प्रायः क्षारीय नील रंग (Aniline dyes) होते हैं। कुछ तृणाणु आसानी से रंग ग्रहण करते हैं और कुछ रंग पटानेवाले द्रव्यों (Mordant) और साधनों के उपयोग से ही रंग ग्रहण करते हैं अन्यथा नहीं। इनके अतिरिक्त कुछ तृणाणुओं में या उनके कुछ वर्गों में रंग ग्रहण करने की विशिष्टता भी होती है। रंजन तृणाणुओं के पहचान में तथा उनके वर्गीकरण में बहुत ही सहायक विधि होती है। रङ्ग कई प्रकार के होते हैं, परन्तु उनमें निम्न चार प्रकार विशेष महत्व के हैं (१) साधारण (Ordinary)—ये एक रङ्ग द्रव्य के होते हैं और शीघ्रातिशीघ्र शरीर परिज्ञान के लिये बहुत अच्छे हैं —जैसे, मेथिलन ब्लू, मेथिल वायोलेट सैफ्रनिन, इओसिन पिक्रिक एसिड इत्यादि। इनमें लोफ्लस मेथिलेनब्लू या मेथिलेनब्लू व्यवहार में अधिक काम में लाया जाता है।

(२) पार्थक्यकर (Differential) रङ्ग—इनका उपयोग शरीर रचना की अपेक्षा एक वर्ग की भिन्नता दूसरे वर्ग से करने के लिये किया जाता है। इनमें ग्राम का रङ्ग और जीलनीलसेन का रङ्ग महत्व के हैं।

(३) विशेष रंग (Special)—इनका उपयोग शरीर के विशिष्ट अङ्ग, जो साधारण रञ्जन पद्धति से नहीं दिखाई देते देखने के लिये किया जाता है। जैसे स्पोर, सम्पुटिका, कोप इत्यादि के रङ्ग।

( ) संयुक्त रंग (Compound)—इनमें दो या अधिक रंग

मेथिलेनब्लू और इओसिन मिलाये हुए रहते हैं। इनका उपयोग कीटाणुओं के लिये होता है। इनमें लीशमन, जीम्सा, प्रधान हैं।

रंजन करने पर सब तृणाणु एक से रंजित नहीं होते, उनमें निम्न प्रकार दिखाई देते हैं। (१) सम रंजन (Uniform)—इसमें संपूर्ण शरीर एक सा रंजित होता है। जैसे, आन्त्रिक ज्वर वर्ग के बैसीलाय। (२) प्रांत रंजन (Bi polar)—इसमें शरीर के दो अन्तिम भाग मध्यर्पेण रंजित होते हैं। जैसे, प्लेग का बैसीलस। (३) मालाकार (Beaded) रंजन—इसमें शरीर विषम रूप से रंजित होने के कारण वह मालाकार दिखाई देता है। जैसे,—क्षय का बैसीलस। (४) दानेदार (Metachromatic) रंजन—इसमें शरीर के कुछ भागों में अधिक रंग ग्रहण की शक्ति होने के कारण वे बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैसे, रोहिणी का बैसीलस।

ग्राम का रंजन (Gram's stain)—इसके लिये निम्न चार द्रव्यों की आवश्यकता होती है। (१) ग्राम का रंग—यह बैंगनी होता है और मैथिल, जैनशन या क्रिस्टल वायोलेट आधे से एक ग्राम सो सी सी तियक पातित पानी में विद्रुत करके और पश्चात् छान करके बनाया जाता है। (२) रंग चढ़ाने का द्रव (Mordant)—इसमें आयोडिन १ ग्राम, पोटासियम आयोडाइड दो ग्राम और ति पातितजल ३०० सी सी होता है। (३) विरंजन द्रव (Decolorising agent) इसके लिये अल्कोहोल या एसीटोन का उपयोग किया जाता है। (४) विरोधी रंग (Counter stain) इसके लिये सैफ्रानिन (½ ग्राम ति जल १०० सी सी) या न्यूट्रलरेड (१ ग्राम, एसेटिक एसिड १ प्र श का २ सी सी और ति पा जल १००० सी सी) या कार्बोल फ्यूक्शीन (जीलनील सेन का रंग १५-२० गुना पानी से पतला किया हुआ) व्यवहार में लाया जाता है।

रंजन विधि—प्रथम कांच की पटरी के प्रलेप को पत्तो पर

मंदोष्णता से शुष्क करके उसके ठंडे होने पर उसपर ग्राम का बैंगनी रंग छोड़कर आधे से १ मिनिट रखना चाहिये। पश्चात् ग्राम के आयोडिन से उस रंग को धोकर फिर आयोडिन को उसपर १-२ मिनिट रखना चाहिये। पश्चात् अल्कोहोल की पाँच छः बूँदें प्रत्येक समय उसपर छोड़ प्रलेप को विरंजित करना चाहिये। यह विरंजन का काम तबतक करते रहना चाहिये जबतक प्रलेप से बैंगनी रंग छूटता रहे। उसके पश्चात् सैफ्रानिन या फ्युक्सीन उसपर छोड़कर एक मिनिट तक रखना चाहिये। अन्त में पटरी को पानी से धोकर और सुखाकर सूक्ष्मदर्शक से देखना चाहिये।

सावधानता—इस रंजन विधि में सफलता प्राप्त होने के लिये निम्न बातों पर बहुत ध्यान देना आवश्यक है। (१) पटरी का प्रलेप एक सा और पतला होना चाहिये। कहीं पतला, कहीं मोटा प्रलेप होने से विरंजन का काम विषम हो जाता है। (२) समय की तरफ ध्यान रखना चाहिये। इस दृष्टि से एक समय एक ही पटरी का रंजन करना उचित है। अनेक पटरियों का रंजन एक साथ करने का कार्य करते समय प्रत्येक पटरी के समय पर उचित ध्यान नहीं दिया जा सकता। (३) अल्कोहोल से विरंजन का काम विशेष ध्यान देकर करना चाहिये। अधिक या कम विरंजन होने से प्रत्यभिज्ञान में बड़ी गलती हो सकती है। (४) पटरी धोने के लिये पानी का उपयोग केवल अन्त में करना चाहिये।

ग्राम रंजन का तत्त्व—*बैंगनी रङ्ग का प्रयोग करने के पश्चात् आयोडिन जैसे रङ्ग बढ़ानेवाले द्रव्य का उपयोग करने पर कुछ जीवाणु उस रंग को अल्कोहोलका प्रयोग करने पर भी छोड़ते नहीं और कुछ छोड़ देते हैं। इस प्रकार जो रंग को न छोड़कर बैंगनी रंग के दिखाई देते हैं वे ग्रामग्राही (Gram-Positive) कहलाते हैं, जो बैंगनी रंग को छोड़ देते हैं, अतः विरोधी रंग अर्थात् लाल रंग को ग्रहण करते हैं वे ग्राम*

त्यागी (Gram negative) कहलाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण तृणाणु इन दो वर्गों में विभक्त किये जाते हैं।

ग्रामग्राही वर्ग— स्ट्रेप्टोकोकाय, स्टाफिलोकोकाय, न्यूमोकोकाय, मैक्रोकोकस टट्राजीनस, सार्सीनो, क्षय कुष्ट और स्मेग्मा बैसीलाय रोहिणी होफमन और ऐन्थ्रेक्स बैसीलाय, पेन्थ्राक्स टेटानस (धनुर्वात) बेकबी स्पोरोजीनस बैसीलाय। इनका रंग बैंगनी होता है।

ग्रामत्यागी वर्ग— गोनोकोकाय मेनिंगोकोकाय, मैक्रोकोकस क्टाराल्सि, आन्त्रिक, उपान्त्रिक अतीसार, प्लेग, इन्फ्लुएन्जा कुक्कर खांसी इत्यादि के बसीलाय, सम्पूर्ण स्पैरीलाय वर्ग और पूयकी तथा शरीर की अन्य सेलें। इनका रंग लाल होता है।

सक्षेप में गोनो, मेनिंगो और क्टाराल्सि को छोड़कर सपूर्ण गोल तृणाणु ग्रामग्राही अर्थात् बैंगनी होते हैं। अम्लसाही वर्ग रोहिणी वर्ग, और स्पोरजनक वर्ग इनको छोड़कर सब बैसीलाय, सपूर्ण चक्रत्रोवाणु तथा शरीर की सेलें ग्राम त्यागी अर्थात् लाल रंग की होती हैं। ग्राम रंग का उपयोग मुख्यतया कोआय की पहचान में किया जाता है।

ज़ीलनीलसेन का रंजन (Ziehl-neelsens' stain) इसको अम्लसाही रंग भी कहते हैं। सामान्यतः सब तृणाणु कुस्नीन से रंजित होने पर भी अम्ल से धोने पर विरंजित हो जाते हैं। तथापि कुछ इने गिने बैसीलाय ऐसे पक्के होते हैं कि तीव्र अम्लका प्रयोग करने पर भी विरंजित नहीं होते। ये अम्लग्राही (Acid fast) कहलाते हैं। विकारी बैसीलाय में क्षय और कुष्ठ के दो ही अम्लसाही हैं। अविकारियों में घी, स्मेग्मा (शिश्न मणिस्थ) और ब्यूट्रिकम (मक्खन का) नाम ग्रहण योग्य हैं। रंजन के लिये निम्न द्रवों की आवश्यकता होती है।

(१) कार्बोल फुस्सीन—१ ग्राम फुस्सीन, ५ सी सी फेनाल्द्रव (Liquified Phenol), ५० सी सी ग्लिसरीन, और ५०० सी सी पानी।

(२) विरञ्जन के लिए अम्ल—इसके लिए १० प्र० श० नैट्रिक एसिड या २५ प्र श सल्फ्यूरिक एसिड प्रयोग में लाया जाता है।

(३) विरोधीरंग—इसके लिये मेथिलिनब्ल्यू, मालाकाइटग्रीन या पिक्रिक एसिड का प्रयोग किया जाता है।

रञ्जन की विधि—पट्टी के परीक्ष्य प्रलेप को मंदोष्णता से दृढ़ करके पश्चात् उस पर गरम किया हुआ कार्बोल फुक्सीन छोड़ना चाहिये या कार्बोल फुक्सीन छोड़कर उसको बत्ती से भाप निकलने के समय तक गरम करना चाहिये। इस स्थिति में पाँच सात मिनट तक रखकर पश्चात् रंग को पानी से धोकर तदनन्तर विरंजन के अम्ल से तब तक धोना चाहिये जब तक कुछ फीका गुलाबी रंग प्रलेप से निकलता रहे। पश्चात् पानी से धोकर मेथिलेन ब्लू से आधे मिनिट तक रंजित करना चाहिये। अन्त में पानी से धोकर और सुखाकर तैलावगाही कांच से सूक्ष्मदर्शक से देखना चाहिये। अम्लसाही कीटाणु इस पद्धति से लाल रंग के और अन्य नीले रंग के दिखाई देते हैं।

मावधानता—थूक में जो गाढ़ा और सड़ा हुआ भाग होता है उसी से एक सा पतला प्रलेप बनाना चाहिये। प्रलेप को उष्णता से बत्ती पर नहीं सुखाना चाहिये। रंग को गरम करते समय उसमें उफान न आवे इसपर ध्यान देना चाहिये। अम्ल से विरंजन का काम धीरे धीरे और कई बार करके करना चाहिये। कुष्ट का बैसीलस यद्यपि अम्लग्राही है तथापि यह क्षय के बैसीलस से कुछ कमजोर होता है। इसलिये उसके पहचान के लिये जब जील नीलसेन का रंग काम में लाया जाय तब विरंजन के लिये २० प्र श सल्फ्यूरिक के बदले ५ प्र श सल्फ्यूरिक का ही उपयोग करे।

अम्लसाही रञ्जन का तत्त्व—क्षय और कुष्ट के बैसीलस के ऊपर प्रतिकारक स्वरूप का मेदसावरण होने के कारण साधारण रंग साधारण पद्धति से भीतर जा नहीं सकता। इसके लिये गहरे रंग की,

रंग चढ़ानेवाले द्रव्य की, उष्णता की और अधिक समय की आवश्यकता होती है। ज़ील नील सेन के रंग में स्थूलनीम गहरा रंग रक्खा गया है और कार्बोलिक एसिड रंग चढ़ाने का द्रव है। इसके अतिरिक्त उष्णता का भी पाँच मिनट तक प्रयोग होता है जिससे रंग भीतर घुस जाता है। जैसे रंग भीतर घुसनेमें कठिनाई होती है वैसे ही एक बार भीतर घुसे हुए रंग को निकालने में कठिनाई होती है। इसलिये अम्ल का प्रयोग करने पर भी भीतर गया हुआ रंग छूटता नहीं। बाकी जीवाणु अम्ल से विरंजित हो जाते और विरोधी रंग को ग्रहण करते हैं। इस रंजन विधि का प्रयोग कुष्ठ और राजयक्ष्मा के बैसीलाय की पहचान में मुख्यतया किया जाता है।

पार्थक्यकर रंगों में विरोधी रंग का महत्त्व—रंजन का उपयोग तृणाणु वर्गीकरण की दृष्टि से प्रारंभ हुआ। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस रंजन विधि में विरोधी रंग की कोई खास आवश्यकता नहीं मालूम होती। पार्थक्यकर रंजन विधि का यह सिद्धान्त है कि विशिष्ट रंग का उपयोग विशिष्ट रीति से करने के पश्चात् यदि विशिष्ट विरंजन द्रव्यका प्रयोग किया जाय तो कुछ जातियों के तृणाणु रंग छोड़ देते हैं और कुछ जातियों के नहीं छोड़ते। जो रंग नहीं छोड़ते वे सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देते हैं और इनके अतिरिक्त बाकी सब रंग छोड़नेवाले वर्ग में आते हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से यह ठीक है परंतु परीक्ष्य द्रव्य में वर्गीकरण की अपेक्षा प्रत्येक वर्ग के कौन कौन और कितने तृणाणु उपस्थित होते हैं इस ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये पार्थक्यकर मूल रंग के साथ विरोधी रंग का भी प्रयोग होने लगा। इससे लाभ यह हुआ कि एक समय में दोनों वर्ग के जीवाणु प्रत्यक्ष होने लगे हैं। अब महत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो ज़ील नील सेनमें रंगग्राही तृणाणु महत्त्व के होते हैं और ग्राम में रंगत्यागी (जैसे गोनो और मेनिंगो) महत्त्व के

होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि फ्रीस मीठ सन की रंजन विधि में विरोधी रंग का उपयोग न करने पर भी काम निकल जाता है, परंतु ग्राम में विरोधी रंग का उपयोग अत्यन्त आवश्यकीय है, उसके बिना ग्रामरंजन बेकार है।

लीशमन की रंजन विधि—लीशमन का बना बनाया रंगचूर्ण १५ ग्राम १०० सी सी शासीटोम रहित शुद्ध मैथिल अल्कोहोल में विलुत करके रंग द्रव बनाया जाता है। १ १५ दिन तक प्रतिदिन सूर्य प्रकाश में इसको रखने से यह अच्छा होता है।

इसका उपयोग रक्तकणों को रक्तोपजीवियों को (Blood parasites) तथा तृणाणुओं में प्लेग बैसीलाय को रंजित करने के लिये मुख्यतया किया जाता है।

प्रथम रक्तलेप को हवा में सुखाकर उसपर लीशमन का रंग पर्याप्त मात्रा में छोड़ना चाहिए। १-२ मिनट के पश्चात् उस रंग में उससे दुगुनी जल की राशि मिलाना चाहिए। इस प्रकार जल-मिश्रित रंग को पटरी पर १० मिनट तक रखकर पश्चात् उसको पानी से धोकर और सुखाकर सूक्ष्मदर्शक से देखना चाहिए।

इस रंजनविधि में प्रथम को उष्णता से युक्त न करें। रंग में जो मेथिल अल्कोहोल होता है उसीसे रंजन के साथ दृढ़ीकरण (Fixing) हो जाता है। अल्कोहाल उड़नशील होने के कारण पटरी पर रंग छोड़ने के पश्चात् उस पर कुछ ढक्कन (जैसे पेट्रिस्पार) रखना अच्छा है। रंग में मिलाने के लिए ति पातित पानी की आवश्यकता नहीं है, सादा नल का पानी भी अच्छा होता है। अन्त में पानी से धोते समय रंग को न फेंककर पानी से रंग को धुलवा देना चाहिये।

जीम्सा की रंजन विधि—जीम्सा के रंग में प्रलेप दृढ़ करने के लिए प्रथम मेथिल अल्कोहोल में तीन मिनट तक या अब्सोल्यूट अल्कोहोल में १५ मिनट तक पटरी को रखना पड़ता है। उसके बाद उसपर

ओगसा का रंग छोड़कर १५ मिनट तक रक्खा जाता है। अन्त में निष्पावित पानी से धोकर और सुखाकर सूक्ष्मदर्शक से देखा जाता है।

जेनर की रंजन विधि—आधा ग्राम जेनर का रंगचूर्ण १०० सी सी एसीटोन रहित शुद्ध मेथिल अल्कोहोल में विलुत करके रंग द्रव बनाया जाता है। इसको पटरी पर ३ मिनट तक रक्खा जाता है। पश्चात् नि पानी से धोकर और सुखाकर सूक्ष्मदर्शकसे देखा जाता है। इसमें भी प्रक्षेप को स्वतन्त्रया दृढ़ करने की आवश्यकता नहीं होती। रंजन और दृढ़ीकरण साथ साथ हो जाता है। यह रंग रक्तकणों के परीक्षण के लिए बहुत अच्छा है, रक्तोपजीवियों के परीक्षण के लिए उतना अच्छा नहीं होता।

तृणाणु जीवन व्यापार (Biology)

तृणाणु सूक्ष्म होने पर भी उनके शरीर में अन्य बड़े जीवधारियों की भाँति प्रोटीन, मेद, कार्बोहैड्रेट, जल, सोडियम पोटासियम मगनेसियम, फास्फरस, गंधक इत्यादि सेन्द्रिय तथा निरीन्द्रिय रासायनिक पदार्थ उपस्थित रहते हैं और इन रासायनिक यौगिकों से बने हुए शरीर का व्यापार समुचित रूप से चलने के लिए उन्हें उचित खाद्य, जल, वायु, उचित तापक्रम इत्यादि अनेक बातों की आवश्यकता होती है। ये आवश्यकताएँ यद्यपि प्रत्येक जाति के तृणाणुओं में पूर्णतया एक सी नहीं होतीं तो भी उनमें कुछ समानता होती है और उसीका विवेचन यहाँ पर किया जाता है। खाद्य द्रव्यों का विवरण आगे संवर्धन में किया गया है।

प्राणवायु (Oxygen)—वातावरण में प्राणवायु सदैव उपस्थित होती है। कुछ तृणाणु प्राणवायु की उपस्थिति में भली भाँति बढ़ सकते हैं और कुछ नहीं बढ़ सकते। प्राणवायु की उपस्थिति या अनुपस्थिति में बढ़ने की सार्थकता के ऊपर तृणाणुओं के ये मुख्य वर्ग किये गये हैं—

वातपी (Aerobes)—सर्व्याभिवृद्धि और जीवन-क्षमता को

बनाये रखने के लिये इस वर्ग के तृणाणुओं को प्राणवायु को प्रचुरमात्रा में आवश्यकता होती है इनके दो विभाग किये जाते हैं—

(१) आग्रही (Obligatory) वातपी—प्राणवायु प्रचुर मात्रा में मिलने पर ही इस विभाग के तृणाणु बढ़ सकते हैं। यथा—यै प्लेग, एन्फ्लुएन्ज़ा, एन्थ्राक्स।

(२) संभाव्य (Facultative) वातपी—इस विभाग के तृणाणु वास्तव में वातमी होते हैं, परंतु आवश्यकता पड़ने पर या लाचारी होनेपर प्राणवायु की उपस्थिति में भी बढ़ सकते हैं।

वातमी (Anaerobes)—इस वर्ग के तृणाणु प्राणवायु की उपस्थिति में नहीं बढ़ सकते। इसका अर्थ यह नहीं है कि इनको प्राण वायु की आवश्यकता नहीं होती। ये आवश्यक प्राणवायु अन्य द्रव्यों से ग्रहण करते हैं। इनके भी दो विभाग होते हैं।

१ आग्रही वातमी—ये प्राणवायु की उपस्थिति में कदापि भी बढ़ नहीं सकते। इस विभाग का प्रधान उदाहरण है धनुर्वात है। धनुवात के तृणाणु जमीन में स्पोर के रूप में रहते हैं और इसी रूप में मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट होते हैं। मनुष्य शरीर की रक्त मांसादि धातुओं में प्राणवायु उचित मात्रा में उपस्थित होने के कारण ये बढ़ नहीं सकते, परंतु जब शरीर की धातुएँ कुचल कर गल जाती है तब वहाँ पर प्राण वायु नहीं होती और धनुर्वात के स्पोर बढ़कर रोग उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

(२) संभाव्य वातमी—ये वास्तव में वातपी होते हैं परंतु प्राण वायु की अनुपस्थिति में भी बढ़ सकते हैं। अधिकांश विकारी तृणाणु इसी विभाग के होते हैं।

उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त तृणाणुओं का एक विभाग होता है जो प्राणवायु की उपस्थिति अत्यल्प मात्रा में होने पर ही बढ़ सकते हैं।

ये सूक्ष्म वातसेवी (Micro Aerophilic) कहलाते हैं। यथा—गोनोकोकाय और मेनिंगोकोकाय।

आर्द्रता (Moisture)—तृणाणु शरीर में ८५% जलांश होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उनको बढ़ने के लिए जलांश की अत्यन्त आवश्यकता होती है। प्राणियों के शरीर में उन्हें जलांश हमेशा मिल जाता है, परंतु वर्धमकों में कभी कभी जलांश का अभाव होता है। उस समय रोपित तृणाणु वर्धित नहीं होते और पोषितद्रव्य में तृणाणुओं की अनुपस्थिति है ऐसा गलत ख्याल हो जाता है। यद्यपि जलांश का अभाव सबको वृद्धि की दृष्टि से हानिकारक होता है तो भी उसके साथ मुकाबला करने की शक्ति प्रत्येक जाति के जीवाणुओं में भिन्न भिन्न हुआ करती है। जैसे विसूचिकावक्राणु कुछ घंटों तक, स्टाफिलोकोकाय कुछ दिनों तक रोहिणी कुछ सप्ताहों तक, क्षय के कुछ महीनों तक और (ग्रेम्प्राक्स तथा धनुर्वात के) स्पोर कुछ बरसों तक जलाभाव को सहन कर सकते हैं।

तापक्रम (Temperature)—तृणाणुओं की वृद्धि (growth) के ऊपर बाह्य तापक्रम का बहुत परिणाम होता है। प्रत्येक जाति के तृणाणुओं के लिये कम से कम और अधिक से अधिक तापक्रम की मर्यादा होती है जिसके बीच में वे बढ़ सकते हैं और जिसके नीचे या ऊपर ये बढ़ नहीं सकते केवल सजीव रह सकते हैं। जिस तापक्रम पर विशिष्ट जाति के तृणाणुओं की अधिक से अधिक वृद्धि होती है वह तापक्रम उस जाति के लिये पोषक (Optimum) कहलाता है। यह पोषक तापक्रम उस नैत्यिक परिस्थिति पर निभर होता है जिसमें उनकी संतान परम्परा वर्धित हुआ करती है, याने उसके नित्य वास स्थान क तापक्रम पर निभर होती है। जैसे मनुष्यों में रोग उत्पन्न करने वालों के लिये ३७·५° सें० (मनुष्य शरीर का प्राकृत तापक्रम) तथा जलवासियों के लिये २०° सें पोषक तापक्रम होता है। अन्य

प्राणियों में रोग उत्पन्न करनेवालों का पोषक तापक्रम उन प्राणियों के प्राकृत तापक्रम पर निर्भर होता है। पक्षियों के शरीर का तापक्रम ४१ सें होने के कारण उनके क्षय के बैसीलाय की वृद्धि उसी ताप क्रम पर हुआ करती है परन्तु इस उष्णता में मानवीक्षय के बैसीलाय वृद्धि नहीं कर सकते। पूतिजनक जीवाणुओं का पोषक तापक्रम २० ४५ सें तक होता है। गोबर, मल मुत्रादि खाद में रहने वालों के लिये ६०° से ७० में तापक्रम पोषक होता है। पोषक तापक्रम की उच्च नीच मर्यादा के अनुसार जीवाणुओं के दो वर्ग किये गये हैं। पहिला उन जीवाणुओंका वर्ग है जिनका पोषक तापक्रम २० -४० सें के बीच में रहता है। ये मध्योष्मिक (Mesophilic) कहलाते हैं। बहुसंख्य सामयी विकारी जीवाणु इसी वर्ग में आते हैं। दूसरा उन जीवाणुओं का वर्ग है जिनका पोषक ताप क्रम ६० ७०° सें के बीच में होता है। मानवी वैद्यक में इनका विचार करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इनसे मनुष्यों के रोग नहीं होते हैं। ये अधिकोष्मिक (Thermophilic) कहलाते हैं।

वृद्धि के समान इनकी जीवन क्षमता (Viability) के ऊपर भी उष्णता का बहुत परिणाम होता है। इसका कारण यह है कि उष्णता से इनकी प्रोटीनें जम जाती हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि उष्णता की अपेक्षा शीत का प्रतिकार इनसे अधिक सफलता से होता है। अत्य धिक शीतमें भी ये क्वचित मर जाते हैं। रोहिणी आन्त्रिक ज्वर के बैसीलाय—१९० सें के शीत में १० घंटे के अन्दर भी नष्ट नहीं होते। परन्तु उष्णता जरासी भी बढ़ाई जाय तो इनकी जीवन क्षमता घटने लगती है। साधारणतया विकारी जीवाणु ४५° सें, से अधिक तापक्रम को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकते और इस तापक्रम पर नष्ट हो जाते हैं। वानस्पित जीवाणु जिस तापक्रम पर १० मिनट में मर जाते हैं वह तापक्रम घातक तापक्रम (Thermol deathpoint)

कहलाता है। यह तापक्रम प्रत्येक जाति के जीवाणु के लिये भिन्न होता है। जैसे, न्युमोकोकाय के लिये ५२° सें, आन्त्रिक बैसीलाइ के लिये ५६° सें, रोहिणी बैसीलाय के लिये ५८° सें, और गोनोकोकाय के लिये ६०° सें।

शुष्क (Dry) उष्णता की अपेक्षा आर्द्र (Moist) उष्णताका परिणाम इनके ऊपर अधिक होता है। स्पोरों का नाश करने के लिये अत्यधिक उष्णता की आवश्यकता होती है। जैसे, ऐन्थ्राक्स का स्पोर नष्ट करने के लिये १४० सें की शुष्क उष्णता तीन घंटे तक और १०० से का उबलता पानी १० मिनट तक आवश्यक होता है। वैसे ही धनुर्वात के स्पोर उबलते हुए पानी में १५ २० मिनट तक जीवन क्षम रह सकते हैं।

प्रकाश (Light)—तृणाणु वृद्धिके लिये सर्वोत्तम स्थिति अंधकार की होती है। अतः उनका संवर्धन सदैव अंधेरे स्थान में किया जाता है। प्रत्यक्ष सूर्य प्रकाश में प्रायः सब तृणाणु न्यूनाधिक समय में मर जाते हैं। इसीलिये उष्णप्रदेशों में सूर्य प्रकाश से जलाशयों के जीवाणुओं का नाश होता है तथा उसका उपयोग दूषित वस्त्र पात्रों को शुद्ध करने के लिये किया जाता है। अप्रत्यक्ष प्रकाश (Diffuse) का परिमाण प्रत्यक्ष प्रकाश के समान हानिकारक नहीं होता। प्रकाश से विकारी तृणाणुओं की उग्रता (Virulence) भी घट जाती है। प्रत्यक्ष सूर्य प्रकाश की किरणों के समान नील लोहित (बैंगनी) किरणें, नीललोहितातीत (Ultraviolet) किरणें, क्ष-किरणें (X-rays), पारद-वाष्पदीप (Mercury Vapourlamp) फिनसेन दीप Finsen इत्यादि विद्युद्दीपों की किरणें भी न्यूनाधिक मात्रा में हानिकारक होती हैं।

विद्युद्दीप के समान विद्युत् प्रवाह यदि उचित रीति से तृणाणु युक्त द्रव में संचालित किया जाय तब भी उससे द्रवगत तृणाणुओं का नाश होता है।

रोग उत्पन्न होते हैं। ये विष इनकी वृद्धि के साथ बनते हैं और प्राय विशिष्ट स्वरूप के होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जाति की व्यक्तियों से बनने वाला विष विशिष्ट संगठन का और विशिष्ट परिणाम करने वाला होता है। इनका रासायनिक संगठन अभी तक ठीक ठीक नहीं मालूम हुआ है, परंतु ये प्रोटीन स्वरूप के माने जाते हैं। ये विष निम्न दो वर्गों में विभक्त किये गये हैं —

बहिर्विष (Exotoxin)—कुछ जातियाँ स्राव (Secretion) के रूप में विष को बनाती जो उनकी जीवितावस्था में शरीर से बाहर निकलकर पर्यंग द्रव्य में मिलता जाता है। अर्थात् वर्धन द्रव्य से उनके पृथक करने पर विष स्वतन्त्र रूप से मिल सकता है। पृथक्करण का काम निस्यन्दकों (filters) से किया जाता है। जीवितावस्था में शरीर से पृथक होना यही इस वर्ग के विष का प्रधान लक्षण है और इसीके कारण यह विष बहिर्विष कहा जाता है। इस प्रकार का विष बनाने वाले जीवाणु संख्या में बहुत ही कम होते हैं जिनमें निम्न प्रधान हैं —धनुर्वात, रोहिणी, शिगातिसार के बैसीलाय, स्ट्रप्टोकोकाय स्कार्लेटिनी और कुछ स्टाफिलोकोकाय।

अन्तर्विष (Endo-toxins)—इनमें जीवाणुओं से जो विष बनता है वह उनकी जीवितावस्था में शरीर के भीतर ही सीमित रहता है, बाहर नहीं आता। अर्थात् निस्यन्दकों से जीवाणु और उनका विष अलग नहीं हो सकता। इस कारण से यह विष अन्तर्विष कहलाता है। अधिक संख्य विकारी जीवाणु इसी प्रकार का ही विष बनाते हैं। यह विष इनके शरीर के साथ अभिन्न रूप से मिला हुआ रहने के कारण इनके शरीर विषैले होते हैं।

इस मुख्य लक्षण के अतिरिक्त इन दो प्रकारों के विषों में और भी अनेक भेद होते हैं। इसलिये दोनों का संपूर्ण पार्थक्य दर्शाने के लिये नीचे कोष्टक दिया जाता है।

बहिर्विष पार्थक्यदर्शक कोष्ठक अन्तर्विष

(१) विषोत्पादक जीवाणुओं से उनकी जीवितावस्था में निस्यंदकों से अलग (filterable) हो सकता है। इसलिये प्राणियों के शरीर में इस विष का परिणाम होने के लिये उनकी शरीर में वृद्धि होने की आवश्यकता नहीं है।

(२) शरीर में प्रवेश होने के पश्चात् निश्चित संचय काल (Incubation period) में उसके परिणाम दिखाई देने लगते हैं।

(३) ये अस्थिर स्वरूप के पदार्थ होते हैं जिनका विषैलापन रसायनिक पदार्थ प्राणवायु इत्यादि से दूर किया जा सकता है। ये अनुष्णसाही (thermolabile) याने उष्णता सहन न करनेवाले हैं

(४) अल्पमात्रा में भी घातक होते हैं।

(५) प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होने पर क्षमता जनक पदार्थ विशेषतया प्रति विष (Antitoxin) उत्पन्न करने की इनमें बड़ी भारी शक्ति होती है। इस लिये मनुष्येतर प्राणियों में इनका

(१) उत्पादक जीवाणुओं से निस्यन्दकों द्वारा अलग नहीं हो सकता। इसलिये इस विष का परिणाम होने के लिये उत्पादक जीवाणुओं की प्राणियों के शरीर में ही वृद्धि होना आवश्यक है।

(२) इसके लिये कोई निश्चित संचय काल नहीं होता। इसलिये शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् परिणाम न्यूनाधिक समय में दिखाई देते हैं।

(३) ये स्थिर स्वरूप के हैं। उष्णता को भलीभाँति सहन कर सकते हैं (Thermostable) उष्णसाही।

(४) घातक होने के लिये अधिक मात्रा की आवश्यकता है।

(५) प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट करने पर उनमें क्षमताजनक पदार्थ (Immunebodies) उत्पन्न करने की शक्ति इनमें भी होती है, परंतु प्रतिविष इनसे नहीं बन सकता। इसलिये इनके लिये प्रतिविष लसिका नहीं बन सकती। इनको उत्पन्न करने वाले जीवा

बहिर्विष	अन्तर्विष
प्रवेश करने से उसके रक्त में प्रतिविष बनता है जिसका उपयोग प्रति विष लसिका (Antitoxic-serum) के रूप में चिकित्सा के लिये सफलता से किया जाता है।	शुओं का ही उपयोग वैक्सीन के तौर पर प्रत्यक्ष मनुष्यों में करना पड़ता है।
(५) इनका आकषण शरीर की विशिष्ट धातुओं की ओर होकर उनपर इनका परिणाम भी विशिष्ट होता है और परिणाम का प्रमाणीकरण Standardisation) शास्त्रीय पद्धतियों से किया जाता है	५) इनका आकषण शरीर की किसी भी धातु पर न होकर परिणाम संपूर्ण शरीर पर होता है और इस परिणाम का प्रमाणी करण किसी भी पद्धति से नहीं हो सकता।

कुछ विकारी तृणाणु शरीर के बाहर न बहिर्विष बनाते हुए दिखाई देते हैं न उनके मृत शरीर अन्तर्विष युक्त प्रतीत होते हैं। तिसपर भी प्राणियों के शरीर के भीतर प्रविष्ट होने पर अपना विशेष प्रभाव दिखाते हैं। इस प्रकार का प्रभाव उदाहरण वै. ऐन्थ्राक्स है। वरन् उन विशिष्ट स्वरूपों के विषों के अतिरिक्त तृणाणु सामान्य स्वरूप के भी कुछ विष बनाते हैं। इनका नामकरण कार्य के अनुसार किया जाता है। इनमें निम्न तीन मुख्य हैं —

आग्रेसिन (Aggressins)—ये आक्रमक स्वरूप के विषद्रव्य होते हैं। इसलिये ये आग्रेसिन कहलाते हैं। ये श्वेतकणों की भक्षक शक्ति को कम करते हैं। इसका कारण यह है कि इनकी उपस्थिति में श्वेतकण तृणाणुओं के पास फटकने नहीं पाते फिर भक्षण करने की तो बात दूर होती है। इस प्रकार का विष वातिककोथ (Gas gangrene) के वैसीलस बनाते हैं।

रक्तद्रावक (Haemolysin)—लाल कणों का द्रावण करने की

शक्ति इस प्रकार के विष में डालते हैं। इस प्रकार का विष उत्पन्न करने वालों में स्ट्रेप्टोकोकाय विशेष महत्व के हैं। उनमें जो विशेषतया इसको उत्पन्न करते हैं वे स्ट्रेप्टोहीमोलिटिकस कहलाते हैं।

श्वेतकणनाशक (Leucocidin)—इससे श्वेतकणों का नाश किया जाता है। इस प्रकार का विष बनानेवालों में स्टाफिलोकोकाय महत्व के हैं।

उपर्युक्त विषों की उत्पत्ति और उनके कार्य का ज्ञान रोगप्रतिबंधन और रोगचिकित्सा में बहुत उपयोगी होता है।

( ) फर्मेंटस या एन्ज़ाइम्स (Ferments or enzymes) —ये प्रोटीन स्वरूप के पदार्थ होते हैं। इनके द्वारा विविध रासायनिक परिवर्तन हुआ करते हैं, परंतु ये स्वयं योगवाही (Catalytic) होने के कारण न परिवर्तित होते हैं न खर्च होते हैं। मनुष्य शरीर में अन्न पाचन के लिये जिस प्रकार के अनेक फर्मेंट होते हैं उसी प्रकार के ये भी हैं। विषों के समान ये शरीर बाहर या शरीरान्तस्थ होते हैं। जिन द्रव्यों के ऊपर ये कार्य करते हैं उनके अनुसार इनमें दो भेद किये जाते हैं। इनका कार्य मुख्यतया विश्लेषण या पृथक्करण के स्वरूप का (Katabolic) होता है।

पूतिभवन (Putrifaction)—यह कार्य प्रोटीनद्रावक (Proteolytic) फर्मेन्टों द्वारा होता है। पृथ्वीपर प्राणियों और वनस्पतियों के मृतशरीरों को गलाकर और सड़ाकर नष्ट करना इनका मुख्य काम होता है। यदि यह कार्य न होता तो समस्त संसार दिन प्रति दिन मरनेवाले असंख्य जीवों के मृतशरीरों से भर जाता और नवीन उत्पन्न होनेवाले जीवों को रहने के लिये स्थान ही न रहता। वैसे ही यदि सेंद्रिय द्रव्यों में इनको उत्पन्न करनेवाले जीवों का प्रवेश हो न हो सके तो उनमें सड़न भी पैदा नहीं हो सकती।

इन प्रोटीनग्रावक फर्मेन्टों की क्रिया म मन वस्तु का परिवर्तन इस में होकर अन्त में वायुरूपपदार्थ बनते हैं। प्रथम, सेन्द्रियवस्तु का अल्ब्यूमोजेज और पेप्टोन में रूपांतर होता है, तदनन्तर अमूमिन, ट्रायोसिन और टोमेनस् बनते हैं। तदनंतर इन्डोल स्काटोल इत्यादि दुर्गंधयुक्त बद्‌गशील मैदमाम्ल बनते हैं।

अन्त में हैड्रोजन सल्फाइड, माशग्यास, अमोनिया, कार्बनडायोक्साइड और हैड्रोजन इत्यादि वायुरूप पदार्थ बनते हैं।

पुतिभवन के ज्ञान का उपयोग मुख्यतया मांस, मछली इत्यादि खाद्य द्रव्यों के संरक्षण (Preservation) के लिये होता है। जीवाणु विज्ञान में इसका उपयोग बहुत ही सीमित होता है। कुछ जातियाँ जिल्याटिन, कैसिन जमी हुई लसिका इत्यादि को तरल बनाती हैं तथा कुछ पेप्टोन से इन्डोल बनाती हैं। इनके पहचान के लिये इसका उपयोग किया जाता है।

अभिषव (Fermentation)—फर्मेन्टों के द्वारा कार्बोहैड्रेट के ऊपर होने वाले उन रासायनिक परिवर्तनों के लिये यह नाम दिया जाता है जिनमें उनसे वायु की उत्पत्ति के साथ या उत्पत्ति के बिना अम्ल और अल्कोहोल बनते हैं। कार्बोहैड्रेट के ऊपर काम करनेवाले अनेक फर्मेंट होते हैं और प्रत्येक के द्वारा विशिष्ट काम होता है। एक प्रकार दूध को जमा देता (Coagulase) है, दूसरा स्टार्च से शर्करा (Amylase) बनाता है, तीसरा शर्कराओं से ल्याक्टिक एसिड (Lactase) बनाता है, चौथा ग्लुकोज से अल्कोहोल और कार्बन डायोक्साइड (Zymase) तैयार करता है, इत्यादि। अभिषव के ज्ञान का उपयोग बड़े पैमाने पर विविध मद्य अमीरोल, दही इत्यादि की उत्पत्ति में होता है। जीवाणु-विज्ञान में इसका उपयोग बहुत मर्यादित है जो कुछ जातियों के पहचान में होता है। पुतिभवन और अभिषव जीवाणुजनित विनाशात्मक या विश्लेषणात्मक (Catabolic,

destructive) कार्यों के उदाहरण हैं। कुछ जीवाणु इसके विपरीत याने रचनात्मक या संश्लेषणात्मक (Constructive, anabolic) काय भी करते हैं। इनका उदाहरण नत्रीकरण (Nitrification) क्रिया है।

यह प्रसिद्ध है कि ज़मीन की उपजाऊ-शक्ति नैट्रोजन युक्त खाद्य द्रव्यों की उपस्थिति पर निर्भर है और वनस्पतियाँ ज़मीन से इन खाद्य द्रव्यों का ग्रहण मूलों द्वारा करके अपना पोषण किया करती हैं। यह क्रिया अनादिकाल से हो रही है। और इस क्रिया से भूमि में खाद की कमी होती है। यदि इस कमी की पूर्ति प्रकृति से न होती तो थोड़े ही समय में समस्त पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती। परंतु प्रकृति ने इसकी पूर्ति करने के लिये विशिष्ट प्रकार के जीवाणु रक्खे हैं जो भूमिस्थ पूतिभवन में उत्पन्न अमोनियायुक्त क्षारों से प्रथम नैट्राइट और पश्चात् नैट्रेट बनाते हैं। इनके नाम अनुक्रम से न्यूट्रोमोनस और नैट्रो ब्याक्टर' है। जो ज़मीन साल दो साल के लिये उपयोग में नहीं लाई जाती, उस ज़मीन की उपजाऊ शक्ति बढ़ती है यह अनुभव सिद्ध है। इसका कारण उपर्युक्त जीवाणु हैं। इनके सिवाय दूसरे प्रकार के भी जीवाणु होते हैं जिनका नाम अज़ोटोब्याक्टर' है। ये शिंबीधान्यवर्ग की वनस्पतियों के मूलों के साथ होने वाले छोटे छोटे कंदों पर होते हैं। ये हवा में से नैट्रोजन को ग्रहण करके उसका रूपान्तर नैट्रोजनयुक्त खाद्य द्रव्यों में करते हैं। इसी कारण मटर आदि शिंबीधान्यों की फसल बीच बीच में निकाली जाती है।

(७) रंग—कुछ जीवाणु रंग उत्पन्न करते हैं इसलिये वे 'रंगजनक (Chromogenic) कहलाते हैं। रंग शरीर बाह्य होता है और इनके उत्पन्न होने के लिये आक्सीजन की आवश्यकता होती है। इस रंग से इनकी पहचान करने में आसानी होती है। ये रंग रोगोत्पादक नहीं होते हैं। रंगोत्पादकों में भिन्न प्रभाव हैं।

स्टयाफिलोकोकस पायोजीनस आरस—पीतवर्ण रंग
बैसिलस प्राडिजिओसस — रक्तवर्ण रंग
" पायोसायनीयस — नीलाभहरितवर्ण रंग

पानी में रहनेवाले कुछ तृणाणु ऐसा रंग उत्पन्न करते हैं कि जो प्रकाश परावर्तक होता है। इसलिये ये प्रकाशजनक (Fluorescent कहलाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं कि जो अंधरे में चमकनेवाले पदार्थ को उत्पन्न करते हैं। ये प्रकाश जनक (Luminescent) कहलाते हैं।

(४) बैक्टारिओफेग (Bacteriophage)– मसुरिका टीका द्रव्य (Lymph vaccine) के ऊपर खोज करते समय सन् १०१५ में ट्वार्ट नामक शास्त्रज्ञ ने इस विषय में कुछ विचार प्रकट किये। तत्पश्चात् सन् १९१७ में फ्रान्स में डी हेरले नामक शास्त्रज्ञ ने शिगातिसार के मल पर अन्वेषण करते समय इसका पूरा पता लगाया।

प्राप्ति स्थान—फेग पशुपक्षिमनुष्यों के आंत्र में स्वस्थ तथा व्याधितावस्था में सदैव उपस्थित रहता है और प्रतिदिन मल के साथ बाहर आता है, इसलिये भूमि पर तथा जलाशयों के पानी में पाया जाता है। विशेष करके बैसलरी अतिसार, विसूचिका और आन्त्रिकज्वर से पीड़ित रोगियों के मल में बहुत अधिक मिलता है।

स्वरूप—फेग के संबंध में कई मत प्रचलित हैं। डी हेरले का मत है कि यह एक स्वयंपूर्ण सूक्ष्मदर्शकातीत परोपजीवी जीव है जो अपनी वृद्धि और संतानोत्पत्ति के लिये तृणाणुओं का उपयोग करता है और अन्त में उनका विनाश कर डालता है। इसकी मोटाई इसके अनुसार १० से १० म्यूम्यू (एक म्यूम्यू म्यू का एक सहस्रांश भाग होता है) तक होती है। इसलिये डी हेरले ने इस जीव को बैक्टीरिओफेग (तृणाणुभक्षक) नाम दिया। दूसरे लोगों का यह मत है कि तृणाणुओं का नाश होते समय उनके शरीर से उत्पन्न हुआ यह एक स्वकद्रव्य (Autolytic ferment) है।

गुणधर्म—इसका मुख्य गुण तृणाणुओं का द्रवीकरण है। इसका काम विशिष्ट (Specific) स्वरूप का है; अर्थात विसूचिका फेग विसूचिका तृणाणुओं के लिये, आन्त्रिक फेग आन्त्रिक बैसीलाय के लिये, और अतिसार फेग अतीसार बैसीलाय के लिये। विशिष्ट तृणाणुओं के अतिरिक्त फेग सबंधित तृणाणुओं के ऊपर भी कुछ कार्य कर सकता है। यह निस्यन्दन शोल है। दश लक्ष भाग में एक भाग की मात्रा में भी यह कार्य कर सकता है। तृणाणुओं की नयी नयी वृद्धि (young culture) में इसकी संतान परंपरा अनन्तकाल तक चल सकती है। तृणाणुओं के समान कृत्रिम पचन द्रव्यों में इसकी वृद्धि नहीं हो सकती। इसका कार्य केवल तरुण तृणाणुओं पर ही हो सकता है, पुरानों या मृतों पर नहीं होता।

बनाने का पद्धति—रोगी के मलद्रव के कुछ बूँद लेकर उसकी वृद्धि पोषक मांस रस में १८ घण्टे तक की जाती है। उसके पश्चात् पास्चर चेंबरलेंड निस्यंदक में से निपारित द्रव को ग्रहण करके (जिसमें कि फेग उपस्थित रहता है) जिस जीवाणु के लिये फेग बनाना हो उस जीवाणु की नयी नयी वृद्धि के साथ अनेक बार फेग की वृद्धि की जाती है। इसप्रकार विशिष्ट जीवाणु के लिये तीव्र स्वरूप का फेग बन जाता है। फेग सब प्रकार के तृणाणुओं के लिए बन सकता है; केवल अम्लसहो और वातमी (पृष्ट १९, २४) बैसीलाय के लिये यह नहीं बन सका।

जीवन क्षमता—फेग में प्रतिकारक शक्ति बहुत है। भाग प्र श मक्युरी क्लोराइड, २ प्र श फेनाइल, १ प्र श तुत्थ के साथ रखने पर भी यह नष्ट नहीं होता। ६० सें तक उष्ण करने पर भी यह नष्ट नहीं होता। सुखाने पर भी महीनों तक और वैसे इनार्यद कूपों में वरसों तक यह अपनी कार्यक्षमता नहीं खोता है।

उपयोग—फेग का उपयोग चिकित्सा के लिये आन्त्रिक विकारों में विशेषतया आन्त्रिकज्वर, विसूचिका और अतिसार में, बहुत लाभप्रद

होता है। यह विदेशा न होने के कारण कहीं भी निषिद्ध (Contra indicated) नहीं है और बालकों में पूर्ण मात्रा में दे सकते हैं। इसकी मात्रा १ सी सी है जो दिन में ४ ५ बार दी जाती है। इसके देने से पहले क्षारीय जल पीने के लिये देना अच्छा है। चिकित्सा में इसका उपयोग करते समय रोगी को जीवाणु नाशक या अम्लद्रव्य न देने चाहिये। एक बार खोली हुई शीशी उसी समय समाप्त करनी चाहिये।

रोगक्षमता और महामारी प्रतिबंधन—विषूचिका, आन्त्रिक इत्यादि रोगोंसे पीड़ित जो रोगी बचते हैं वे उनके आंत्रमें फेग उत्पन्न होने से बचते हैं और जो मर जाते हैं वे फेग उत्पन्न न होने से मरते हैं ऐसी फेग पक्षपातियों की कल्पना है। इन लोगों की यह भी एक कल्पना है कि महामारी के प्रारंभ में रोगों का जोर फेग न होने से होता है और आगे चलकर जब रोगियों के आन्त्र में काफी फेग बनकर वह अनेक मार्गों से जलाशयों तक पहुँच जाता है तब धीरे धीरे रोगो त्पादक जीवाणुओं का जोर कम होने लगता है और अन्त में फेग का जोर अधिक होने से महामारी बंद हो जाती है। चाहे जो कुछ हो संक्रामक रोगों की महामारी बंद करने के जो अनेक नैसर्गिक साधन होते हैं उनमें फेग एक महत्व का साधन है इसमें कोई संदेह नहीं है।

तृणाणुओं की खेती या संवर्धन (Cultivation)

तृणाणुओं के जीवन के संबंध में यथेष्ट परिचय प्राप्त करने के लिये; व्रणावस्था में शरीर के भीतर मिलनेवाले तृणाणुओं की पहचान के लिये तथा अनेक रोगों की चिकित्सा तथा प्रतिबंधन के लिये प्राणियों के शरीर के बाहर कृत्रिम पद्धति से इनका संवर्धन एक महत्व का तथा आवश्यक अंग हो गया है। इसको तृणाणुओं की खेती कह सकते हैं। इनकी खेती और किसानों की खेती में शाब्दिक साम्यता के अतिरिक्त काम साम्यता भी बहुत है। जैसे किसान किसी एक प्रकार की वनस्पति की खेती करने के लिये प्रथम भूमि में से संपूर्ण वनस्पतियों का निर्मूलन करता है पश्चात् भूमि में खाद इत्यादि डालकर उसको उपजाऊ बनाता है तदनंतर उचित मौसम में उस भूमि में बीजारोपण करता है उसी प्रकार जीवाणु वैज्ञानिक प्रथम साधन सामग्री में होनेवाले जीवाणुओं का नाश करता है पश्चात् उचित वर्धन द्रव्य बनाता है, तदनंतर उसमें जीवाणु रोपण करके उचित तापक्रम पर उनका पोषण करता है। संक्षेप में किसी एक प्रकार के तृणाणु की खेती करने के लिये निर्जीवाणुकरण वर्धनकोत्पादन तृणाणुरोपण और उष्मगोपण इन चार सोपानों की अत्यंत आवश्यकता होती है।

विशोधन या निर्जीवाणुकरण (Sterilisation)

संवर्धन के लिये अनेक प्रकार की सामग्री तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है परंतु जीवाणु सर्वव्यापी होने के कारण ये उपकरण उनसे स्वभावतः निर्मुक्त नहीं होते इसलिये उनका उपयोग करने से पहिले समस्त पदार्थ जीवाणु रहित करना आवश्यक होता है। इस क्रिया का नाम 'विशोधन' है और इस स्थिति का नाम निर्जीवाणुकता है।

विशोधन के अनेक साधन उपलब्ध हैं और अनेक साधनों की आवश्यकता भी होती है, क्योंकि एक साधन प्रत्येक चीज के विशोधन

होता है। यह विदैला न होने के कारण कहीं भी विपिद्ध (Contra indicated) नहीं है और बालकों में पूर्ण मात्रा में दे सकते हैं। इसकी मात्रा १ सी सी है जो दिन में ४-५ बार दी जाती है। इसके देने से पहले शारीप बल होने के लिये रेचन आवश्यक है। चिकित्सा में इसका उपयोग करते समय रोगी को जीवाणु-नाशक या भस्मद्रव्य न देने चाहिये। एक बार खोली हुई शीशी उसी समय समाप्त करनी चाहिये।

रोगशमन और महामारी प्रतिषेध—विसूचिका आन्त्रिक इत्यादि रोगोंसे पीड़ित जो रोगी बचते हैं वे उनके आंत्रमें फेज उत्पन्न होने से बचते हैं और जो मर जाते हैं वे फेज उत्पन्न न होने से मरते हैं ऐसी फेज पक्षपातियों की कल्पना है। इन लोगों की यह भी एक कल्पना है कि महामारी के प्रारम्भ में रोगों का जोर फेज न होने से होता है और आगे चलकर जब रोगियों के आन्त्र में काफी फेज बनकर वह अनेक मार्गों से जलाशयों तक पहुँच जाता है तब धीरे धीरे रोगोत्पादक जीवाणुओं का जोर कम होने लगता है और अन्त में फेज का जोर अधिक होने से महामारी बंद हो जाती है। चाहे जो कुछ हो संक्रामक रोगों की महामारी बंद करने के जो अनेक नैसर्गिक साधन होते हैं उनमें फेज एक महत्व का साधन है इसमें कोई संदेह नहीं है।

तृणाणुओं की खेती या संवर्धन (Cultivation)

तृणाणुओं के जीवन के संबंध में यथेष्ट परिचय प्राप्त करने के लिये रुग्णावस्था में शरीर के भीतर मिलनेवाले तृणाणुओं की पहचान के लिये तथा अनेक रोगों की चिकित्सा तथा प्रतिबंधन के लिये प्राणियों के शरीर के बाहर कृत्रिम पद्धति से इनका संवर्धन एक महत्त्व का तथा आवश्यक अंग हो गया है। इसको तृणाणुओं की खेती कह सकते हैं। इनकी खेती और किसानों की खेती में शाब्दिक साम्यता के अतिरिक्त कार्य साम्यता भी बहुत है। जैसे किसान किसी एक प्रकार की वनस्पति की खेती करने के लिये प्रथम भूमि में से संपूर्ण वनस्पतियों का निर्मूलन करता है पश्चात् भूमि में खाद इत्यादि डालकर उसको उपजाऊ बनाता है तदनंतर उचित मौसम में उस भूमि में बीजारोपण करता है उसी प्रकार जीवाणु वैज्ञानिक प्रथम साधन सामग्री में होनेवाले जीवाणुओं का नाश करता है पश्चात् उचित वर्धन द्रव्य बनाता है, तदनंतर उसमें जीवाणु रोपण करके उचित तापक्रम पर उनका पोषण करता है। संक्षेप में किसी एक प्रकार के तृणाणु की खेती करने के लिए निर्जीवाणुकरण वर्धनकोत्पादन तृणाणुरोपण और उष्मपोषण इन चार सोपानों की क्रमश आवश्यकता होती है।

निशोधन या निर्जीवाणुकरण (Sterilisation)

संवर्धन के लिये अनेक प्रकार की सामग्री तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है परंतु जीवाणु सर्वव्यापी होने के कारण ये उपकरण उनसे स्वभावतः निर्मुक्त नहीं होते इसलिये उनका उपयोग करने से पहिले समस्त पदार्थ जीवाणु रहित करना आवश्यक होता है। इस क्रिया का नाम 'विशोधन' है और इस स्थिति का नाम 'निर्जीवाणुकता' है।

विशोधन के अनेक साधन उपलब्ध हैं और अनेक साधनों की आवश्यकता भी होती है, क्योंकि एक साधन प्रत्येक चीज के विशोधन

के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक साधन की कुछ विशेषताएँ और मर्यादाएँ होती हैं और उनका विचार करके उपयोग करना पड़ता है। अतः नीचे विशोधन के विविध साधन उनके उपयोग के साथ दिये जाते हैं।

उष्णता (Heat)—जीवाणुनाशन का यह एक बहुत शक्तिशाली और कार्यक्षम साधन है। उष्णता से उनका विद्रव्य जम जाता है और उनकी मृत्यु होती है। उष्णता का प्रयोग शुष्क (Dry) और आर्द्र (moist) पद्धतियों से होता है और दोनों की कार्यक्षमता में भी बहुत अन्तर है। आर्द्र उष्णता में चीजों के भीतर घुसने की शक्ति अधिक होने के कारण जीवाणु नाशन की दृष्टि से शुष्क उष्णता की अपेक्षा यह अधिक शक्तिशाली होती है। जब पानी की भाप किसी चीज के संपर्क में आती है तब वह तुरन्त वायुरूप से जल रूप में परिवर्तित होती है और इस परिवर्तन के साथ साथ बहुत उष्णता स्वतन्त्र होती है जो संपर्क में आई हुई चीजों को गरम करती जाती है। यह कार्य जब तक नयी नयी भाप आती रहती है तब तक जारी रहता है। इस तरह जीवाणु का विद्रव्य बहुत जल्दी जमकर उसका नाश होता है। शुष्क उष्णता से जीवाणुओं का प्रथम निर्जलीकरण (dehydration) होकर पश्चात् उनका विद्रव्य जम जाता है। अर्थात् इस कार्य के लिये अधिक समय और तापमान की आवश्यकता होती है। जब तापमान बहुत अधिक बढ़ाया जाता है तब उनका शरीर जल जाता है।

शुष्क उष्णता—इसका उपयोग निम्न प्रकारों से किया जाता है—

(१) उत्ताप (Redheat) इसमें विशोध्य वस्तु कुछ काल तक अग्नि में रखकर रक्तिमवर्ण की जाती है। इसका उपयोग प्लाटीनम तार, सुई, चिमटी, चमच इत्यादि दूषित वस्तुओं को शुद्ध करने के लिये किया जाता है।

(२) ज्वलन (Flaming) इसका उपयोग चाकू छुरे, सुई

नलिकाओं के मुख, उनके रूई के ऊँट, कांच की पटरियाँ तथा उनके पतले ढक्कन इत्यादि वस्तुओं के लिये किया जाता है। विशोध्य चीजों को कई बार ज्वाला भक्षण करवाने से उनकी शुद्धि होती है। उत्ताप और ज्वलन दोनों के लिये बुनसेन की बत्ती या मद्यदीप का उपयोग किया जाता है। दोनों में फर्क यह है कि उत्ताप में चीज कुछ काल तक ज्वाला में रखकर रक्तवर्ण की जाती है और ज्वलन में अनेक बार ज्वाला में प्रविष्ट करने पर भी रक्त वर्ण नहीं की जाती। जब बुनसेन की बत्ती या मद्यदीप उपलब्ध नहीं होता तब स्पिरिट में भिगोया हुआ रूई का फोया जलाकर उसकी ज्वाला में उपयुक्त चीजें शुद्ध कर सकते हैं। बड़े पात्रों (Basins) की शुद्धि भी इस पद्धति से उनको स्पिरिट में भिगोकर और पश्चात् जलाकर कर सकते हैं।

उष्णवायु (Hot air)—इसका उपयोग पेट्रीडिश टेस्टट्यूब, पिपेट फ्लास्क इत्यादि कांच के उपकरणों के लिये किया जाता है। जिस यन्त्र में यह काम किया जाता है, उसको उष्ण वायु विशोधक (Hot air oven or sterilizer) कहते हैं। यह एक ताँबे या लोहे का द्विप्राचरिक संदूक (Double jacketed chamber) होती है। दो दीवारों के बीच में एक इंच का अन्तर रहता है और उसमें हवा रहती है। बीच में दो तीन खाने होते हैं जिनमें चीजें रक्खी जाती हैं। ऊपर एक छेद होता है जिसमें उष्णता मापन के लिये उष्णता मापक रक्खा जाता है। यह संदूक नीचे से बत्ती या बिजली के द्वारा गरम की जाती है। ऊपर के उष्णतामापक को देखने से सदूक की भीतरी उष्णता का ज्ञान होता है। बिना इस यन्त्र में उष्णतानियन्त्रण करने के लिये एक नियन्त्रक (Regulator) होता है। इस यन्त्र में रक्खी हुई चीजें १६०° सें पर एक घंटा या १८०° सें पर आधा घंटा रखने से विशोधित की जाती हैं।

प्रयोग के लिये सूचनाएँ—(१) कांच पात्र यन्त्र में रखने से

पहले पूर्ण सूखे होने चाहिए; नहीं तो भी उनके चिटकने का डर रहता है। (२) सब काँच पात्र कागज में लपेट कर रखना अच्छा है। टेस्ट ट्यूब और फ्लास्क के मुख रुई के डाट से बन्द करने चाहिए। (३) जब यन्त्र ठण्डा रहता है तब इन चीज़ों को रखना चाहिए और पश्चात् उसको गरम करना चाहिए। (४) उचित तापक्रम पर उचित समय तक उष्ण करने के पश्चात् बत्ती या बिजली बन्द करके उसको स्वयं शीतल होने देना चाहिए और पश्चात् चीज़ों को निकालना चाहिए। इस प्रकार न किया जाय तो उनके चिटकने का डर रहता है।

इस यन्त्र का फायदा यह है कि सब वस्तुएँ सूखी रहती हैं।

आर्द्र उष्णता—इसका उपयोग निम्न प्रकारों से किया जाता है

(१) उत्क्वथन (Boiling)—उबलते हुए पानी में कीटाणु पाँच मिनट में मर जाते हैं, परन्तु उनके स्पोर नष्ट करने के लिये कई घंटे तक उबालने की आवश्यकता होती है। साधारणतया उबालने की क्रिया आधे घंटे तक की जाती है और जल में उबाल प्रारम्भ होने के बाद यह समय गिना जाता है। इस काम के लिये जो यन्त्र काम में लाया जाता है उसको जलावगाह विशोधक (Waterbath sterilizer) कहते हैं। इसके द्वारा यन्त्र शस्त्र सूचि, पिचकारी तथा रबड़ की चीज़ें विशोधित की जाती हैं। काँच की चीज़ें विशोधित करना हो तो शीत पानी में ही उनको रखकर पश्चात् पानी उबालना चाहिए अन्यथा उनके चिटकने का डर रहता है। लोहे की चीज़ विशोधित करना हो तो उनको पानी काफ़ी गरम होने के बाद छोड़ना चाहिये, अन्यथा उन पर मोर्चा लगने का डर रहता है। पानी में १ प्र. श. सोडा कार्बोनेट डालने से उसकी स्पोर नाशक शक्ति बढ़ती है तथा धातु के ऊपर मोर्चा नहीं लगता। २.५ प्र. श. कार्बोलिक एसिड से भी स्पोर नाशक शक्ति बढ़ जाती है। टेस्टट्यूब का भीतरी अंग उसमें जल भरकर उसको उबालने से विशोधित हो जाता है।

(२) न्यून तापक्रम पर विशोधन (Sterilisation at lower temparatures)—जो द्रव्य उबलने वाले का तापक्रम नहीं सह सकते उनके लिये न्यून तापक्रम पर विशोधन करने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे वैक्सीन रक्तलसिका और प्रोटीन युक्त द्रव्य। न्यून तापक्रम का उपयोग निम्न तीन प्रकारों से किया जाता है।—

(१) ६० सें तापक्रम—वैक्सीन का विशोधन ६० सें तापक्रम के जलावगाह में एक घंटे तक उष्ण करके किया जाता है। इससे अधिक उष्णता पर उसकी क्षमताजनक शक्ति कम हो जाती है।

(२) संघनीकरणरहित विशोधन (Sterilisation without coagulation)—इसका उपयोग लसिका के लिये किया जाता है। इसमें ५५-६० सें तक लसिका एक घंटे तक उष्ण की जाती है।

इस प्रकार ३-५ दिन तक प्रति दिन लसिका उष्ण करने का कार्य जारी रक्खा जाता है।

(३) संघनीकरण युक्त विशोधन (Sterilisation with coagulation)—इसके लिये एक यन्त्र होता है जिसको लसिका संघनीकरण यन्त्र (Serum inspissator) कहते हैं। नलिकाओं में लसिका भर कर वे ७५-८° सें तापक्रम पर १ घंटे तक इसमें उष्ण की जाती है। यह क्रम ३-५ दिन तक जारी रक्खा जाता है। इस तापक्रम पर लसिका गाढ़ी हो जाती है और नलिकाओं को ढालदार स्थिति में रखने से तृणाणुरोपण के लिये काफी पृष्ठभाग मिल जाता है।

(४) जलवाष्प (Steam)—विशोधन के लिये इसका उपयोग जीवाणु विज्ञान में सबसे अधिक होता है। इसका उपयोग मुख्यतया निम्न दो प्रकारों से किया जाता है।

(१) प्रवाही वाष्प (Current steam)—इसमें तापक्रम १०० सें होकर वाष्प का भार एक वायुमंडल का होता है।

(२) भार युक्त वाष्प (steam under pressure)—

इसमें धान्य का भार दो वायु मण्डल का होता है और तापक्रम १२० सें तक रक्खा जाता है। प्रवाह युक्त धान्य की अपेक्षा भार युक्त वाष्प अधिक कार्यक्षम होती है। उसने २० मिनिट में संपूर्णतया उसके स्पोर नष्ट हो जाते हैं।

प्रवाह युक्त वाष्प—इसके द्वारा विशोधन करने के लिये जो यन्त्र काम में लाया जाता है वह कोक या आर्नोल्ड का वाष्पविशोधक (Koch sor arnolds steam sterliser) कहलाता है। इसका उपयोग बहुत अधिक तापक्रम पर खराब होनेवाले वधमकों को शुद्धि के लिये किया जाता है:—जैसे जिल्याटिन युक्त और कार्बोहैड्रेट युक्त वध नक। वधनक विशोधन के लिये इस यन्त्र का उपयोग निम्न दो पद्धतियों से किया जाता है —

(१) अविच्छेद विशोधन (Continuous sterilisation)—इसमें विशोध्य द्रव्य १०० सें पर डेढ़ घंटे तक लगातार गरम किया जाता है। इसका उपयोग पोषक मांस रस और आगर वधनकों के लिये किया जाता है। जिन द्रव्यों में जिल्याटिन और शक्कराएं होती हैं उनके लिये यह विधि हानिकर होती है।

(२) खण्डित या सविच्छेद विशोधन (Tyndalls intermittent sterilisation)—इसमें १०० सें० उष्णता मान की जलवाष्प का उपयोग किया जाता है। विशोध्य वधनक पात्र विशोधक में १५ से ३० मिनट तक प्रथम दिन उष्ण करके चौबीस घंटे तक उष्णपोषक यंत्र में ३७.५ सें पर रखा जाता है। दूसरे दिन पुनः १५ से ३० मिनट तक १००° सें उष्णतामान पर उष्ण करके प्रथम दिन की भांति उष्णपोषक यंत्र में रखा जाता है। तीसरे दिन पुनः १५ से ३० मिनट तक उष्ण करने पर वधन द्रव्य का विशोधन पूर्ण होता है। जल उबलना शुरू होने के बाद समय गिना जाता है। जब अधिक मात्रा में वर्धनक हो तो यंत्र में उसको रखके पश्चात् यन्त्र को गरम करना चाहिये। इस तरह

से तीन दिन विशोधन करने का उद्देश्य यह है कि १० से उष्णता की जलवाष्प से २० मिनिट में स्पोर नष्ट नहीं होते हैं। प्रथम दिन उष्ण करने से द्रव्य के भीतर जो स्पोर होते हैं वे २४ घंटे में जीवित स्वरूप में परिवर्तित होते हैं। दूसरे दिन उष्ण करने से ये मर जाते हैं और तीसरे दिन विशोधन की पूर्णता करने के लिये पुनः उष्ण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक दिन क्रमशः जो विशोधन होता है उसका नाम 'खंडश या सविच्छेद विशोधन' है। इस विधि में दोष इतना ही है कि पूर्ण विशोधन के लिये तीन दिन की आवश्यकता होती है। इस विधि का प्रयोग शकरा और जिल्यादिक के वर्धन द्रव्यों की शुद्धि के लिये किया जाता है।

भारयुक्त जलवाष्प - जीवाणु तथा उनके स्पोर का विनाश करने के लिये यह सबसे प्रभावशाली और शीघ्र पद्धति है। पानी का उत्क्वथन बिंदु एक वायुमंडल के भार पर १००° से होता है। जब यह भार धीरे धीरे बढ़ता है तब पानी का उत्क्वथन बिंदु भी बढ़ता जाता है। जब वायुमण्डल का भार दो होता है उस समय पानी १२०° से अंश पर खौलने लगता है। सामान्यतया इस विधि में दो वायुमण्डल भार का ही उपयोग किया जाता है। इस भारयुक्त जलवाष्प में २० मिनिट के अन्दर जीवाणु तथा उनके स्पोर नष्ट हो जाते हैं। भारयुक्त जलवाष्प का उपयोग करने के लिये एक विशेष प्रकार का यन्त्र प्रयुक्त होता है, उसका नाम 'कंदुक यन्त्र' (Autoclave) है। इस यंत्र में विशोध्य पदार्थ रखने के पश्चात् पानी गरम किया जाता है। जब पानी की भाप में से सारी हवा बाहर निकल जाती है तब उसका मुख बंद करना चाहिए अन्यथा विशोधन सदोष होता है। यन्त्र शुरू करने से पहले उसमें काफी पानी रखना चाहिये।

विशोधन पूर्ण होने के बाद यन्त्र का तापक्रम १००° से कम होने पर जलवाष्प का भार भी धीरे धीरे कम करना चाहिये। पोषक वर्धनक

अन्य द्रव पदार्थ, दीर वगैर रक्त के पदार्थ, तथा कोषणायों का शुद्धि करने के लिये इस विधि का उपयोग किया जाता है। परन्तु जिन पदार्थों में अल्बुमिन, दूध तथा शर्करा होती है उनके विशोधन के लिये इस विधि का उपयोग न करना चाहिये।

१६०° स० उष्णता का तैल या व्यासलीन—इस उष्णता पर जीवाणु तुरंत नष्ट हो जाते हैं। इसका प्रयोग विशेष करके सुई लगाने की पिचकारी विशोधित करने के लिये किया जाता है। यथा प्लेग-टीका की पिचकारी।

रासायनिक जीवाणु नाशन (Sterilisation by chemicals)—यद्यपि विशोधन के लिये अनेक रासायनिक जीवाणुनाशक शल्य चिकित्सा में काम में लाये जाते हैं, तथापि जीवाणु संवर्धन में उनका उपयोग बहुत ही मर्यादित स्वरूप का होता है। इसका कारण यह है कि इन द्रव्यों का उपयोग उपकरण विशोधन में करने के पश्चात् उनका कुछ अंश उपकरणों में शेष रहनेकी संभावना होती है जिससे आगे चलकर जीवाणु वृद्धि में उनसे बाधा उत्पन्न होती है। नीचे मुख्य मुख्य रासायनिक जीवाणु नाशक उनके उपयोग के साथ दिये जाते हैं —

(१ क्लोरोफार्म—इसका उपयोग लसिका विशोधन तथा अन्य संवर्धन द्रव्यों के संरक्षण के लिये ½ प्र श प्रमाण में किया जाता है।

२ ग्लिसरीन—इसका उपयोग ५० प्र श प्रमाण में मृतजन्तुओं का टीकों के संरक्षण के लिये किया जाता है—जैसे, मसूरिका का टीका द्रव (Lymph-vaccine); इसके अतिरिक्त पुंजकारक लसिकाओं (Agglutinating serum)के संरक्षण के लिये किया जाता है।

३ फेनाल या—कार्बोलिक एसिड ½ प्र० श, द्रायलेसाल ०.२ प्र श के प्रमाणमें लसिकाओं और वैक्सीनों के संरक्षण के लिये प्रयुक्त होता है। आधे प्र श प्रमाण में लवणजल के साथ मिलाया हुआ कार्बोलिक लवणजल (Carbol saline) दूणजन्तुओं का वैक्सीन बनाने के लिये

प्रयुक्त होता है। ५ प्र श कार्बोलिक १ प्र श लायसोल, ५ प्र श क्रेसाल इनका उपयोग दूषित वस्तुओं की तथा हाथों की शुद्धि के लिये किया जाता है।

४ धातु के लवण—इनमें रसकपूर (Mercury perchloride) प्रधान है। इसका उपयोग एक हजार भाग में एक भाग (१ १०००) के प्रमाण में दूषित वस्तुओं की शुद्धि तथा हाथों की सफाई के लिये किया जाता जाता है।

निस्यन्दन (Filtration)—निथारकों का उपयोग विशेष करके द्रव पदार्थों से जीवाणुओं को स्वतंत्र करने के लिय किया जाता है। इस यन्त्र के भीतर कुसिलगर या पोर्सीलेन की बत्ती होती है, जिसमें से होकर द्रव पदार्थ बाहर आता है। जीवाणु यंत्र के भीतर रहते हैं और निस्यदित द्रव जीवाणु रहित हो जाता है। इसमें फायदा यह है कि निस्यदित द्रव में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। यद्यपि व्यवहार में अनेक प्रकार के निस्यदक प्रयुक्त होते हैं तथापि वर्केफिल्ड चेंबरलैंड, रायचेल और सीट्ज के यंत्रों का उपयोग अधिक किया जाता है। निस्यन्दकों का उपयोग करने के पूर्व भीतरी बत्ती का विशोधन करना आवश्यक है। निस्यदकों का उपयोग रक्तलसिका विशोधन करने के लिये तथा धनुस्तम्भ और रोहिणी के जीवाणुओं का विष उनसे पृथक् करने के लिय किया जाता है। इस पृथक्करण की आवश्यकता धनुस्तम्भ और रोहिणी प्रतिविष बनाने की विधि में होती है। विशोधन के सिवाय निस्यन्दकों का और भी एक उपयोग किया जाता है जो विशोधन क्रिया से बिलकुल उल्टा है। जिस समय किसी द्रव में जीवाणुओं की संख्या आवश्यकता से कम होती है उस समय उस द्रव में से थोड़ा द्रव निस्यन्दक द्वारा निकाला जाता है जिससे बाकी द्रव में उनकी संख्या बढ़ती है। हवा तथा अन्य वायुरूप पदार्थ विशोधित करने के लिये भी निस्यंदन विधि का उपयोग किया जाता है, परन्तु उस विधि में निस्यंदक

के लिये विशोधित रूई का प्रयोग होता है। एक नलिका में विशोधित रूई ठूँस ठूँसके भरकर उसमें से हवा निकालने से वह जीवाणुरहित होती है। कभी-कभी रूई के स्थान में शकरा और बालू का भी प्रयोग होता है।

निर्जीवाणुकता का धारण (Maintaince of sterility)—प्रयोग के काम में आनेवाले विविध उपकरण उपयुक्त पद्धतियों से विशोधित करने के पश्चात् उनको उसी निर्जीवाणुक स्थिति में रखना बहुत आवश्यक है अन्यथा बाह्य वातावरणसे वे फिर से दूषित हो जाते हैं। इसका प्रबंध विशोधन के साथ साथ ही करना पड़ता है। जैसे टेस्ट ट्यूब और फ्लास्क के मुख विशोधक में रखने के पहले ही रूई के डाटों से, जो कि एक इंच के लगभग भीतर और आधे इंच के लगभग बाहर रहता है बन्द किये जाते हैं। पेट्री डिश पिपेट इत्यादि प्रथम कागज में अच्छी तरह लपेटकर यन्त्र में रक्खे जाते हैं। छोटी छोटी चीजें तांबे के बक्स में रखकर विशोधित की जाती है। पिचकारी सुई के साथ एक उसके नाप की टेस्टट्यूब में रखकर और उसका मुख रूई और कागज से बन्दकर यन्त्र में रक्खी जाती है। विशोधित होने के पश्चात् भी ये सब उपकरण इसी अवस्था में रक्खे जाते हैं और जब इनकी आवश्यकता होती है तब कागज फाड़कर या रूई का डाट निकालकर काम में लाये जाते हैं।

निर्जीवाणुकर साधनों का कोष्ठक
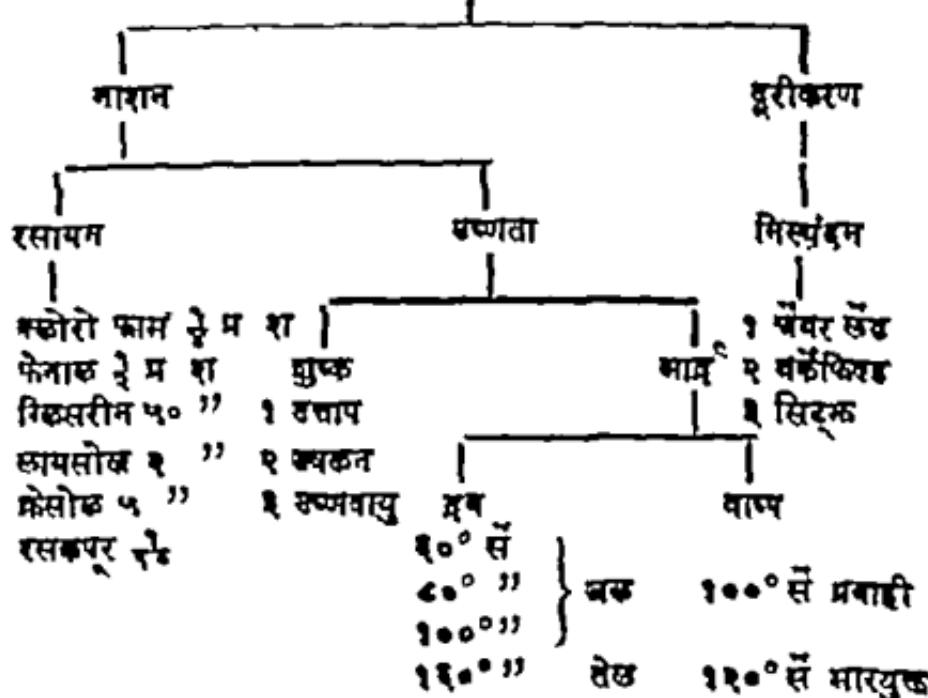
वर्धनक्षेत्र या वर्धनक (Culture media)

तृणाणुओं की कृत्रिम तौर पर वृद्धि करने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के द्रव्यों की आवश्यकता होती है। जिनपर इनकी वृद्धि की जाती है उनका नाम 'वर्धनक या वर्धन क्षेत्र' है। विकारी तृणाणु धातुओं और धातु रसों के भीतर अच्छी तरह परिवर्धित होते हैं। अतः कृत्रिम तौर पर इनकी वृद्धि करने के लिये ठीक ठीक शरीर धातुरसों के समान वर्धनक बनाना आवश्यक है। यद्यपि सोलहों आने शरीर रसों के समान वर्धनक बनाना असम्भव है तथापि अनेक वर्षों के अनुभवों, प्रयोगों और परीक्षाओं द्वारा उनके साथ मिलते जुलते अनेक वर्धनक

बनाये गए हैं और गृणाणुओं में भी परिस्थित्यनुवर्तित्व (Adaptabi lity) का कुछ गुण होने के कारण कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश गृणाणुओं की वृद्धि इन माध्यमों में करने में वैज्ञानिकों को काफी सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि गृणाणुओं में खाद्य द्रव्यों की आवश्यकताएँ परिस्थिति और कर्म के अनुसार बहुत कुछ बदल सकती है, तथापि इनके माध्यमों के लिए निम्न मौलिक वस्तुओं की उपस्थिति अनिवार्य होती है।

(१) नत्रजन—मनुष्य तथा अन्य प्राणियों का शरीर की धातुवृद्धि और क्षतिपूर्ति के लिये जैसे प्रोटीनों की जरूरत होती है वैसे ही गृणाणुओं को भी प्रोटीनों की जरूरत होती है। फर्क इतना ही है कि वे प्रोटीनों से सीधे आवश्यक नैट्रोजनयुक्त द्रव्य ग्रहण नहीं कर सकते इसलिये प्रोटीनों का कुछ पाचन करके उससे बनाया हुआ पदार्थ 'पेप्टोन' नैट्रोजन के लिये माध्यमों में डाल दिया जाता है। पेप्टोन में प्रोटीओज, पेप्टोन, पालीपेप्टाइड, अमिनो एसिड इत्यादि प्रोटीनों से बने हुए पदार्थ उपस्थित रहते हैं। पेप्टोन में फायदे ये हैं कि यह पानी में घुलता है, गरम करने पर जमता नहीं तथा इसमें गृणाणु भली भाँति पनपते हैं। कभी कभी इस प्रकार पाचित प्रोटीन का उपयोग न कर प्रोटीन का ही उपयोग संवर्धन द्रव्य में करते हैं और साथ साथ प्रोटीनों के पाचक पदार्थ (ऐन्जाइम ट्रिप्सिन) उसमें छोड़ते हैं। ये पदार्थ [illegible] (Digest [illegible]) कहलाते हैं। इसका प्रमाण [illegible] का माप (Hartl [illegible] br th) है। पेप्टोन के अतिरिक्त नैट्रोजन के लिये एमिनो अम्ल तथा अण्डे का भी उपयोग किया जाता है।—जैसे, कोस्कर का एमिनो माध्यम और डोरसेट का अंडे का वर्धनक।

(२) कार्बन—यह भी इनके शरीर का हो एक अंश होता है और कार्बोहैड्रेट के विकरण से इनको प्राप्त होता है। कुछ प्राणियाँ केवल कार्बोहैड्रेट के ऊपर भी भली भाँति पनप सकती हैं। माध्यमों

में कार्बन विविध शकराओं के या आलू के रूप में दिया जाता है।

(३) जीव द्रव्य—(Vitamines)—इनकी भी उन्हें बहुत आवश्यकता होती है और ये द्रव्य एकलसिका तथा शाकफलों के रस के रूप में वर्धनकों में मिलाये जाते हैं।

(४) खनिज द्रव्य—(Mineral salts) इनमें सोडियम, पोटासियम, कैल्सियम मैग्नेसियम, क्लोराइड, सल्फेट, फास्फेट ये मुख्य हैं।

(५) प्रतिक्रिया—(Reaction) केवल उपयुक्त पोषक वस्तुओं का उपयोग वर्धनकों में करने से उनकी उपचारक शक्ति नहीं बढ़ सकती, उनकी प्रतिक्रिया का भी बहुत विचार करना पड़ता है, क्योंकि तृणाणु वधनक प्रतिक्रिया के लिये बहुत सूक्ष्मवेदी (Sensitive) होते हैं। साधारणतया विकारी तृणाणु शरीर में बढ़ने के कारण शरीर रसों के समान किंचित् क्षारीय प्रतिक्रिया पसंद करते हैं। इसके अतिरिक्त किंचित् अम्ल या न अम्ल न क्षारीय प्रतिक्रियायुक्त वर्धनकों में भी ये बढ़ सकते हैं। वर्धनकों की प्रतिक्रिया पी एच (pH) में प्रदर्शित की जाती है। प्रतिक्रिया का ज्ञान लिटमस या फेनाल्फ्थालीन के द्वारा और उसके पी एच का नियन्त्रण तुलनाकर यन्त्रों (Hellige comparator) द्वारा किया जाता है।

(६) विशिष्ट पदार्थ—कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं जिनकी अभिवृद्धि के लिये उपयुक्त पदार्थों के अतिरिक्त विशिष्ट पदार्थों की आवश्यकता होती है। इसका एक कारण यह है कि इनमें से अधिक संख्य जातियों के लिये मृत्युपजीवी अस्तित्व (Saprophytic existance) होता ही नहीं, वे हमेशा परोपजीवी ही होते हैं। अत ऐसी जातियों के लिये वधनकों में शरीर रसों का उपयोग करना आवश्यक होता है। जैसे, मेनिंगोकोकाय के लिये जलोदरजल, यै, एनफ्लुएन्जा के लिये रक्त, डिफ्थीरिया (रोहिणी) के लिये रक्त रस इत्यादि।

इसके अतिरिक्त कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं कि इनको विशिष्ट रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। जैसे, यो ट्यूबरक्युलोसिस (क्षय) के लिये ग्लिसरीन, यो पेस्टिस (प्लेग) की स्तम्भोपी वृद्धि (Stalactite growth) के लिये घी मक्खन या चर्बी इत्यादि।

उत्तम वर्धनक के लक्षण—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि शरीर के बाहर कृत्रिम पद्धति से वृद्धि करने के लिये वर्धनकों में अनेक गुण होने चाहिये। संक्षेप में नीचे उनके मुख्य मुख्य गुण बताये जाते हैं। (१) उसमें उचित राशि में जल या जलांश हो। (२) वह जीवाणुरहित हो। (३) उसमें सब प्रकार के आवश्यक खाद्य द्रव्य उपस्थित हों। (४) उसकी प्रतिक्रिया भी उचित मर्यादा में हो। (५) उसके जलांश का प्रमाण ऐसा हो कि वह तृणाणु शरीररस के समान (समरसता Isotonicity) हो। (६) विशिष्ट तृणाणुओं के लिये विशिष्ट पदार्थ उपस्थित हों।

मौलिक वर्धनक (Basic media)—यद्यपि तृणाणुओं की खेती के लिये अनेक वर्धनक काम में लाए जाते हैं तथापि वे सब स्वतन्त्र न होकर कुछ इने गिने वर्धनकों से बनाये जाते हैं। ये इने गिने संभारी और मूलभूत वर्धनक मौलिक कहलाते हैं। इनके संगठन में निम्न द्रव्य प्रयुक्त होते हैं।

(१) जल—पानी के लिये विस्रवपातित जल या नल का जल काम में ला सकते हैं।

(२) मांस सूप (Broth)—इसके लिये बैल के हृदय का मांस लिया जाता है। यह मांस चर्बी और रक्तवाहिनियों से अलग करने पर काटने के यन्त्र में तीन चार अच्छी तरह काटकर महीन किया जाता है। उसमें से ५०० ग्राम लेकर एक १००० मी. ली. पानी में एक स्वच्छ मसूतपात्र में भिगोकर रात भर पात्र के बरफ में रक्खा जाता है। सवेरे उसको आधे घंटे तक उबाल कर और स्थान छानकर रख देते हैं।

यदि प्रमालमी से उसकी राशि कुछ कम हुई हो तो उतना विर्वन्याशित सब उसमें छोड़ देते हैं। आजकल यही द्रव्य ल्याब लैंको (Lab-Lemco) के नाम पर बाजार में बना बनाया मिलता है। यद्यपि माँस सूप में तृणाणुओं की दृष्टि से खाद्य पदार्थ नहीं के बराबर होते हैं, केवल कुछ खनिज द्रव्य होते हैं, तथापि उसमें उनकी अभिवृद्धि बढ़ाने की योग्यता होती है।

(३) पेप्टोन (Peptones)—प्रोटीन विश्लेषण में उत्पन्न होने वाले विविध रासायनिक पदार्थों का यह एक मिश्रण है। तृणाणुओं की दृष्टि से इसका मुख्य पदार्थ एमिनोएसिड्स (Amino acids) है। तृणाणु प्रोटीनों से नैट्रोजन का ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। उनके लिए नैट्रोजन सुलभ रूप में मिलना आवश्यक होता है। यह कार्य पेप्टोन की एमिनोएसिड्स करती हैं। ये तृणाणुओं के आवरण में से भीतर जाकर उनके शरीर और बल का संवर्धन करती हैं।

(४) जिलाटिन (Gelatin)—यह एक प्रोटीन है जो प्राणियों की तरुणास्थियों (Cartilages) से बनाया जाता है। यह घन पदार्थ है जो तरल वर्धनकों में डालने से वे भी ठोस हो जाते हैं। अर्थात् इसका उपयोग घन वर्धनकों (Solid media) के बनाने में होता है। जिलाटिन अल्ब्युमिनाइड (Albuminoids) वर्ग की प्रोटीन है जिसको तृणाणुओं की कुछ जातियाँ पाचित करती हैं और पाचन के समय उसको घन से द्रव में परिवर्तित (liquify) करती हैं।

(५) अगर अगर (Agar-agar)—अगर चीन, जापान, मलाया, लंका इनके पास समुद्र में मिलनेवाली लाल अल्गी (Red-algae) वर्ग की यह एक वनस्पति है। इस वनस्पति से बनाये हुए पदार्थ का व्यापारी नाम 'अगर अगर' है। जिलाटिन के समान इसका प्रयोग करने से तरल वर्धनक ठोस बन जाते हैं परंतु दोनों में फर्क यह है कि यह कार्बोहैड्रेट है और तृणाणुओं की क्रिया से यह तरल नहीं

बनता। तन्तु, चुकनी या पत्तर के रूप में अगर मिलता है।

अब नीचे मौलिक वर्धनक और उनके उपयोग दिये जाते हैं।

पोषकमांससूप (Nutrient broth, bouillon)—इसका संगठन—

मांससूप	१००० सी सी
पेप्टोन (विटेका)	१० ग्राम
सोडियम क्लोराइड (शुद्ध)	५ ग्राम

ये तीनों पदार्थ मिलाकर उनका मिश्रण वाष्प विशोधक में ३० मिमिट तक तप्त किया जाता है जिससे पेप्टोन भलीभाँति घुल जाता है। यह सूप प्रतिक्रिया में कुछ अधिक अम्ल होने के कारण उसमें सोडियम कार्बोनेट का संतृप्त द्रव थोड़ा-सा छोड़कर उसकी प्रतिक्रिया किंचित् क्षारीय की जाती है। उसको स्वच्छ बनाने के लिये उसमें अण्डे का श्वेतक (White) छोड़ देते हैं। उसको छानकर और वाष्पविशोधक में विशोधित कर रख देते हैं। यह वर्धनक अन्य मौलिकवर्धनकों की जननी है। इसका उपयोग अन्य वर्धनक बनाने के लिये, कृमाणुओं के बहिर्विषकी प्राप्ति तथा अन्य विद्राव्य विष की जाँच के लिये, तथा परीक्षाद्रव्य में जीवाणुओं की संख्या बहुत ही कम होने पर प्रारंभिक खेती के लिये किया जाता है।

पोषक अगर (Nutrient agar)—इसका संगठन—

पोषक मांस सूप	१००० सी. सी
अगर तन्तु	२०—३० ग्राम

ये दोनों पदार्थ मिलाकर वाष्प विशोधक में तप्त किये जाते हैं। जिससे अगर सूप में घुल जाता है। उसके पश्चात् उसकी प्रतिक्रिया किंचित क्षारीय करके उसको निर्मल बनाने के लिये उसमें अण्डेकाश्वेतक डालते हैं। तदनंतर छानकर और नलिकाओं में भरकर संदुक यन्त्र में उसका विशोधन ३० मिनिट तक करते हैं। ये नलिकायें कुछ खड़ी और

कुछ टेढ़ी (Sloping) रक्खी जाती हैं। टेढ़ी का उपयोग क्षेपवृद्धि के लिये और खड़ी का उपयोग वेध वृद्धि संयम वृद्धि, और व्याकि रोपण (पृष्ठ ४१ देखो) के लिये किया जाता है। इस वर्धनक का उपयोग प्रायः सभी विकारी तृणाणुओं की खेती के लिये तथा भिन्न तृणाणुओं के स्वतन्त्र संघ (Colonies) बनाने के लिये किया जाता है।

पोषक जिल्याटिन (Nutrient gelatin)—इसका संगठन

पोषक मांस यूप	१० ० सी सी
जिल्याटिन (शुद्ध)	१५०—२०० ग्राम

मांस यूप में जिल्याटिन मिलाकर उसको वाष्प विशोधक में थोड़ी देर तप्त करते हैं जिससे जिल्याटिन उसमें घुल जाता है। उसके पश्चात् प्रतिक्रिया ठीक करके उसमें अण्डे का श्वेतक मिलाकर कुछ समय तक वाष्पविशोधक में गरम किया जाता है। तदनंतर छानकर सविच्छेद विशोधन से विशोधित किया जाता है। जिल्याटिन का द्रवीभवन बिंदु (Melting point) काफी नीचा (२४ सें) होने के कारण उष्ण-कटिबंध में यह वर्धनक अच्छी तरह नहीं रह सकता। अतः जिल्याटिन को तरल बनानेवाले तृणाणुओं के अभ्यास को छोड़कर अन्यों के लिये इस वर्धनक का उपयोग बहुत कम किया जाता है।

विशिष्ट वर्धनक (Special media)—ये वर्धनक उपर्युक्त मौलिक वर्धनकों से ही प्रायः बनाये जाते हैं। जब साधारण वर्धनकों पर तृणाणुओं की वृद्धि अच्छी तरह नहीं हो सकती, जब अनेक जातियों के मिश्रण में से एक की वृद्धि अभीष्ट होती है तथा जब तृणाणुओं के विशिष्ट कार्यों को देखना होता है तब इन विशिष्ट वर्धनकों का उपयोग किया जाता है। इस दृष्टि से इनमें निम्न तीन प्रकार के पदार्थ मिलाये जाते हैं। (१) वृद्धर्धक (growth promoting) वे पदार्थ अभीष्ट तृणाणुओं की वृद्धि में बहुत सहायता देते हैं:—जैसे, ये,-पुम्स्तु पुम्सा के लिये रक्त, ये डिफ्थीरिया के लिये लसिका या अण्डा, ये,

मित किया जाता है। इसको भालू अगार कहते हैं। और इसमें समान राशि में रक्त अच्छी तरह मिलाकर उपर्युक्त पपनक बनाया जाता है। इसका उपयोग में पर्च्युसिस (कूकर खाँसी) की खेती के लिये किया जाता है।

(६) ड्यूडोने का रक्त क्षार अगार (Dieudonne's blood alkali agar)—यह पपनक अत्यंत क्षारीय होता है। इसमें प्रथम सोडीयम हैड्रोक्साइड का द्रव (८० ग्राम १००० सी सी पानी में) और फैब्रिन रहित रक्त सम भाग में मिलाकर वह आधे घंटे तकवाष्प विशोधक में विशोधित किया जाता है। यह विशोधन का कार्य जबतक उससे अमोनिया की गंध निकलती रहे तबतक कई बार करते रहना चाहिये। इसके तीन भाग (३०० सी सी) को मे सात प्रतिशत पोषक अगार के सात भागों (७०० सी सी) के साथ मिलाने से यह वर्धनक बनता है।

(७) टारोकोलेट अगार (Taurocholate agar)—इसका संघटन:—

पोषक अगार	१०० सी सी
सोडियम टारोकोलेट	१ ग्राम

इन दोनों का मिश्रण आधे घंटे तक वाष्प विशोधक में उष्ण किया जाता है। पश्चात् यदि आवश्यक हो तो छानकर और कंदुक पात्र में विशोधित करके रखा जाता है।

(८) डरहैम का पेप्टोन जल (Durham's peptone water)—संगठन:—

पेप्टोन	१० ग्राम
नमक (शुद्ध)	५ ग्राम
निर्जलपातित जल	१००० सी सी.

ये सब पदार्थ बनाकर अच्छी तरह पानी में घुलाये जाते हैं, पश्चात्

छानकर उसकी प्रतिक्रिया कुछ क्षारीय (pH8 4) रक्खी जाती है। अन्त से कॅम्बुक यन्त्र में विशोधित किया जाता है। ये तीनों (नं० ६-७-८) वर्धनक विसूचिका वक्राणु की खेती के लिये प्रयुक्त होते हैं।

(९) लोफ्लर का लसिका वर्धनक (Loffler's serum medium)—इसका संगठन —

पोषक मांसयूष	१०० सी सी
ग्लूकोज	१–२ ग्राम
बैल, घोड़ा या बकरी की लसिका	३०० सी सी

इनका मिश्रण लसिका साम्रीकरण यन्त्र में ७५° सें पर ६ घंटों तक गरम किया जाता है। पश्चात् वाष्पविशोषक में ९०° सें पर २० मिनिट तक तीन दिन विशोधित किया जाता है।

(१०) डार्सेट का अण्डे का वर्धनक (Dorset's egg medium)—प्रथम मुर्गी के चार अण्डों को रसकपूर के घोल से तथा मद्यकोहोल से अच्छी तरह विशोधित किया जाता है। पश्चात् इनको एक कांचपात्र में तोड़कर २५ सी सी पानी के साथ अच्छी तरह मिलाया जाता है। पश्चात् छानकर ७५° से ८० सें पर लसिका साम्रीकरण यन्त्र में इनको गाढ़ा जमाया जाता है। अन्त में ९०° सें पर सविच्छेद पद्धतिसे विशोधित किया जाता है।

(११) टेल्यूराइट वर्धनक (Tellurite medium)—प्रथम टेल्याराइट मिश्रण निम्न रीति से किया जाता है।—घोड़े की लसिका १०० सी सी लेकर ट्रिपसीन को ८ सी सी, और दो प्र श पोटासियम टेल्यूराइट का घोल १० सी सी लेकर इनका मिश्रण २४ घंटे तक ठण्डे में रखकर पश्चात् सीतस्क निस्यंदक से छानकर विशोधित किया जाता है। इससे वर्धनक निम्न पद्धति से बनाया जाता है।

पोषक अगर (उष्ण करके पश्चात् ५० सें तक शीतकृत)	१०० सी सी
टेल्यराइट मिश्रण	१० सी, सी

बित किया जाता है। इसको भास्रू अगर कहते हैं। और इसमें समान राशि में रक्त अच्छी तरह मिलाकर उपर्युक्त वर्धनक बनाया जाता है। इसका उपयोग में पर्ट्युसिस (कूकर खाँसी) की खेती के लिये किया जाता है।

(६) ड्यूडोने का रक्त क्षार अगर (Dieudonne's blood alkali agar)—यह वर्धनक अत्यंत क्षारीय होता है। इसमें प्रथम सोडीअम हैड्रोक्साइड का द्रव (४० ग्राम १००० सी सी पानी में) और फैब्रिन रहित रक्त सम भाग में मिलाकर वह आधे घंटे तकवाष्प विशोधक में विशोधित किया जाता है। यह विशोधन का कार्य जबतक उससे अमोनिया की गंध निकलती रहे तबतक कई बार करते रहना चाहिये। इसके तीन भाग (३०० सी सी.) दो से तीन प्रतिशत पोषक अगर के सात भागों (७०० सी. सी) के साथ मिलाने से यह वर्धनक बनता है।

(७) टारोकोलेट अगर (Taurocholate agar)—
इसका संघटन—

पोषक अगर	१०० सी सी
सोडियम टारोकोलेट	१ ग्राम

इन दोनों का मिश्रण आधे घंटे तक वाष्प विशोधक में तप्त किया जाता है। पश्चात् यदि आवश्यक हो तो छानकर और कंचुक यन्त्र में विशोधित करके रक्खा जाता है।

(८) डरहैम का पेप्टोन जल (Durham's peptone water)—संगठन—

पेप्टोन	१० ग्राम
नमक (शुद्ध)	५ ग्राम
तियक्पातित जल	१००० सी सी.

ये सब पदार्थ उबालकर अच्छी तरह पानी में घुलाये जाते हैं, पश्चात्

छानकर उसकी प्रतिक्रिया कुछ क्षारीय (pH8 4) रक्खी जाती है। अन्त से कंम्पुक यन्त्र में विशोधित किया जाता है। ये तीनों (नं० ६-७-८) वर्धनक विसूचिका जवाणु की खेती के लिये प्रयुक्त होते हैं।

(९) लोफ्लर का लसिका वर्धनक (Loffler's serum medium)—इसका संगठन—

पोषक मांसयूप	१०० सी. सी
ग्लूकोज	१–२ ग्राम
बैल, घोड़ा या बकरी की लसिका	३०० सी सी

इनका मिश्रण लसिका साम्द्रीकरण यन्त्र में ७५° सें पर ६ घंटों तक गरम किया जाता है। पश्चात् वाष्पविशोधक में १००° सें पर २० मिनिट तक तीन दिन विशोधित किया जाता है।

(१०) डार्सेट का अण्डे का वर्धनक (Dorset's egg medium)—प्रथम मुर्गी के चार अण्डों को रसकपूर के घोल से तथा मद्योहोल से अच्छी तरह विशोधित किया जाता है। पश्चात् उनको एक कांचपात्र में तोड़कर २५ सी सी पानी के साथ अच्छी तरह मिलाया जाता है। पश्चात् छानकर ७५° से ८० सें पर लसिका साम्द्रीकरण यन्त्र में उनको गाढ़ा बनाया जाता है। अन्त में १०° सें पर सविच्छेद पद्धतिसे विशोधित किया जाता है।

(११) टेल्यूराइट वर्धनक (Tellurite medium)—प्रथम टेल्याराइट मिश्रण निम्न रीति से किया जाता है।—घोड़े की लसिका १०० सी सी लापकर ट्रिपसीन को ८ सी सी, और दो प्र श पोटासियम टेल्यूराइट का घोल १० सी सी लेकर उनका मिश्रण २४ घंटे तक ठण्डे में रखकर पश्चात् सीटम्स निस्यंदक से छानकर विशोधित किया जाता है। इससे वर्धनक निम्न पद्धति से बनाया जाता है।

पोषक अगर (उष्ण करके पश्चात् ५० सें तक शीतकृत)	१०० सी सी
टेल्याराइट मिश्रण	१० सी सी

(२१) ग्लूकोज अगर—इसमें १०० सी. सी. पोषक अगर और २ ग्राम ग्लूकोज होता है। इसका भी उपयोग उपर्युक्त वर्धनक के समान अभिर्पण क्सौटी के लिए होता है। इसके अतिरिक्त घातसी तृणाणुओं की खेती के लिए भी किया जाता है।

(२२) लेड असाटेट अगर—इसमें पोषक अगर १०० सी. सी. डेक्स्ट्रोज एक ग्राम और १० प्रतिशत बेसीक लेड असीटेट का ३ सी सी. होता है। इसका उपयोग पैराटैफाइड के तृणाणुओं का आपस में पार्थक्य करने के लिए किया जाता है।

वर्धनकों का संग्रहण और वितरण (Storage and distribution)—उपर्युक्त पद्धतियों के अनुसार बनाए हुए वर्धनक प्रायः अर्लेनमेयर के फ्लास्क तथा पेच्दार ढक्कन (screw-cap d) की बोतलों में संग्रहीत किए जाते हैं और जब प्रयोग के लिये उनकी आवश्यकता होती है तब वे नलिकाओं में वो पैट्रीडिशों में लिये जाते हैं।

वर्धनकों का विशोधन—यह कर्म हमेशा आर्द्र उष्णता से किया जाता है। जिनमें शकराएँ, जिल्याटिन रक्तलसिका से पदार्थ नहीं होते, अर्थात् पोषक अगर या मांसयूप जैसे वर्धनक क्युक यन्त्र में भारयुक्त वाष्प से विशोधित किये जाते हैं। जिनमें जिल्याटिन शर्करा होती हैं, उनका विशोधन वाष्प विशोधक में प्रवाही वाष्प से किया जाता है। जिनमें लसिका अल्ब्यूमिन इत्यादि अधिक उष्णता पर जमने वाले पदार्थ होते हैं उनका विशोधन ६०°-८०° से उष्णता पर सकापगाह में या लसिका सान्द्रीकरण यन्त्र में सविच्छेद पद्धति से किया जाता है। [1]टैसूराइट वर्धनक निस्यन्दक द्वारा भी विशोधित किये जाते हैं। आजकल अनेक प्रकार के वर्धनक वरोज वेकस्म, मेयर्ड ब्याटलाक इत्यादि कंपनियों द्वारा बने बनाये मिलते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर आसानी से बनाए जा सकते हैं।

पर्यनकों में तृणाणुरोपण (Inoculation of media)

उपर्युक्त पद्धतियों से विशोधित पात्रों में रक्खे हुए पर्यनकों में तृणाणुओं की जो बोआई होती है उसे रोपणकर्म कहते हैं। बीजारोपण या वृक्षारोपण के लिये जैसे अनेक उपकरणों की आवश्यकता होती है वैसे तृणाणु रोपण के लिये भी अनेक उपकरणों की आवश्यकता होती है।

रोपण के उपकरण (inst[illegible]) (१) प्लाटीनमपाश (loop)—इसके लिये प्लाटीनम का तार न बहुत पतला न बहुत मोटा होना चाहिये। इसकी लंबाई तीन इंच होती है। एक सिरा कांच के दण्ड (rod) में लगा रहता है। दूसरा सिरा आधा सेंटीमीटर व्यास के पाश के समान टेढ़ा किया जाता है। पाश पूर्ण वर्तुलाकार होना चाहिये अन्यथा रोप्य द्रव्य का बूँद उठाने में यह असमर्थ होता है। उपयोग करने से पहले सम्पूर्ण तार तथा तारसमीपवर्ती दण्डे का भाग ज्वाला से पूर्ण विशोधित करना चाहिये। फिर ठंडा होने के बाद रोपण के लिये काम में लाना चाहिये। रोपण समाप्त होने पर उसको ज्वाला में विशोधित करके रखना चाहिए।

(२) प्लाटीनम तार—प्लाटीनम पाश के समान यह होता है केवल पाश नहीं होता। इसका उपयोग वेध वृद्धि के लिये तथा एक एक लव को उठाने के लिये किया जाता है।

(३) लम्बा सरल तार—दण्डे के ऊपर लगाया हुआ ३॥ इंच लम्बाई का यह तार होता है। इसका उपयोग सातमी तृणाणुओं की वृद्धि करते समय गंभीर वेध वृद्धि के लिये किया जाता है।

(४) मोटा पाशयुक्त तार—इसका उपयोग थूक जैसे भारी और चिपचिपे द्रव्य को तथा चिपचिपे लवों को उठाने के लिये किया जाता है।

(५) कुन्तमुख तार—यह एक मोटा तार होता है। इसका एक सिरा भाले के नोक के समान रहता है। इसका उपयोग शरीर की

धातुओं के छेदन के लिये तथा कठिन चिपचिपे संघों को उठाने के लिये किया जाता है।

(६) छेदन पत्र या चक्कू (Scalpel)—शरीर की विकृत धातुओं के छेदन के लिये इसका उपयोग किया जाता है। इसका विशोधन अल्कोहोल में डुबोकर जलाने से होता है।

(७) केशनलिका (Capillary pipettes)—इनका उपयोग गोलुची के वर्धनक, सिद्ध मांस वधनक में रोपण के लिये किया जाता है। नापवाली (Graduated) नलिकाओं का उपयोग जब रोप्य द्रव्य की निश्चित राशि काम में लायी जाती है (जैसे कि जल परीक्षण में) तब किया जाता है।

रोपण की पद्धतियाँ (Methods of inoculaton)—
तृणाणुसंवर्धन की आवश्यकता पड़ने पर रोप्य द्रव्य का रोपण तृणाणु जाति और वर्धनक की स्थिति के अनुसार भिन्न पद्धतियोंसे किया जाता है।

(१) मंथन वृद्धि (Shake culture)—यह पद्धति तरल वर्धनक के रोपण के लिए काम में लायी जाती है। जब वर्धनक अगर या जिलाटिन का पाने घन होता है तब उसको प्रथम ५०° से उष्णता तक गरम करके तरल बनाया जाता है। ऐसे तरल वधनक में प्लाटीनम पाश में लिया हुआ रोप्य द्रव्य उसीसे प्रविष्ट किया जाता है और पश्चात् उस नलिका को दोनों हथेलियों के बीच में लेकर मथानी के समान हिलाया जाता है। इससे रोप्य द्रव्य संपूर्णवधनक में अच्छी तरह मिल जाता है। किंवा रोप्य द्रव्य युक्त पाश वर्धनक के पृष्ठ भाग से कुछ अन्तर पर नलिका के भीतर लगाया जाता है। और पश्चात नलिका थोड़ी से टेढ़ी करके उपर्युक्त पद्धति से हाथों से हिला करके मिलाया जाता है।

(२) वेधन वृद्धि (Stab culture)—इसके लिये खड़ी (Upright) नलिकाओं में जमाये हुए जिलाटिन या अगर वधनकों

का उपयोग किया जाता है। ऐसे वर्धनक के मध्य में रोप्य द्रव्य में डुबाया हुआ लम्बा तार घुसेड़ दिया जाता है। यह पद्धति अधिकतर वातघ्नी तृणाणुओं की वृद्धि के लिये प्रयुक्त होती है। उस समय वेधन जरा गम्भीर (Deep) करना लाभप्रद होता है। उसके पश्चात् पृष्ठ भाग के पास का सुराख वर्धनक को गरम करके बंद किया जाता है। जिल्याटिन को तरल बनानेवाले तृणाणुओं की पहचान के लिये भी इसी पद्धति का उपयोग किया जाता है।

(३) लेपन वृद्धि (Stroke culture)—इसके लिये टेढ़ी नलिकाओं में जमाये हुए आगर या जिल्याटिन वर्धनकों का उपयोग किया जाता है। नलिका टेढ़ी रखने से पृष्ठ भाग अधिक मिलता है। इसमें प्लाटीनम पाश से लिया हुआ रोप्य द्रव्य वर्धनक के पृष्ठ भाग पर उसीके द्वारा पतले लेपके समान धीरे धीरे फैलाया जाता है।

जिस समय जीवाणु वर्धन के लिये अधिक स्थान की आवश्यकता होती है उस समय नलिका के स्थान में स्थालीसंपुट का उपयोग किया जाता है। स्थालीसंपुट (Petri dish) दो काँच के स्थालियों का बनता है। इसमें एक स्थाली मोटी होती है जो ढक्कन का काम करती है। इसमें रोपण, लेप या लोम पद्धति से ही किया जाता है। रोपण करने के बाद ढक्कन बन्द किया जाता है। स्थाली-रोपण का उपयोग शुद्ध वृद्धि के लिय तथा संघ के गुण धम जानने के लिये किया जाता है। इस पद्धति को स्थाली रोपण (Plating) कहते हैं।

तृणाणुओं का उष्मपोषण (Incubation)

इस प्रकार वर्धनकों में रोपण करने के बाद जिस विशिष्ट तापक्रम पर उनकी उत्तम वृद्धि होती है, उसपर (पृष्ठ २५) थोड़े समय के लिये रोपित वर्धनक द्रव्य रखने पड़ते हैं। इस क्रिया का नाम 'उष्मपोषण' है। सामान्यतया विकारी जीवाणु ३७.५° सें० तापक्रम पर रक्खे जाते

है। पोषण के लिये एक यन्त्र की आवश्यकता होती है। जिसका नाम 'अण्डपोषक' (Incubator) है। इसमें इच्छित तापक्रम स्थिर रखने के लिये प्रबन्ध होता है। इसमें २४ ७० घंटे तक इष्ट ताप क्रमपर रोपित नलिका या स्थालि रखने से जीवाणुओं की वृद्धि अधिक-से अधिक होती है। जब पूर्ण वृद्धि होती है तब केवल आँखों से दिखाई देती है। पहले बतलाया जा चुका है कि एक दिन में एक जीवाणु से असंख्य जीवाणु उत्पन्न होते हैं। ये सर्व स्थान स्थान में एकत्रित रहते हैं। इसका नाम 'संघ' है। भिन्न भिन्न प्रकार के जीवाणु के संघ भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

वातभी तृणाणुओं की खेती (Anaerobic culture)

वातभी तृणाणु प्राणवायु की उपस्थिति में अपनी वृद्धि नहीं कर सकते। अतः उनके लिये प्राणवायु विरहित वातावरण निर्माण करना पड़ता है। ऊपर जो विविध वर्धनक बताये गये हैं उनमें, जमावट के समय या उसके पश्चात् प्राणवायु का कुछ न कुछ अंश मिला हुआ रहता ही है। अतः उनके अन्दर की प्राणवायु भी निकालनी पड़ती है। ये दोनों काम निम्न तरीकों से किए जाते हैं। वर्धनक को गरम करके भीतर की प्राणवायु को निकाल देना या पंप के द्वारा चारों तरफ के वातावरण की वायु को खींच करके निर्वात स्थिति (Vacuum) उत्पन्न करना; वर्धनक के चारों तरफ के साधारण वातावरण को हटाकर उसके बदले नैट्रोजन, हैड्रोजन या अन्य निष्क्रिय वायु का आवरण जमाना (साधारणतया हैड्रोजन का ही उपयोग अधिक किया जाता है) रासायनिक पदार्थों के द्वारा, प्राणियों की धातु के टुकड़ों के द्वारा, विशिष्ट जीवाणुओं (जैसे, बै सासिलीमोसस) के द्वारा या स्वजन के द्वारा प्राणवायु को शोषित करना। इन तरीकों का उपयोग वातभी वर्धन में भिन्न पद्धतियों से किया जाता है।

(१) लिबोरियस की पद्धति (Liborius's method)—इसमें एक नलिका में आधे तक ग्लूकोज अगर वर्धनक लेकर कुछ मिनट तक वह उबाला जाता है जिससे भीतर घुली हुई प्राणवायु बाहर निकल जाती है। पश्चात् कुछ मिनटों तक वह नलिका ४८° ग तापक्रम के जलावगाह में रक्खी जाती है। तदनन्तर इसमें वातमियों का रोपण किया जाता है। अन्त में ठंडे पानी में तुरन्त यह वर्धनक गाढ़ा बनाया जाता है। इसमें वातमियों की वृद्धि वर्धनक की गहराई में होती है। वर्धनक की द्रवावस्था में रोपण करने के बदले इसको शीत से गाढ़ा बनाने के बाद गम्भीर वेधन (Deep stab) के द्वारा भी रोपण किया जा सकता है। वेधन मार्ग को पृष्ठ भाग के पास का द्वार तरकोलद्रव द्वारा बन्द करने से या वर्धनक के ऊपर जीवाणुरहित वैसलीन (Sterile Vaseline) की पतली तह जमाने से निर्वातता बनी रहती है और वातमी तृणाणुओं की वृद्धि होने में और सहायता मिलती है।

(२) बुलक की कुम्भ पद्धति—(Bulloch's jar method)—इस पद्धति में वातमी रोपित नलिकाएँ बुलककुम्भ के नीचे रक्खी जाती हैं। यह कुम्भ काँच की पटरी पर नीचे वैसलीन लगाकर इस प्रकार चिपकाया जाता है कि नीचे से वायु भीतर नहीं जा सकती। इसके ऊपर दो रास्ते होते हैं। एक से भीतरी हवा पंप के द्वारा बाहर खींची जाती है और भीतर निर्वात स्थिति बनायी जाती है। फिर दूसरे रास्ते से भीतर हैड्रोजन को भरती की जाती है। इसके पश्चात् दोनों रास्ते बन्द किए जाते हैं। भीतरी प्राणवायुको निःशेष करने के लिए कुम्भ के भीतर नलिकाओं के पास पैरोगैलिक एसिड और सोडे का मिश्रण भी रक्खा जाता है।

(३) तरोजी या नोगूची पद्धति (Tarozzi's or Noguchi's method)—इसमें सद्योहत खरगोश के वृक्क, यकृत, प्लीहा इत्यादि अंगों का जीवाणुरहित टुकड़ा वर्धनक की तली में रक्खा जाता

है। मळिका में वर्धनक दो सिहाई लिया जाता है और इसके ऊपर जीवाणुरहित वैसलीन की सह आधे इंच के करीब जमायी जाती है। वृक्क के टुकड़े से भीतरी प्राणवायु शोषित होती है और वैसलीन से बाहरी प्राणवायु का संबंध विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार वधनक में वातमी तृणाणुओं की वृद्धि के लिए उत्तम स्थिति हो जाती है। तरोस्की तथा नोगूची पद्धति में वर्धनक तरल होते हैं। तरोस्की में मांसयूप और नोगूची में जलोदर जल काम में लाया जाता है। इन पद्धतियों का उपयोग यक्ष्मायु वृद्धि के लिये लाभप्रद होता है।

(४) राबर्टसन की सिद्धमांस वर्धनक की पद्धति (Robertson's Cooked meat medium)—इसमें प्राणियों के ताजे अंग के बदले सिद्धमांस (Cooked meat) का उपयोग किया जाता है। सिद्धमांस में ताजे अंग के समान प्राणवायु ग्रहण की शक्ति होती है। इस पद्धति में विशिष्ट पद्धति से तैयार किया हुआ सिद्धमांस का टुकड़ा पोषकमांस सूप की नली में रक्खा जाता है।

(५) बुचनर की पद्धति (Buchner's method)—इस पद्धति में बुचनर की एक बृहत् मलिका में सोडियम हायड्रोक्साइड युक्त पायरोग्यालिक एसिड रक्खा जाता है और उसमें दूसरी छोटी मलिका वातमी जीवाणु रोपित रक्खी जाती है। अंत में बुचनर की नलिका का मुख रबर की डाट से बिलकुल बंद किया जाता है। बंद करने के बाद छोटी नलिका के चारों ओर जो आक्सीजन होती है उसको पायरोग्यालिक एसिड शोष लेता है।

(६) ज्वलन पद्धति (Combustion method)—इस पद्धति में विद्युत् प्रवाह के द्वारा वायुमण्डल की प्राणवायु हैड्रोजन के साथ संयुक्त की जाती है। इसके लिये म्याकिन्टोश और फिल्डे के कुम्भ की (McIntosh and Fildes' jar) आवश्यकता होती है। इस कुम्भ में विद्युत् प्रवाहित करने का तथा भीतर हैड्रोजन प्रविष्ट करने का

प्रबंध रहता है। प्रथम वर्धमक को कुम्भ के भीतर रखकर उसके पश्चात् उस कुम्भ में हैड्रोजन भर दिया जाता है। उसके पश्चात् विद्युत प्रवाहित की जाती है। विद्युत प्रवाह से भीतरी प्राणवायु और हैड्रोजन धीरे-धीरे संयुक्त होती है और पानी बनता है। फिर हैड्रोजन भरने के पश्चात् विद्युत प्रवाहित की जाती है। इस प्रकार अनेक बार करने से भीतरी प्राणवायु नि:शेष हो जाती है।

क्लिवेरिमस तरोकी नोगूची या राबर्टसन की पद्धति में बुकक-का या म्याकिन्टोश और फिल्डे के कुम्भ का उपयोग करने से वातनी तृणाणुओं की वृद्धि में अधिक सफलता मिलती है।

तृणाणुओं का पृथक्करण (Isolation of bacteria)

तृणाणुओं की खेती का मुख्य उद्देश्य उनकी शुद्ध वृद्धि (Pure-culture) प्राप्त करने का होता है। क्योंकि उनकी पहचान तथा जीवन परिचय के लिये शुद्ध वृद्धि बहुत ही आवश्यक होती है। रोप्य या परीक्ष्य द्रव्य में जब एक ही जाति के तृणाणु उपस्थित रहते हैं तब उनकी खेती करने पर अनायास शुद्ध वृद्धि मिल जाती है, परन्तु रोप्य द्रव्य में प्राय: अनेक जातियाँ उपस्थित होने के कारण, जब तक उसके लिये प्रयत्न न किया जाय तब तक, शुद्ध वृद्धि मिलना असंभव होता है। मिश्रित तृणाणुओं से अमिश्र स्थिति में उनको प्राप्त करने का जो यह कर्म होता है उसको पृथक्करण कर्म कहते हैं। यह कर्म भिन्न पद्धतियों से किया जाता है।

(१) स्थलीरोपण (Plating)—इस पद्धति में स्थाली-संपुट के भीतर फैलाये हुए वर्धमक के पृष्ठ भाग, पर एक ही बार प्लाटि-नम के तार या पाश से लिये हुए रोप्य द्रव्य का ज़रा सा अंश अनेक समानान्तर रेखाओं में या धाराओं में फैलाया जाता है। प्रारम्भिक रेखाओं में तृणाणु मिश्रित होते हैं, परन्तु अन्तिम रेखाओं में वे बहुत

है। मक्षिका में वर्धनक को विहाई किया जाता है और उसके ऊपर जीवाणुरहित वैसलीन की तह आधे इंच के करीब बनायी जाती है। शुष्क के टुकड़े से भीतरी प्राणवायु शोषित होती है और वैसलीन से बाहरी प्राणवायु का संबंध विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार वर्धनक में वातभी तृणाणुओं को वृद्धि के लिए उत्तम स्थिति हो जाती है। हरोस्की तथा नोगुची पद्धति में वर्धनक तरल होते हैं। हरोस्की में मांसरूप और नोगुची में जलोदर जल काम में लाया जाता है। इन पद्धतियों का उपयोग वातवायु वृद्धि के लिये लाभप्रद होता है।

(४) राबर्टसन की सिद्धमांस पचनक की पद्धति (Robertson's Cooked meat medium)—इसमें प्राणियों के ताजे अंग के बदले सिद्धमांस (Cooked meat) का उपयोग किया जाता है। सिद्धमांस में ताजे अंग के समान प्राणवायु ग्रहण की शक्ति होती है। इस पद्धति में विशिष्ट पद्धति से तैयार किया हुआ सिद्धमांस का टुकड़ा पोषकमांस सूप की नली में रक्खा जाता है।

(५) बुचनर की पद्धति (Buchner's method)—इस पद्धति में बुचनर की एक बृहत् नलिका में सोडियम हायड्रोक्साइड युक्त पायरोग्यालिक एसिड रक्खा जाता है और उसमें दूसरी छोटी नलिका वातभी जीवाणु रोपित रक्खी जाती है। अन्त में बुचनर की नलिका का मुख रबर को डाट से बिलकुल बंद किया जाता है। बंद करने के बाद छोटी नलिका के चारों ओर जो आक्सीजन होती है उसको पायरोग्यालिक एसिड शोष लेता है।

(६) ज्वलन पद्धति (Combustion method)—इस पद्धति में विद्युत् प्रवाह के द्वारा वायुमण्डल की प्राणवायु हैड्रोजन के साथ संयुक्त की जाती है। इसके लिये म्याकिन्टोश और फिल्डी के कुम्भ की (McIntosh and Fildes'jar) आवश्यकता होती है। इस कुम्भ में विद्युत् प्रवाहित करने का तथा भीतर हैड्रोजन प्रविष्ट करने का

प्रबंध रहता है। प्रथम वर्धमक को कुम्भ के भीतर रखकर उसके पश्चात् उस कुम्भ में हैड्रोजन भर दिया जाता है। उसके पश्चात् विद्युत प्रवाहित की जाती है। विद्युत प्रवाह से भीतरी प्राणवायु और हैड्रोजन धीरे धीरे संयुक्त होती है और पानी बनता है। फिर हैड्रोजन भरने के पश्चात् विद्युत प्रवाहित की जाती है। इस प्रकार अनेक बार करने से भीतरी प्राणवायु निःशेष हो जाती है।

हिबोरिमस तरोमी नोगुची या राबर्टसन की पद्धति में बुलक्का या म्याकिन्टोश और फिल्डे के कुम्भ का उपयोग करने से घातमी तृणाणुओं की वृद्धि में अधिक सफलता मिलती है।

तृणाणुओं का पृथक्करण (Isolation of bacteria)

तृणाणुओं की खेती का मुख्य उद्देश्य उनकी शुद्ध वृद्धि (Pure-culture) प्राप्त करने का होता है। क्योंकि उनकी पहचान तथा जीवन परिचय के लिये शुद्ध वृद्धि बहुत ही आवश्यक होती है। रोप्य या परीक्ष्य द्रव्य में जब एक ही जाति के तृणाणु उपस्थित रहते हैं तब उनकी खेती करने पर अनायास शुद्ध वृद्धि मिल जाती है, परन्तु रोप्य द्रव्य में प्रायः अनेक जातियाँ उपस्थित होने के कारण, जब तक उसके लिये प्रयत्न न किया जाय तब तक, शुद्ध वृद्धि मिलना असंभव होता है। मिश्रित तृणाणुओं से अमिश्र स्थिति में उनको प्राप्त करने का जो यह कर्म होता है उसको पृथक्करण कर्म कहते हैं। यह कर्म भिन्न पद्धतियों से किया जाता है।

(१) स्थलीरोपण (Plating)—इस पद्धति में स्थाली-संपुट के भीतर फैलाये हुए वर्धमक के पृष्ठ भाग, पर एक ही बार प्लाटिनम के तार या पाश से लिये हुए रोप्य द्रव्य का धारा या अंश अनेक समानान्तर रेखाओं में या धारखाओं में फैलाया जाता है। प्रारम्भिक रेखाओं में तृणाणु मिश्रित होते हैं, परन्तु अन्तिम रेखाओं में ये बहुत

अलग अलग हो जाते हैं, जिससे अण्मपोषण करने पर उनके सूक्ष्म संघ मिल जाते हैं।

(२) विरल रोपण पद्धति (Dilution method)—तीन स्वतन्त्र मक्षिकाओं में जिलेटिन या अगर लेकर उष्णता से उसको तरल बनाया जाता है। जिलेटिन की मक्षिकाएँ ३८ से उष्णता पर और अगर वाली मक्षिकाएँ ४५ सें. उष्णता पर रक्खी जाती हैं फिर क्रम से इनके ऊपर एक दो, तीन नंबर लगाये जाते हैं। तत्पश्चात् जिस द्रव्य के मिश्र वृणाणुओं का पृथक्करण करना होता है उसमें से आधा बूंद प्लाटिनम के विशोधित तार द्वारा नं० १ मक्षिका में मिश्र करके खूब हिलाया जाता है जिससे वे संपूर्ण द्रव्य में फैल जाते हैं। तदनंतर नं० १ मक्षिका से प्लाटिनम तार द्वारा आधा बूँद लेकर नं० २ मक्षिका में मिश्र करके खूब हिलाया जाता है। उसके बाद तीन स्थालिसंपुट लेकर उनमें एक एक मक्षिका का द्रव्य छोड़ा जाता है और प्रत्येक संपुट पर मक्षिका नंबर लगाया जाता है। इस प्रकार नंबर लगाने के बाद तीनों संपुटों को अण्मपोषक में रखते हैं। इस प्रकार जिलेटिन में २४ ४८ घंटे के अंदर और अगर में १८ २० घंटे के अंदर संघ स्पष्ट होते हैं।

तीन स्थालिसंपुट में पृथक् करने का उद्देश यह है कि यदि रोप्य या परीक्ष्य द्रव्य में मिश्र जीवाणुओं की संख्या बहुत हो तो प्रथम स्थालिसंपुट में विभक्त संघ मिलना कठिन होता है परंतु तीन नंबर के संपुट में जरूर विभक्त संघ मिल सकते हैं। यदि रोप्य द्रव्य में जीवाणुओं की संख्या थोड़ी हो तो प्रथम संपुट में भी विभक्त संघ मिल सकते हैं।

विरल रोपण का और भी एक तरीका है। इसमें चार पाँच छोटी मक्षिकाओं में निर्जीवाणुक जल ९५ सी सी लिया जाता है। फिर प्रत्येक के ऊपर नम्बर लगाए जाते हैं। फिर प्रथम मक्षिका के जल में रोप्य द्रव का.०५ सी सी अच्छी तरह मिलाया जाता है। उसके पश्चात् नम्बर १ की मक्षिका के जल से ०.०५ सी सी को दूसरे नम्बर

की नलिका के जल में अच्छी तरह मिलाया जाता है। इस प्रकार अन्तिम नलिका तक तृणाणुओं का विरलीकरण किया जाता है। अन्त में प्रत्येक नलिका का जल स्वतन्त्र स्थाली में रोपित किया जाता है और नलिका के नम्बर स्थालियों के ऊपर लगाये जाते हैं। उष्ण पोषण करने पर स्थालियों में तृणाणुओं के संघ उत्पन्न होते हैं।

विरलरोपण पद्धति का उपयोग मुख्यतया जल, दूध रक्त इनमें होनेवाले तृणाणुओं की जाँच के लिये किया जाता है।

(३) विशिष्ट वर्धनकों का उपयोग—इन वर्धनकों में वृद्धिकारक द्रव्य होने के कारण अभीष्ट तृणाणुओं की वृद्धि होती है और वृद्धिरोधक द्रव्य के कारण अनिष्ट तृणाणुओं की वृद्धि रुक जाती है। जैसे, कोकाय और मान्थिकवण के लिये ल्याफ्लर (लोफ्लर) का वर्धनक, विसूचिका वक्राणु के लिये डय़ डेनो का वर्धनक और रोहिणी बैसीलाय के लिये टेल्यूराइट वर्धनक है।

(४) उष्णता का उपयोग—इस पद्धति का उपयोग जहाँ पर स्पोर और मौलिद (Vegetative) दोनों अवस्थाओं के तृणाणु उपस्थित रहते हैं वहाँ पर स्पोरों से शुद्ध वृद्धि प्राप्त करने के लिये किया जाता है। स्पोर मौलिद स्थिति की अपेक्षा अधिक उष्णता सहते होते हैं। ऐसी अवस्था में यदि इनका मिश्रण ८० से उष्णता पर आधे घंटे तक तप्त किया जाय तो सब मौलिद मर जाते हैं और स्पोर बच जाते हैं जो आगे चलकर वर्धित होते हैं।

(५) प्राणियों में रोपण (Animal inoculation)—इस पद्धति में इस बात का फायदा उठाया जाता है कि प्रयोगशाला के कुछ प्राणि तृणाणुओं की कुछ जातियों के लिये बहुत ही ग्रहणशील (Susceptible) होते हैं। जैसे न्यूमोकोकाय के लिये चूहा। यदि न्यूमोकोकाय के साथ अन्य जीवाणुओं का मिश्रण हो, जैसे कि हमेशा थूक में हुआ करता है तो उस मिश्रण का जरा सा अंश चूहे में रोपित

करने पर यह चूहा न्यूमोकोकायजनित तृणाणु दोषमयता से (Septicaemia) १७ १६ घंटे में मर जाता है और उसके हृदय के रक्त में न्यूमोकोकाय की शुद्ध वृद्धि मिलती है। वैसे ही अप पैसोजाय अन्य जीवाणुओं से मिश्रित हो तो गिनीपिग में रोपित करने पर शुद्ध वृद्धि के रूप में मिल सकते हैं। विशेष विवरण के लिये नीचे विकारकारिता देखो।

संघ (Colony)—उपर्युक्त पद्धतियों द्वारा, विशेष करके प्रथम और द्वितीय पद्धतियों द्वारा मिश्रित तृणाणु एक दूसरे से बहुत दूर दूर हो जाते हैं। पहले बतलाया जा चुका है कि (पृष्ठ १४) एक दिन में एक जीवाणु से करोड़ों जीवाणु बन जाते हैं। एक व्यक्ति से उत्पन्न होने वाले ये सब व्यक्तियां आपस में एकत्रित रहते हैं और इस समुदाय को संघ कहते हैं। यद्यपि तृणाणु अदृश्य होते हैं तो भी उनके संघ केवल आँखों से दिखाई देते हैं। अधिक से अधिक उनको देखने के लिये एक ताल (Lens) की आवश्यकता होती है। प्रत्येक जाति के तृणाणुओं के संघ आकार मान (Size), उद्गम (Elevation) परिसर (Edge), प्रकाश गुण (Optical characters) और रंग इत्यादि बातों में एक दूसरे से पृथक होते हैं। इसलिये मिश्रित तृणाणु जब विरलरोपण कर्म से एक दूसरे से पृथक किए जाते हैं तब उनके संघ पृथक् पृथक् बनते हैं और संघों को देखकर उनका आपस में पार्थक्य किया जाता है। इस तरह पृथक संघ बनने के बाद उनको प्लाटिनम पाश से उठाकर फिर से भवित वर्धनक में अलग अलग वर्धित किया जाता है। तब शुद्ध वृद्धि मिल जाती है। संक्षेप में मिश्रित तृणाणुओं से शुद्ध वृद्धि प्राप्त करने के लिए दो बार काम करना पड़ता है। प्रथम बार मिश्रित तृणाणुओं को विरल रोपण कर्म से अलग अलग करना और दूसरी बार इस तरह अलग हुए तृणाणुओं को स्वतन्त्र रूप से वर्धित करना।

विकारकारिता (Pathogenicity)

ग्रहणशील (Susceptible) प्राणियों में विकार उत्पन्न करने की जीवाणुओं में जो शक्ति होती है विकारकारिता कहलाती है। इसका तात्पर्य यह है कि विकारी जीवाणु भी सब प्राणियों में विकार उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। विकारकारिता की कसौटी (Test) प्राणियों में जीवाणुओं का प्रवेश उचित मार्ग से करके की जाती है। इसको प्राणि रोपण कर्म (Animal inoculation) कहते हैं। मानवी वैद्यक में मानवी विकृति विज्ञान का परिचय होने के लिये मनुष्यों का ही उपयोग प्रयोग के लिये होना उचित है, परन्तु मनुष्यों के ऊपर इस प्रकार प्रयोग करना अशुभ के विरुद्ध होने से उनका उपयोग नहीं किया जाता है। तिसपर भी कुछ अपराधियों और स्वयंसेवकों के ऊपर इसप्रकार के प्रयोग किये गए थे। यथा मलेरिया में डा० दरबने मानसन और आर्जवारम नामक विद्वानों ने प्रत्यक्ष अपने शरीर में मच्छर दंश द्वारा विषम ज्वर के कीटाणु प्रविष्ट करके विषमज्वर से उनका सम्बन्ध सिद्धप किया। परन्तु ये सब अपवाद हैं और नित्यकर्म के लिये मनुष्यों का उपयोग नहीं हो सकता। अतः भिन्न प्राणियों का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर प्रयोगशाला में किया जाता है। ये प्राणि प्रयोगशाला में सदैव पाले जाते हैं।

गिनीपिग (Guinea-pig)—यह सबसे अधिक काम में आने वाला प्राणी है। इसका उपयोग, यक्ष्म, रोहिणी, विशुचिका, प्लेग, टेटनस, चक्राणु जन्य कामला इत्यादि रोगों के निदान के लिये किया जाता है।

श्वेत चूहा (White rat)—इसका उपयोग गिनीपिग के समान होता है।

श्वेत चुहिया (White mouce)—इसका उपयोग न्युमो-

करने पर यह चूहा न्यूमोकोकायजनित तृणाणु दोषमयता से (Septic aemia) १२ १६ घंटे में मर जाता है और उसके हृदय के रक्त में न्यूमोकोकाय की शुद्ध वृद्धि मिलती है। वैसे ही क्षय बैसीलाय अन्य जीवाणुओं से मिश्रित हो तो गिनीपिग में रोपित करने पर शुद्ध वृद्धि के रूप में मिल सकते हैं। विशेष विवरण के लिये नीचे विकारकारिता देखो।

संघ (Colony)—उपर्युक्त पद्धतियों द्वारा, विशेष करके प्रथम और द्वितीय पद्धतियों द्वारा मिश्रित तृणाणु एक दूसरे से बहुत दूर दूर हो जाते हैं। पहले बतलाया जा चुका है कि (पृष्ठ १४) एक दिन में एक जीवाणु से करोड़ों जीवाणु बन जाते हैं। एक व्यक्ति से उत्पन्न होने वाले ये सब व्यक्तियाँ आपस में एकत्रित रहते हैं और इस समुदाय को संघ कहते हैं। यद्यपि तृणाणु अदृश्य होते हैं तो भी उनके संघ केवल आँखों से दिखाई देते हैं। अधिक से अधिक उनको देखने के लिये एक ताल (Lens) की आवश्यकता होती है। प्रत्येक जाति के तृणाणुओं के संघ आकार मान (Size), उठाव (Eleva tion), परिसर (Edge), प्रकाश गुण (Optical characters) और रंग इत्यादि बातों में एक दूसरे से पृथक होते हैं। इसलिये मिश्रित तृणाणु जब विरलरोपण कर्म से एक दूसरे से पृथक किये जाते हैं तब उनके संघ पृथक् पृथक बनते हैं और संघों को देखकर उनका आपस में पार्थक्य किया जाता है। इस तरह पृथक संघ बनने के बाद उनको प्लाटिनम पाश से उठाकर फिर से प्रवित वर्धनक में अलग अलग वर्धित किया जाता है। तब शुद्ध वृद्धि मिल जाती है। संक्षेप में मिश्रित तृणाणुओं से शुद्ध वृद्धि प्राप्त करने के लिए दो बार काम करना पड़ता है। प्रथम बार मिश्रित तृणाणुओं को विरल रोपण कर्म से अलग अलग करना और दूसरी बार इस तरह अलग हुए तृणाणुओं को स्वतन्त्र रूप से वर्धित करना।

विकारकारिता (Pathogenicity)

ग्रहणशील (Susceptible) प्राणियों में विकार उत्पन्न करने की जीवाणुओं में जो शक्ति होती है विकारकारिता कहलाती है। इसका तात्पर्य यह है कि विकारी जीवाणु भी सब प्राणियों में विकार उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। विकारकारिता की कसौटी (Test) प्राणियों में जीवाणुओं का प्रवेश उचित मार्ग से करके की जाती है। इसको प्राणि रोपण कर्म (Animal inoculation) कहते हैं। मानवी वैद्यक में मानवी विकृति विज्ञान का परिचय होने के लिये मनुष्यों का ही उपयोग प्रयोग के लिये होना उचित है, परन्तु मनुष्यों के ऊपर इस प्रकार प्रयोग करना कानून के विरुद्ध होने से उनका उपयोग नहीं किया जाता है। तिसपर भी कुछ अपराधियों और स्वयंसेवकों के ऊपर इसप्रकार के प्रयोग किये गए थे। यथा मलेरिया में डा० टरबर्न मानसन और बाजयारम नामक विद्वानों ने प्रत्यक्ष अपने शरीर में मच्छर दंश द्वारा विषम ज्वर के कीटाणु प्रविष्ट करके विषमज्वर से उनका सम्बन्ध सिद्ध किया। परन्तु ये सब अपवाद हैं और नित्यकर्म के लिये मनुष्यों का उपयोग नहीं हो सकता। अतः भिन्न प्राणियों का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर प्रयोगशाला में किया जाता है। ये प्राणि प्रयोगशाला में सदैव पाले जाते हैं।

गिनीपिग (Guinea-pig)—यह सबसे अधिक काम में आने वाला प्राणी है। इसका उपयोग, क्षय, रोहिणी, विसूचिका, प्लेग, पेम्फाइस, दण्डाणु जन्य कामला इत्यादि रोगों के निदान के लिये किया जाता है।

श्वेत चूहा (White rat)—इसका उपयोग गिनीपिग के समान होता है।

श्वेत चुहिया (White mouce)—इसका उपयोग न्यूमो-

जीवाणु के पृथक्करण के लिये तथा उनकी उपजातियों या वर्गों (Types) के निर्णय के लिये किया जाता है।

शशक (Rabbit)—खरहे का उपयोग मुख्यतया जल संत्रास के निदान के लिये किया जाता है। मानवी क्षय बैसीलस और गव्य क्षय बैसीलस में पार्थक्य इसी के द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त पुञ्जकारक और रक्तलायक (Agglutinating, Haemolytic) लसिका बनाने में भी खरहे का उपयोग किया जाता है।

वानर (Monkeys)—इसका उपयोग मुख्यतया विषाणुजनित विकारों (Virus) के संबंध में किया जाता है।

अन्य प्राणि—उपर्युक्त साधारण प्राणियों के अतिरिक्त कबूतर, भेड़ बकरी कुत्ता बिल्ली गौ के बछड़े इत्यादि अन्य प्राणियों का भी उपयोग आवश्यकता के अनुसार किया जाता है।

रोपण मार्ग—प्राणियों में रोप्य द्रव्य का प्रवेश मुख द्वारा नासा द्वारा त्वग्लेखन (Scarification) से, त्वचा में त्वचा के नीचे सिरा में पेशी में, सुषुम्ना में, वृषण में कण्ठमस्तिष्क में उदरावरण में इत्यादि अनेक मार्गों द्वारा किया जाता है।

रोपण द्रव्य—जीवाणु विष संवर्धित जीवाणु मल मूत्र थूक, पूय तथा शरीर के अंगों के अन्य स्राव शरीर का विकृत धातुओं और अंगों के रस इत्यादि। प्राणियों के विकृत अंगों के छोटे छोटे टुकड़े बनाकर खरल में बालू के साथ खरल किये जाते हैं। इसके पश्चात् नलिका में लवण जल लेकर उसके साथ यह खरल किया हुआ भाग भलीभाँति मिलाकर नलिका रख दी जाती है। थोड़े समय में बालू और मोटे मोटे टुकड़े नीचे बैठते हैं और ऊपर रस रहता है जिसका उपयोग रोपण के लिये किया जाता है। मुख और नासा-मार्ग को छोड़कर बाकी सब स्थानों में रोप्य द्रव्य सुई और पिचकारी द्वारा प्रविष्ट किया जाता है।

रोपित प्राणी—परीक्ष्य द्रव्य का रोपण करने के पश्चात् प्राणि

पिंजड़े में रखकर उनकी देखभाल अच्छी तरह की जाती है। साधारण तया रोपण के पश्चात् कुछ ही दिनों में प्राणि मर जाते हैं या नियत समय व्यतीत होने पर ये मारे जाते हैं और उनकी मरणोत्तर परीक्षा (Post mortem) की जाती है। यह देखा जाता है कि ग्रहणशील प्राणियों में कुछ विकारी तृणाणु विशिष्ट स्वरूप की विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं जिनको देखकर उनके प्रत्यभिज्ञान में सहायता होती है।

रोपण कर्म के उद्देश्य—(१) तृणाणु प्रत्यभिज्ञान के लिये। (२) मिश्र तृणाणुओं में से अभीष्ट तृणाणु को शुद्ध वृद्धि प्राप्त करने के लिये।—जैसे न्यूमोकोकाय, यक्ष्मा क्षय। (३) तृणाणुओं की उग्रता बढ़ाने के लिये।—जैसे, जल संत्रास के विषाणु। (४) उग्रता घटाने के लिये।—जैसे, मसूरिका विषाणु। (५) विषनाशक या तृणाणुनाशक लसिका बनाने के लिए। (६) प्रतियोगी वस्तुओं (Antibody) द्वारा प्रतियोगी जनक (Antigen) वस्तुओं के निर्वीर्यीकरण परीक्षा के लिये।

तृणाणुओं की उग्रता (Virulence)—ग्रहणशील प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके भीतर संख्यावृद्धि करने की जो शक्ति तृणाणुओं में होती है उग्रता कहलाती है। संक्षेप में उग्रता प्राणियों में विकारोत्पादन की शक्ति होती है। यह उग्रता विविध पद्धतियों द्वारा घटायी या बढ़ायी जा सकती है। बढ़ाने के कर्म को उग्रतोन्नयन और घटाने के कर्म को उग्रतापनयन कहते हैं। नीचे इनके कुछ साधन बताये जाते हैं।

उग्रतापनयन (Attenuation)—(१) कम ग्रहणशील प्राणियों के याने अधिक प्रतिकारक प्राणियों के शरीर में रोपण करने से। जैसे, गिनीपिग और चूहा इनमें रोपण करने से यें, ऐन्थ्राक्स, बछड़ों में रोपण करने से मसूरिका विषाणु कम उग्र हो जाते हैं।

(२) मनुष्य शरीर के बाहर कृत्रिम वर्धनकों में बार बार उपवृद्धि (Subculture) करने से—जैसे, स्ट्रेप्टोकोकाय, न्यूमोकोकाय और आन्त्रिक बैसीलाय।

(३) कुछ प्रतिकूल परिस्थिति में वृद्धि करने से। जैसे अधिक तापक्रम या अति प्रकाश में वृद्धि करने से —जैसे, कै, ऐन्थ्राक्स की वृद्धि ४२ सें पर करने से उसकी क्षमता कम होती है और ऐसी वृद्धि से जो वैक्सीन बनाया जाता है उसका प्रयोग चौपायों में ऐन्थ्राक्स प्रतिबंधक टीका के लिये किया जाता है।

(४) सौम्य जीवाणुविरोधकों की उपस्थिति में वृद्धि करने से-गम्य क्षयबैसीलाय की वृद्धि पित्त की उपस्थिति में करने से उनकी क्षमता घटती है। यही पद्धति बी सी जी वैक्सीन बनाने के काम में लायी जाती है।

(५) शुष्कीकरण से—जलसंत्रास विषाणु का क्षमतापनयन सुषुम्ना कायड हवा में सुखाने से किया जाता है। क्षमतापनयन की मात्रा शुष्कीकरणकाल के समप्रमाण में होती है।

(६) अधिक देर तक रखने से—इससे तृणाणु बूढ़े हो जाते हैं, इसलिये वे कम क्षम होते हैं।

उप्रतोभ्रगन (Exaltation)—बार बार और जल्दी जल्दी सहमशील प्राणियों में रोपण करने से तृणाणु क्षमता की वृद्धि होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण जलसंत्रास का विषाणु है। विसूचिका तम्मणु, ऑन्त्रिक बैसीलाय, न्यूमोकोकाय, स्ट्रेप्टोकोकाय इनके संबंध में भी यही नियम है।

महामारी और तृणाणु क्षमता—महामारी के प्रारंभ में प्रायः रोग भीषण स्वरूप का होता है। उसका कारण यह है कि प्रारंभ में तृणाणु नौजवान होते हैं और जिन प्राणियों या मनुष्यों के शरीर में उस समय क्षमता नहीं रहती, बार बार और जल्दी जल्दी प्रविष्ट होने से अधिक क्षम हो जाते हैं। आगे चलकर जब महामारी कुछ पुरानी हो जाती है तब तृणाणु भी कुछ जीर्ण होने से तथा जिन मनुष्यों या प्राणियों के शरीर में उस समय क्षमता उत्पन्न हो जाती है (६८ पृष्ठ देखो), वर्धित होने से कुछ कम क्षम हो जाते हैं। इसलिये महामारी के अन्तिम दिनों

में रोग का स्वरूप सौम्य रहकर प्रतिशत मृत्युसंख्या बहुत घट जाती है।

क्षमतासंबंधी अन्य बातें—(१) पीछे (पृष्ठ १२) बतलाया जा चुका है कि तृणाणु मनुष्य शरीरों में अग्रेसिन नामक द्रव्य बनाते हैं जिसके कारण भक्षककणों (Phagocytes) की भक्षणशक्ति कम हो जाती है। इसलिये तृणाणु क्षमता बढ़ाने में अग्रेसिन सहायक होते हैं।

(२) कोप दूसरा साधन है जो (पृष्ठ १०) क्षमता बढ़ाने में सहायता करता है। कोप के कारण भक्षककणादि शरीररक्षा के विविध साधन बेकार हो जाते हैं और तृणाणु वेरोकटोक संख्यावृद्धि करनेका अपना काम जारी रख सकते हैं। कृत्रिम तौर पर वृद्धि करने से तृणाणु क्षमता घटने के जो अनेक कारण हो सकते हैं उनमें कोपाभाव एक कारण होता है। ऊपर नं० १ देखो। ३) कुछ तृणाणु ऐसे पदार्थ को उत्पन्न करते हैं जो कि रक्तवाहिनियों के द्वारा आस पास फैलकर धातुओं की तथा रक्तवाहिनियों की दीवाल की प्रवेश्यता (Permeability) को बढ़ाकर तृणाणु तथा उनके विष के प्रसार में सहायता करते हैं। इसको Duran Reynal's phenomenon कहते हैं। इसके उदाहरण स्ट्रेप्टो और स्टाफिलोकोकाय के कुछ प्रकार हैं। (४) मनुष्यों या प्राणियों के शरीर में बढ़े हुए तृणाणु कुछ काल तक बाहर रहे हुए तृणाणुओं की अपेक्षा अधिक क्षम रहते हैं। इसलिये चिंतूरक्षेप से (पृष्ठ ४१) या शस्त्रच्छेद और दूषित शस्त्रकर्म के समय व्रण उत्पन्न होने से शरीर में प्रविष्ट हुए तृणाणु बहुत शीघ्र भयानक विकार उत्पन्न किया करते हैं।

(५) तृणाणु क्षम हो या न हो उपसर्गकारी जीव की निर्बलता उसको हठात् क्षम बनाती है। इसका विवरण आगे उपसर्ग में (पृष्ठ ८२) किया गया है। यही कारण है कि सादे सादे रोग निर्बलों में भयानक रूप धारण करते हैं।

उपसर्ग (Infection)

व्याख्या—जब जीवाणु मनुष्यों या प्राणियोंके शरीरों पर आक्रमण

-करके विकार उत्पन्न करते हैं तब उस प्रक्रिया को उपसर्ग कहते हैं। केवल शरीर में जीवाणुओं की उपस्थिति उपसर्ग होने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती, क्योंकि प्राणियों के शरीर में अनेक जीवाणु (पृष्ठ ८) सदैव उपस्थित रहते हैं। जीवाणुओं की उपस्थिति को उस अवस्था में उपसर्ग कह सकते हैं जब वे शरीर में रह कर संख्या वृद्धि और विषोत्पत्ति करके अपना प्रभाव शरीर पर डालने लगते हैं और उसके कारण शरीर की धातुओं में प्रति क्रिया प्रारंभ होती है।

कोक के नियम (Koch s postulates)—उपसर्ग को ही लोग रोग कहते हैं। जीवाणुजनित उपसर्ग दो प्रकार के होते हैं:—सामान्य और विशेष। सामान्य उपसर्ग अनेक जाति के जीवाणुओं द्वारा हो सकता है; विशेष उपसर्ग केवल एक ही जाति के जीवाणुओं द्वारा होता है।—जैसे, फोड़े फुन्सियाँ अनेक पूयजनक जीवाणुओं द्वारा हुआ करती हैं, परन्तु प्लेग केवल प्लेग बेसिलस द्वारा ही हो सकती है। आज कल अमुक रोग अमुक जीवाणु के द्वारा होता है इसका ज्ञान एक मामूली सी बात हो गयी है परंतु जब जीवाणु विज्ञान का प्रारंभ हो रहा था उस समय रोगों के कारणभूत जीवाणुओं का कुछ भी ज्ञान नहीं था और उसको निश्चित करने के लिये कुछ नियमों की आवश्यकता थी। कोक नामक जर्मन वैज्ञानिक ने इस विषय में मार्ग दर्शन के लिये निम्न नियम बनाये हैं जो उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हैं:—

(१) प्रत्येक औपसर्गिक रोग से पीड़ित या मृत मनुष्य या इतर प्राणि की अपसृष्ट धातुओं में या रक्त में उस रोग के विशिष्ट जीवाणु सदैव उपस्थित रहने चाहिये।

(२) ऐसे पीड़ित या मृत प्राणियों की धातुओं या रक्त से प्राप्त जीवाणु शरीर के बाहर कृत्रिम वर्धनकों में संवर्धित होकर शुद्ध स्वरूप में मिलने चाहिये।

(३) इस प्रकार से संवर्धित जीवाणुओं का रोपण ग्रहणशील

प्राणि के शरीर में करने के पश्चात् ये जीवाणु उस प्राणि में वही रोग उत्पन्न करने में समर्थ होने चाहिये।

(४) इस प्रकार रोपण कर्म से व्याधित या मृत प्राणि के शरीर में वही जीवाणु शुद्ध स्वरूप में मिलने चाहिये।

औपसर्गिक रोगों के कारणभूत जीवाणुओं का संबंध प्रस्थापित करने के लिये य नियम बहुत ही उपयुक्त हैं इसमें कोई संदेह नहीं है। परंतु ज्यों ज्यों औपसर्गिक रोग संबंधी ज्ञान बढ़ता गया त्यों त्यों य नियम कुछ सदोष और अव्याप्त से मालूम होने लगे। जैसे, इन नियमों के सिवाय पुंजीकरण (Agglutination) पूरक बंधन (Complement fixation) इत्यादि कनिका विषयक कसोटियों (Tests) द्वारा रोग के कारणभूत जीवाणुओं का ज्ञान हो जाता है। ये कुछ जैसे कुछ जीवाणु ऐसे हैं कि जो यद्यपि कुछ रोग में बराबर मिलते रहते हैं तो भी शरीर के बाहर कृत्रिम तौरपर न सेवर्धित होते हैं न प्राणियों में रोपित करने पर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। विषाणुजनित रोग ऐसे हैं कि उनमें कारणभूत जीवाणु अति सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देते। मान्थिक, विसूचिका, रोहिणी जैसे कुछ रोग ऐसे हैं जो कि प्राणियों में मनुष्यों के शरीर में जिस प्रकार के दिखाई देते हैं उस प्रकार के नहीं दिखाई देते। संक्षेप में उपयु क्त नियमों में कुछ त्रुटियाँ हैं जिनकी पूर्ति किये बिना य नियम जीवाणु का रोग के साथ सम्बंध स्थापित करने के लिय पूर्णांश में लागू नहीं हो सकते।

उपसर्ग स्थान (Sources of infection)—स्वस्थ मनुष्यों में उपसर्ग पहुँचने के अनंत स्थान होते हैं जिन्हें निम्न तीन विभागों में बाँट सकते हैं। (१) मनुष्य—मनुष्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु होता है। यह कटु सत्य अन्य व्यवहारों के समान रोगों के संबंध में भी अनुभव में आता है। व्याधित या वाहक मनुष्यों के द्वारा अनेक भीषण रोग स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं। (२) चतुष्पाद प्राणि—ये

प्राणि प्रायः घरेलू या पालतू होते हैं और हमेशा मनुष्यों के निकट संपर्क में आते हैं। (३) कीटक—ये प्राय मनुष्योपजीवी कीड़े होते हैं जो अधिकतर मनुष्यों के रक्त पर अपना निर्वाह किया करते हैं। इनका अपना कोई रोग नहीं होता, परंतु ये अन्य व्याधित प्राणियों या मनुष्यों से जीवाणुओं का संवहन (Mechanical carrier) या संवमन (Vector) करके उनको स्वस्थ मनुष्यों पर सक्रान्त करते हैं। नीचे तीनों विभागों से मनुष्यों को प्राप्त होने वाले रोगों के नाम दिये जाते हैं।

१ मनुष्य—गर्दनतोड़ बुखार, न्यूमोनिया, सोजाक, फिरंग, रूप दंश, विसूचिका, अतिसार, आन्त्रिक ज्वर, पुनरावर्तकज्वर, राजयक्ष्मा, कुकर खाँसी, कुष्ठ, रोहिणी, मसूरिका, रोमान्तिका, पीतज्वर, कनफेर, विषम ज्वर, कालाजार।

२ प्राणि—घोड़े से धनुर्वात, गौ से धनुर्वात, क्षय, पुण्याक्स, माल्टा ज्वर, भेड़ से धनुर्वात, पैन्थाक्स, बकरी से माल्टा ज्वर, कुत्ते, सियार से जल संत्रास, बंदरों से पीत ज्वर, चूहे से प्लेग मूषिकदंशज्वर, औपसर्गिक कामला।

३ कीटक—पिस्सू से प्लेग, घरेलू मक्खी से आन्त्रिक ज्वर, विसूचिका, अतीसार इत्यादि, मच्छर से श्लीपद, विषमज्वर, पीतज्वर, दण्डकज्वर, किल्ली से परिवर्तित ज्वर, जूँ से परिवर्तितज्वर, तन्द्रिकज्वर, खुमगी से कालाजार इत्यादि।

संक्रमणमार्ग (Modes of transference)—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि व्याधित या वाहक पशु या मनुष्य उपसर्ग के स्थान होते हैं और इन स्थानों से स्वस्थ मनुष्यों तक संसर्ग निम्न तीन मार्गों के द्वारा संक्रान्त होता है।

१ प्रत्यक्ष (Direct)—इस मार्ग में मृत, व्याधित या वाहक मनुष्य या पशु के प्रत्यक्ष संसर्ग से उपसर्ग का प्रसार होता है। फिरंग

मोबाक ये मैथुनी रोग इसी तरह से फैलते हैं। ऐन्थ्राक्स रोग उस रोग से मृत प्राणियों की त्वचा के संसर्ग से फैलता है। जो रोग इस प्रकार प्रत्यक्ष संसर्ग से फैलते हैं वे सांसर्गिक (Contagious) कहलाते हैं। कुछ रोगों में प्रत्यक्ष संसर्ग की आवश्यकता नहीं होती। रोगी के खाँसते, छींकते, जोर से बोलते, गंभीर साँस छोड़ते समय मुख-नासा-श्वसनमार्ग स्राव के सूक्ष्मकण जोर से बाहर उड़कर सामने बैठने वाले स्वस्थ व्यक्ति को उपसर्ग पहुँचाते हैं। इसका भी समावेश प्रत्यक्ष में ही किया जाता है। इस प्रकार सूक्ष्म बिन्दुओं के आस पास बहने से जो उपसर्ग होता है वह बिंदुत्क्षेपोपसर्ग (Droplet infection) कहलाता है। इस प्रकार राजयक्ष्मा न्युमोनिया, प्रतिश्याय, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, रोहिणी, रोमान्तिका, कर्णमूलिकाज्वर, कुकुर खाँसी, फुफ्फुस प्लेग इत्यादि रोग फैलते हैं। संक्षेप में इस मार्ग से मैथुनी और श्वसन संस्थान के रोग फैलते हैं।

अप्रत्यक्ष (Indirect)—इस मार्ग में व्याधित या वाहक मनुष्यों से उपसृष्ट खाद्यपेय वस्त्र पात्रादि द्वारा जीवाणुओं का संक्रमण स्वस्थ व्यक्तियों पर होता है।

इस मार्गसे प्रायः आन्त्रिक विसूचिका, अतीसार इत्यादि प्रथम संस्थानके रोग उत्पन्न होते हैं और कारणभूत तृणाणुओं का प्रवेश मुख द्वारा होता है। इन रोगोंके संक्रमणमें घरेलू मक्खियाँ बहुत सहायता करती हैं और हवा भी। हवाके झोंके रूपाठे से राजयक्ष्मा मसूरिका जैसे रोग भी फैलते हैं। प्याला, पेन्सिल, तौलिया, सुरही इत्यादि मुखके साथ सम्बन्धित वस्तुओं के द्वारा बालकों में रोहिणी का प्रसार होता है। डाक्टर वैद्य, नर्स परिचारक इनके हाथों तथा यन्त्र शस्त्रादि द्वारा प्रसूति ज्वर, धनुर्वात इत्यादि रोग फैलते हैं। संक्षेपमें दूषित खाद्य पेय वस्त्रपात्र, मुख संबंधी चीजें, मक्खियाँ, हवा, हाथ यन्त्रशस्त्र ये अप्रत्यक्ष संक्रमण के विविध साधन हैं।

(३) मध्यस्थ (Intermediate host)—यह प्राय दंशक कीटक होता है। पृष्ठ ८० देखो।

शरीर प्रवेश मार्ग (Channels of infection)—इस तरह उपसर्ग के स्थानों से प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष या मध्यस्थ के द्वारा संचालित जीवाणु भिन्न मार्गों से मनुष्यों के शरीरमें प्रवेश करते हैं।

१ श्वसन मार्ग—बिंदुक्षेप और हवा के द्वारा फैलनेवाले रोग इस मार्गसे प्रवेश करते हैं।

२ पचन मार्ग—दूषित खाद्यपेय द्वारा फैलनेवाले रोग इस माग से प्रवेश करते हैं।

३ मूत्र प्रजनन मार्ग—मैथुनी रोग इस मार्गसे फैलते हैं।

४ त्वचा—दंशक कीटकों तथा व्रणों द्वारा होनेवाले रोग इस मार्ग से होते हैं। त्वचा से प्रवेश होने के लिये उसमें व्रण होने की आवश्यकता प्रत्येक तृणाणु के लिये नहीं मालूम होती। वे ऍन्थ्रास्स अक्षुण्ण त्वचा होने पर भी रोग उत्पन्न करते हैं, स्टाफिलोकोकाय रोम कूपों से प्रवेश करके फोड़े उत्पन्न करते हैं, और ट्रेपोनेमा पाळीडा अक्षुण्ण श्लेष्मक त्वचा से प्रवेश करके फिरंग उत्पन्न करता है।

शरीर में अनेक संस्थान हैं। इनमें कुछ बंद याने द्वाररहित होते हैं जैसे रक्तवह मस्तिष्क संस्थान इत्यादि। कुछ द्वारयुक्त होते हैं, जैसे, पचन संस्थान, श्वसन संस्थान, मूत्र प्रजनन संस्थान। साधारणतया जो द्वारयुक्त संस्थान होते हैं उनके रोग उनके द्वारसे प्रवेश करते हैं, जो द्वार रहित होते हैं उनके रोग त्वचा द्वारा प्रवेश करते हैं। इनके लिये कुछ अपवाद भी होते हैं। जैसे, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर और शैशवीय अंगघात मस्तिष्क संस्थान के रोग होने पर भी नासा द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। प्रायः १० प्र. श. उपसर्ग नासा और मुख द्वारा हुआ करते हैं।

उपसर्ग कैसे होता है—उपसर्ग एक प्रकारका द्वन्द्व है जिसमें

उपसर्गकारी जीवाणु और उपसर्ग धारी बोध याने मनुष्य या मनुष्येतर प्राणि इनके बीचमें बड़ा भारी संग्राम होता है। जब मनुष्य के बल से जीवाणुओं का बल अधिक हो जाता है उस अवस्था में उपसर्ग होता है। अतः नीचे इन दोनों के बल किन किन बातोंपर निर्भर होते हैं उनका विवरण दिया जाता है।

उपसर्गकारी जीवाणु (Infecting agent)—इनका बल निम्न बातोंपर निर्भर होता है।

१ उग्रता—आक्रमणशीलता और विषोत्पादनशीलताके ऊपर उग्रता निर्भर होती है। आक्रमणशीलता (Invasiveness) उस शक्तिका नाम है जिसके आधार पर जीवाणु शरीर रक्षक सब साधनोंके साथ अच्छी तरह टक्कर देकर संख्या-वृद्धि कर सकता है। इसका प्रधान उदाहरण रक्तद्रावक (Hemolytic) स्ट्रेप्टोकोकोप है। धनुर्वात और रोहिणी के वैसीलाय तीव्र विषोत्पादक जीवाणु के उदाहरण हैं।

२ मात्रा—(Size of the dose)—स्वस्थ शरीर विकारी जीवाणुओंकी अल्पसंख्याका नाश आसानी से कर सकता है। यदि ये विकारी जीवाणु अल्पसंख्यामें बारबार शरीर में प्रवेश करते जायँ तो उपसर्ग होना तो दूर रहा, उनके लिये शरीर में एक प्रकार की प्रतिकारशक्ति याने क्षमता (Immunity) उत्पन्न होती है। परंतु जब अधिक संख्या में और बारबार ये शरीर में प्रवेश करते रहते हैं तब उग्र न होने पर भी शरीर पर अधिकार जमाने में समर्थ होते हैं। इसके उदाहरण क्षय और कुष्ठ के वैसीलाय हैं। ये रोग उत्पन्न करने में तेज न होनेपर भी क्षयी और कुष्ठी के साथ अधिक काल तक संबंध रखने से रोग उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इसका समाधान यही है कि रोगी के पास अधिक काल रहनेसे उनको बारबार अधिक संख्या में स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करने का मौका मिलता है। अधिक जन संमर्द (Overcrowding) और खराब प्रवीजन (Ventilation) ये साधर

जीवाणुओं की संख्या बढ़ाने में सहायता करते हैं इसलिये उपसर्ग सहायक होते हैं। संक्षेप में जीवाणु संख्या, रोगी (उपसर्ग स्थान) से अन्तर जनसंमर्द और प्रवीजन इन चार बातोंका समावेश मात्रा में कर सकते हैं और अधिक संख्या, रोगी से समीप होना, अधिक जनसंमर्द और खराब प्रवीजन ये उपसर्ग सहायक बातें होती हैं। विशेषतया वायुवाह्य रोगों के सम्बन्ध में ये बातें अधिक लागू होती हैं।

(३) शरीर प्रवेश मार्ग (Avenue of infection)—उपसर्ग उत्पन्न करनेके लिये प्रत्येक जाति के जीवाणुओं को विशिष्ट मार्ग द्वारा ही शरीर में प्रविष्ट होना आवश्यक होता है। अन्य मार्ग द्वारा प्रवेश होने से वे उपसर्ग नहीं कर सकते। विषूचिका, अतीसार, आन्त्रिक ज्वर इनके बैसीलाय त्वचा पर घर्षण करने से या सुई द्वारा त्वचा में प्रविष्ट करने से रोग उत्पन्न नहीं कर सकते; मुख द्वारा प्रविष्ट होने से ही कर सकते हैं। इसके विरुद्ध स्ट्रेप्टोकोकाय मुख द्वारा सेवन करने पर नहीं, त्वचा में प्रविष्ट होने से ही उपसर्ग कर सकते हैं। वैसे ही गोनोकोकाय गुह्यांग तथा नेत्र की श्लेष्मल त्वचा में प्रविष्ट होने से अपना प्रभाव दिखा सकते हैं।

(४) अन्य रक्षक साधन—इनका विचार पीछे क्षमता सम्बन्धी अन्य बातों (पृष्ठ ७७) में किया गया है।

उपसर्गधारी जीव (Subject of infection)—मनुष्य शरीर की प्रतिकारक शक्ति अक्षुण्ण बाह्य और श्लेष्मल त्वचा, स्वेद आमाशयिक रस तथा अन्य स्राव, रक्तगत भक्षक सेलें, द्रविकर, पुंजकारक और द्रावक सामान्य प्रतियोगी पदार्थ इन साधनों के ऊपर निर्भर होती है। इनमें से एक या अनेक साधन निर्बल होनेपर उपसर्ग हो जाता है। इनकी निर्बलता निम्न कारणों से होती है। १ आयु—बाल और वृद्ध इन दोनों में भी प्रतिकारक शक्ति स्वभाव से ही कमजोर होती है, इसलिये रोमान्तिका, कुक्कुरखाँसी, रोहिणी जैसे कुछ रोग बचपन

में और न्युमोनिया जैसे कुछ रोग बुढ़ापे में हुआ करते हैं। २ परि-स्थिति—शरीर और कपड़ों की अस्वच्छता गंदे मकानों और गुंजान मुहल्लों में रहना, व्यायामाभाव, अधिक काल तक बैठने की नौकरी इत्यादि। ३ आघात—आघात से त्वचा को कमजोरी होती है या उसमें व्रण बन जाते हैं जिसके द्वारा जीवाणु भीतर प्रवेश कर सकते हैं। बाह्य त्वचा पर प्रहार का जो परिणाम होता है वही श्लेष्मल त्वचा पर सर्दी का या शोथ का होता है।

४ अन्न की कमी—आहार में प्रोटीनों, खनिज और जीव द्रव्यों की कमी स्वास्थ्यनाशक होती है।

५ प्राकृतिक (Constitutional) रोग—मधुमेह, वातरक्त, चिरकालीन वृक्कशोथ इत्यादि रोग शरीर को निर्बल बनाते हैं जिसके कारण इन रोगियों में कोथयुक्त अन्य फोड़े फुन्सियाँ राजयक्ष्मा, न्युमो-निया इत्यादि औपसर्गिक रोग हुआ करते हैं।

(६) कुछ उपसर्ग—कुछ उपसर्ग ऐसे होते हैं कि स्वयं घातक न होने पर भी शरीर को बहुत निर्बल बनाते हैं और उसीके कारण उनसे रोगी बचने पर अन्य जीवाणुओं के चंगुल में फँस जाते हैं। इसके प्रधान उदाहरण रोमान्तिका कुकुरखाँसी और एन्फ्लुएन्ज़ा है। इनमें कमजोरी अधिक होने के कारण आगे चलकर न्युमोनिया क्षय इत्यादि दूसरे रोग उत्पन्न होकर उन्हीं से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

उपसर्ग का फल—अनुकूलता होने पर शरीर में प्रविष्ट होने के पश्चात् तृणाणु तुरन्त वृद्धि करने लगते हैं और उसके साथ साथ विष भी उत्पन्न करते हैं जिसका विवरण पीछे (पृष्ठ १८) हो चुका है। तृणाणु कभी प्रवेश स्थान में या उसके आसपास के स्थान में सीमित रहते हैं या कभी लसिकावाहिनियों या रक्तवाहिनियों द्वारा संपूर्ण शरीर में फैलते हैं। उनका विष प्रायः सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। जीवाणु या

उनके विष की शरीरगत स्थिति के अनुसार भिन्न पारिभाषिक शब्द काम में लाये जाते हैं।

तृणाणुमयता—(Bacterioemia)—यह नाम उस अवस्था के लिये प्रयुक्त होता है जिसमें तृणाणु रक्त में पहुँच जाते हैं, परन्तु वहाँ पर वे बहुत संख्या-वृद्धि नहीं कर सकते और प्रायः अल्पकाल में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार की स्थिति आन्त्रिक ज्वर, माल्टा ज्वर, लोबर न्युमोनिया तथा स्ट्रेप्टोकोकाय स्टाफिलोकोकाय जनित रोगों में दिखाई देती है। यह अवस्था गम्भीरतासूचक नहीं होती।

तृणाणुदोषमयता (Septicaemia)—यह उस अवस्था का नाम है जिसमें तृणाणु रक्त में प्रविष्ट होकर वृद्धि के साथ-साथ विष भी उत्पन्न करते रहते हैं। यह स्थिति गम्भीरतासूचक होती है और पूयजनक कोकाय, वे ऐन्थ्राक्स और प्लेग संसर्ग में दिखाई देती है। इस अवस्था के लाने वाले रोगियों में होमोलिटिक स्ट्रेप्टोकोकाय होते हैं। मेनिंगो कोकाय के कारण होनेवाली अवस्था शीघ्रातिशीघ्र घातक होती है।

विषमयता (*Toxaemia*)—यह उस अवस्था का नाम है जिसमें तृणाणु अपने प्रवेश स्थान में सीमित रहकर वृद्धि करते हैं और उनका विष वहाँ से शोषित होकर सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। अर्थात् इस अवस्था में तृणाणु रक्त में कदापि भी नहीं मिलते। इस प्रकार की स्थिति धनुर्वात, रोहिणी, विसूचिका और बैसीलरी अतिसार में दिखाई देती है।

पूयमयता (Pyaemia)—यह उस अवस्था का नाम है जिसमें तृणाणु विषमयता के साथ-साथ शरीर के विविध अंगों में अनेक छोटी-मोटी विद्रधियाँ उत्पन्न होती हैं। ये विद्रधियाँ शरीर के एक स्थान से दूषित थक्के (Thrombi) के छोटे-छोटे कण रक्त प्रवाह के साथ विविध अंगों में उपस्थित होने से होती हैं।

पूतिविषमयता (Sapraemia)—यह एक प्रकार की विषमयता

है जिसमें केवल एसुपजीवी जीवाणुओं का विष शरीर में संचार करता है। इस प्रकार की स्थिति कभी-कभी धनुर्वात और वातिक कोथ में दिखाई देती है।

उपसर्ग जनित शारीरिक विकृतियाँ—इनको तीन भागों में बाँट सकते हैं।

१) स्थानिक—प्रवेश-स्थान में धातु प्रतिक्रिया प्रारम्भ होकर उससे शोथ अपक्रान्ति या धातुनाश होता है। कई रोगों में यह स्थानिक प्रतिक्रिया विशिष्ट स्वरूप की होने के कारण रोग निदान में सहायक होती है। जैसे, क्षय कुष्ठ, फिरंग ऐक्टिनोमाईस इत्यादि।

जब शरीर में स्वाभाविक क्षमता होती है या कृत्रिम रीत्या उत्पन्न की जाती है या शोथ के स्थान में फैब्रिन की उत्पत्ति होती है तब उपसर्ग प्रायः स्थानिक स्वरूपका होता है। जैसे, स्ट्रेप्टोकोकाय और न्यूमोकोकाय के उपसर्ग प्रसरशील होते, परन्तु यदि प्राणि प्रथम कृत्रिम तौर से उनके लिये क्षम बनाये जायें तो उनके उपसर्ग स्थानिक होते हैं। स्टेफिलोकोकाय का उपसर्ग प्राय स्थानिक होता है। उसका कारण यह है कि शरीर में उनके लिये प्रतिकारक पदार्थ उपस्थित रहते हैं जो उनको प्रवेशस्थान में ही मर्यादित कर देते हैं। अधिक से अधिक तृणाणु लसिका वाहिनियों द्वारा तत्स्थानसंबंधित लसिकाग्रन्थियों तक पहुँचते हैं और उनमें शोथ तथा पूय उत्पन्न करते हैं। जैसे प्लेगमें गिल्टियोंका निकलना; पूयजनककोकाय से व्रण का दूषित होनेपर श्लोष्मा या शक्ष्मा का होना इत्यादि। स्थानिक विकृति पूयजनक तृणाणुओं में प्रायः तीव्र स्वरूप की और क्षय, कुष्ठ, फिरंग इनमें प्रायः चिरकालीन स्वरूपकी (Chronic) होती है। जब शरीर की प्रतिकार शक्ति अच्छी होती है तब तृणाणुओं का पूर्णतया नाश होता है परंतु जब उतनी अच्छी नहीं होती तब उनका पूर्णनाश न होकर वे दबक मार के वहीं पर रहते हैं और आगे मौका मिलने पर फिर से जोर करते हैं।

सार्वदैहिक—तृणाणु कम होने से या शरीर दुर्बल होने से स्थानिक या लसिका ग्रन्थियों के प्रतिकार को तोड़कर तृणाणु सर्व शरीर में फैलकर तृणाणुमयताादि अवस्थाओं को उत्पन्न करते हैं और उनका परिणाम विविध अंगों पर होकर विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क और रक्तवह संस्थान पर परिणाम होने से ज्वर, शरीर और हृदय की कमजोरी, रक्तभार का कम होना ये लक्षण होते हैं। रक्तोत्पादक और शरीररक्षक अंगों पर परिणाम होने से रक्तक्षय, श्वेतकणोत्कर्ष (Leucocytosis) तथा प्रतियोगी पदार्थों (Antibodies) की उत्पत्ति होती है। वृक्क, यकृत तथा अन्य पाचक ग्रन्थियों पर परिणाम होने से मलावरोध, क्षुधानाश, मूत्राल्पता, इत्यादि लक्षण होते हैं।

(३) स्थान संश्रयात्मक—कुछ तृणाणु या विष शरीर में फैलने के पश्चात् स्वभाव से ही शरीर के विशिष्ट अंगों की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। इसको संवरणात्मक स्थान संश्रय (Selective localisation) कहते हैं। जैसे, ये आन्त्रिक आन्त्र की ओर, मेनिंगोकोकाय मस्तिष्कावरणकी ओर, गोनोकोकाय मूत्र प्रजनन संस्थान की ओर, न्यूमोकोकाय फुफ्फुस की ओर, रोहिणीविष हृदय वृक्क और नाड़ियों की ओर और धनुर्विष सुषुम्नाकी ओर। कभी कभी एक ही जाति के तृणाणु एक समय में एक अंग की ओर और दूसरे समय में दूसरे अंग की ओर आकर्षित होते हुए दिखाई देते हैं। जैसे, स्ट्रेप्टोकोकाय त्वचा की ओर आकर्षित होने से विसर्प, गले की ओर आकर्षित होने से लोहित (Scarlet) ज्वर, हृदय की ओर आकर्षित होने से हृदन्तःशोथ, पित्ताशय की ओर आकर्षित होने से पित्ताशय शोथ और आमाशय की ओर आकर्षित होने से आमाशयव्रण उत्पन्न करते हैं।

विशिष्ट स्थान की ओर आकर्षित होने का दूसरा कारण स्थान वैगुण्य है। यह वैगुण्य आघात, सर्दी, रक्तस्राव इत्यादि से होता है। जैसे, स्टेफिलोकोकाय शरीर में संचार करने पर अस्थिमज्जा शोथ उत्पन्न करते

है। परंतु इसके इतिहास का परिशीलन करने पर प्राय: विकार के स्थान में आघात का या गिर पड़ने का इतिहास मिला करता है। स्थान संश्रय का तीसरा कारण स्थानिक अनुकूलता है। इसका उदाहरण वे ट्युबरक्युलोसिस है। इसके लिये बहुत प्राणवायु की आवश्यकता होती है। शरीर में फुफ्फुस के बराबर दूसरे किसी भी अंग में अधिक मात्रा में प्राणवायु नहीं मिल सकती। इसलिये वे ट्युबरक्युलोसिस शरीर में प्रविष्ट होने पर फुफ्फुस की ओर अधिक और सर्वप्रथम आकर्षित होते हैं। इसके लिये अन्य कारण भी हो सकते हैं, परंतु यह कारण है। राजयक्ष्मा में कृत्रिम वातोरस (A P) का जो उपयोग किया जाता है वह भी इस दृष्टि से ही किया जाता है। स्थानसंश्रय का चौथा कारण सहवास है। जब कोई तृणाणु शरीर के किसी एक अंग में अधिक काल तक संवर्धित होता है तब वह दूसरे शरीर में प्रवेश करने पर, जहाँ तक हो सके उसी भाग में वर्धित होने की यानें विकृति करने की कोशिश करता है। संक्षेप में स्थानसंश्रय के स्थान-संवरण, स्थान वैगुण्य, स्थानानुकूलता और स्थान सहवास ये चार कारण हो सकते हैं।

तृणाणु प्रत्यभिज्ञान (Identification)

औपसर्गिक रोगों से पीड़ित रोगियोंके मलमूत्र मुखमल में, रक्त में, मस्तिष्क सुषुम्ना जल में, नेत्र नासा गला मूत्र प्रजनन मार्ग के स्राव में तथा त्वचा और श्लेष्मल त्वचा के खास व्रणों में रोगों के कारणभूत जीवाणु उपस्थित रहते हैं जिनके प्रत्यभिज्ञानसे अचूक रोगनिदान होता है। अतः नीचे तृणाणु प्रत्यभिज्ञानकी मुख्य पद्धतियों का संक्षिप्त विवरण किया जाता है।

(१) स्वरूपज्ञान (Morphology)—इसका विवरण तृणाणु शरीर में (पृ० ९-१५) किया गया है। इसका ज्ञान साधारण, विशेष या पार्थक्य रंगों से (पृ० १६-२३) सूक्ष्म दर्शक के द्वारा होता

है। यह सरल पद्धति है जिसका उपयोग प्रत्यभिज्ञान के लिये सबसे पहले किया जाता है। यद्यपि साधारण तथा अनेक महत्त्व के तृणाणुओं की पहचान इस पद्धति से (पृष्ठ ९१ देखो) हो जाती है, तो भी एक स्वरूप के और एक-सा रंग ग्रहण करनेवाले संबंधित तृणाणुओं में आपस में पार्थक्य करना कई बार इस पद्धति से असंभव हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि उसके साथ वासस्थान या अनुगम का भी विचार किया जाय तो कुछ अंश तक यह कठिनाई भी दूर हो जाती है। जैसे, ग्रामस्पाणी कोकाय को केवल रंजन से आपस में पृथक् करना असंभव है, परंतु यदि वे मस्तिष्क जल में प्राप्त हुए हों तो मेनिंगोकोकाय और यदि मूत्रमार्ग या नेत्र के स्राव में मिले हों तो गोनोकोकाय समझ सकते हैं। वैसे ही अम्लसाही बैसीलाय यदि थूक में मिले तो क्षय के और यदि त्वचा के पकसे में मिले तो कुष्ठ के समझ सकते हैं। आन्त्रवासी बैसीलाय तथा दूसरे कुछ तृणाणु ऐसे हैं कि जिनके लिये इस पद्धति का उपयोग न प्रारंभ में कर सकते हैं न बाद में उसकी कोई आवश्यकता होती है। इसके विरुद्ध ये स्प्रेपी जैसे एकाय तृणाणु ऐसे हैं कि जिनके पहचान के लिये यही एक मात्र पद्धति काम में लाई जा सकती है।

(२) सवर्धन (Culture)—ये स्प्रेपी जैसे एकाय तृणाणु को छोड़कर शेष संपूर्ण तृणाणुओं के लिये इस पद्धति का उपयोग कर सकते हैं। जब परीक्ष्य द्रव्य में प्रत्यभिज्ञातव्य तृणाणुओं की संख्या बहुत ही अल्प होती है, जब उनके साथ अन्य अनिष्ट अनन्त तृणाणु मिश्रित रहते हैं तथा जब प्रारंभ में प्रथम पद्धति के द्वारा पहचान नहीं हो सकती तब इस पद्धति का उपयोग करना आवश्यक होता है। इस पद्धति में सामान्य या विशेष यवनकों (पृष्ठ ५१-५५) में परीक्ष्य द्रव्य रोपित करके और यदि आवश्यक हो पृथक्करण पद्धतियों (पृष्ठ ११) द्वारा शुद्ध वृद्धि प्राप्त की जाती है। इसके पश्चात् निम्नपद्धतियों के द्वारा तृणाणुओं की पहचान कर सकते हैं। (१) शुद्धवृद्धि में जो संघ

निर्माण होते हैं उनके स्वरूप रंगादि (पृष्ठ ७१) द्वारा। (२) प्रथम पद्धति के अनुसार पटरीपर प्रक्षेप करके रंजन के द्वारा। (३) जीवन रासायन परीक्षाओं के द्वारा। (४) लसिका विषयक परीक्षाओं के द्वारा। (५) प्राणिरोपण पद्धति के द्वारा। संक्षेप में यह पद्धति सर्वरूप है जिसके द्वारा प्रत्यभिज्ञातव्य तृणाणुओं की पहचान सब पहलुओं से पूर्ण हो सकती है। इसलिये इस पद्धति का उपयोग प्रत्यभिज्ञानार्थ प्राय प्रत्येक तृणाणु के लिये किया जाता है।

(३) जीवनरासायनिक प्रतिक्रियायें (Biochemical reactions)—संवर्धन के द्वारा वृद्धि प्राप्त होने पर संघों के स्वरूपरंगादि द्वारा विभिन्न वर्गों का आपस में पार्थक्य कर सकते हैं, परन्तु एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में पार्थक्य करना कई बार असंभव हो जाता है। ऐसी अवस्था में जीवन रासायनिक प्रतिक्रियाओं का उपयोग किया जाता है। इसके लिये अधिकतर शर्करावर्धनका का उपयोग किया जाता है। इन वर्धनकों (पृष्ठ ९१) की विभिन्न शर्कराओं पर एक हो वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों का विभिन्न परिणाम दिखाई देता है और इसी के द्वारा उनका आपस में पार्थक्य किया जाता है। मासत्यागीकोकाय वर्ग, आन्त्रवासीवर्ग और रोहिणीवर्ग के विभिन्न व्यक्तियों का पार्थक्य इसी पद्धति से (पृष्ठ ९२) किया जाता है। शर्करावर्धनकों के अतिरिक्त कभी कभी कुछ दूसरे वर्धनक भी काम में लाये जाते हैं। जैसे, लेड एसीटेट अगार वर्धनक का उपयोग पैराटैफाइड ज्वर के विविध बैसीलाय को पृथक् करने के लिये किया जाता है। वैसे ही टेलूराइट वर्धनक का उपयोग रोहिणीवर्ग के विभिन्न व्यक्तियोंको पृथक् करने के लिये किया जाता है। शर्करावर्धनकों का उपयोग स्ट्रेप्टोकोकाय जैसे एक व्यक्ति के अनेक प्रकारों को विभिन्न करने के लिये भी किया जाता है।

(४) लसिकाविषयक कसौटियाँ (Serological tests)—उपसर्ग होने के पश्चात् उपसर्गधारी जीव के रक्त में अनेक प्रकार के

है। यह सरल पद्धति है जिसका उपयोग प्रत्यभिज्ञान के लिये सबसे पहले किया जाता है। यद्यपि साधारण तथा अनेक महत्त्व के तृणाणुओं की पहचान इस पद्धति से (पृष्ट ९३ देखो) हो जाती है, तो भी एक स्वरूप के और एक-सा रंग ग्रहण करनेवाले संबंधित तृणाणुओं में आपस में पार्थक्य करना कई बार इस पद्धति से असंभव हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि उसके साथ वासस्थान या उद्गम का भी विचार किया जाय तो कुछ अंश तक यह कठिनाई भी दूर हो जाती है। जैसे, प्रमस्पागी कोकाय को केवल रंजन से आपस में पृथक् करना असंभव है, परंतु यदि ये मस्तिष्क जल में प्राप्त हुए हों तो मेनिंगोकोकाय और यदि मूत्रमार्ग या नेत्र के स्राव में मिले हों तो गोनोकोकाय समझ सकते हैं। वैसे ही अम्लसाहो बैसीलाय यदि थूक में मिले तो क्षय के और यदि स्वचाके चकत्ते में मिले तो कुष्ठ के समझ सकते हैं। आन्त्रवासी बैसीलाय तथा दूसरे कुछ तृणाणु ऐसे हैं कि जिनके लिये इस पद्धति का उपयोग न प्रारंभ में कर सकते हैं न बाद में उसकी कोई आवश्यकता होती है। इसके विरुद्ध वै छेमी जैसे एकाथ तृणाणु ऐसे हैं कि जिनके पहचान के लिये यही एक मात्र पद्धति काम में लाई जा सकती है।

(२) संवर्धन (Culture)—वै छेमी जैसे एकाथ तृणाणु को छोड़कर शेष संपूर्ण तृणाणुओं के लिये इस पद्धति का उपयोग कर सकते हैं। जब परीक्ष्य द्रव्य में प्रत्यभिज्ञातव्य तृणाणुओं की संख्या बहुत ही अल्प होती है, जब उनके साथ अन्य अभिष्ट अनन्त तृणाणु मिश्रित रहते हैं तथा जब प्रारंभ में प्रथम पद्धति के द्वारा पहचान नहीं हो सकती तब इस पद्धति का उपयोग करना आवश्यक होता है। इस पद्धति में सामान्य या विशेष वर्धनकों (पृष्ठ ५१–५५) में परीक्ष्य द्रव्य रोपित करके और यदि आवश्यक हो पृथक्करण पद्धतियों (पृष्ठ ६९) द्वारा शुद्ध वृद्धि प्राप्त की जाती है। इसके पश्चात् निम्नपद्धतियों के द्वारा तृणाणुओं की पहचान कर सकते हैं। (१) शुद्धवृद्धि में जो संघ

भिन्नता होते हैं उनके स्वरूप रंगादि (पृष्ठ ७१) द्वारा। (२) प्रथम पद्धति के अनुसार पटरीपर प्रक्षेप करके रंजन के द्वारा। (३) जीवन रसायन परीक्षाओं के द्वारा। (४) लसिका विषयक परीक्षाओं के द्वारा। (५) प्राणिरोपण पद्धति के द्वारा। संक्षेप में यह पद्धति सर्वरूप है जिसके द्वारा प्रत्यभिज्ञातव्य जीवाणुओं की पहचान सब पहलुओं से पूरा हो सकती है। इसलिये इस पद्धति का उपयोग प्रत्यभिज्ञानार्थ प्राय प्रत्येक जीवाणु के लिये किया जाता है।

(३) जीवनरासायनिक प्रतिक्रियायें (Biochemical reactions)—संवर्धन के द्वारा वृद्धि प्राप्त होने पर संघों के स्वरूपरंगादि द्वारा विभिन्न वर्गों का आपस में पार्थक्य कर सकते हैं, परन्तु एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में पार्थक्य करना कई बार असंभव हो जाता है। ऐसी अवस्था में जीवन रासायनिक प्रतिक्रियाओं का उपयोग किया जाता है। इसके लिये अधिकतर शर्करावर्धनकों का उपयोग किया जाता है। इन वर्धनकों (पृष्ठ ९१) की विभिन्न शर्कराओं पर एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों का विभिन्न परिणाम दिखाई देता है और उसी के द्वारा उनका आपस में पार्थक्य किया जाता है। आमत्यागीकोकाय वर्ग, आन्त्रवासीवर्ग और रोहिणीवर्ग के विभिन्न व्यक्तियों का पार्थक्य इसी पद्धति से (पृष्ठ ९७) किया जाता है। शर्करावर्धनकों के अतिरिक्त कभी कभी कुछ दूसरे वर्धनक भी काम में लाये जाते हैं। जैसे, लेड एसीटेट अगर वर्धनक का उपयोग पैराटैफाइड ज्वर के विविध बैसीलाय को पृथक् करने के लिये किया जाता है। वैसे ही टेल्युराइट वर्धनक का उपयोग रोहिणीवर्ग के विभिन्न व्यक्तियोंको पृथक् करने के लिये किया जाता है। शर्करावर्धनकों का उपयोग स्ट्रेप्टोकोकाय जैसे एक व्यक्ति के अनेक प्रकारों को विभिन्न करने के लिये भी किया जाता है।

(४) लसिकाविषयक कसौटियाँ (Serological tests)—उपसर्ग होने के पश्चात् उपसर्गधारी जीव के रक्त में अनेक प्रकार के

प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ये पदार्थ विशिष्ट स्वरूप (Specific) याने केवल उपसर्गकारी तृणाणु जाति के साथ मिल कर अपना कार्य करनेवाले होते हैं। प्रतियोगी पदार्थयुक्त लसिका को क्षम लसिका (Immune serum) कहते हैं। मनुष्येतर प्राणियों में ज्ञात तृणाणुओं का प्रवेश करके तीव्र क्षम लसिकाएँ (High tittre sera) बनायी जाती हैं और उनका उपयोग अज्ञात तृणाणुओं की पहचान के लिये किया जाता है। विशेष विवरण आगे रोगक्षमता के अध्याय में। ये कसौटियाँ निम्न तीन प्रकार की हैं—

(१) पुञ्जीकरण कसौटी (Agglutination test)—इसका उपयोग मुख्यतया निम्न तृणाणुओंकी पहचान के लिये किया जाता है—बै. टैफाइड, ए. बी. बै., डीसेन्टरी शिगा, फ्लेक्स्नर, बै. मेलीटेन्सिस, बै. मास्मई, कालरा विब्रिओ, सेप्टोसैरा इक्टेरोहीमोरासी तथा न्यूमो और मेनिंगो के प्रकार।

(२) पूरक बंधन कसौटी (Compliment Fixation test)—इसका उपयोग कालरा वायरस, ट्रेपोनेमा पालिडा, बै. ट्युबरक्युलोसिस और गोनोकाकाय के लिये होता है।

(३) अवक्षेपण कसौटी (Precipitation test)—इसका उपयोग न्यूमो और स्ट्रेप्टो के प्रकार, बै. ऐन्थ्राक्स इनके लिये होता है।

(४) प्राणिरोपण कसौटियाँ (Animal Inoculation tests)—इसमें परीक्ष्य द्रव्य ग्रहणशील प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट करके उनमें उत्पन्न होनेवाले लक्षणों से, उनके मरने के बाद या उनकी हत्या करने के बाद उनके विकृतांगों का परीक्षण करने से या उनके रक्त या विकृतांगों में मिलनेवाले तृणाणुओं का परीक्षण रंजन तथा सूक्ष्मदर्शक द्वारा करने से अज्ञात तृणाणु की पहचान की जाती है। जिनके लिये यह पद्धति उपयुक्त है उनका कोष्ठक पृष्ठ ९५ पर दिया है।

रंजन और स्वरूप का कोष्टक

कोकाय-ग्रामग्राही	अन्य रंग	स्वरूप
१ स्ट्रेप्टो कोकाय	मेथिलेन ब्लू	छोटी-मोटी माला ।
२ स्टाफिलो कोकाय	,,	छोटे-मोटे द्राक्षा गुच्छ ।
३ न्युमो कोकाय	,,	युग्म, कुतमुख, कोपधारी ।
कोकाय—ग्राम त्यागी		
४ गोनो कोकाय	,,	युग्म, वृक्काकारी, पूयसेलों के भीत
५ मेनिंगो कोकाय	,,	युग्म, सामनेवाला भाग चपट
बेसीलाय—ग्रामग्राही		
६ बै. ट्यु.बर क्युलोसिसिस	झील नीलसेन	एक-एक या दो-दो या चार के गुच्छे, लाल रं के, मालाकारी, पतले कुछ टेढ़े
७ बै लेप्री	,,	हमेशा गुच्छे में, कु सेलों के भीतर कुछ मो समरंजित, लाल रंग
८ बै ऐन्थ्राक्स	स्पोर का रंजन	काफी लंबा और चौड़ा, सि
	,,	चोकूँटे, दो या अधिक मार
	,,	के रूप में स्पोर मध्य में
९ बै टेटानी	,,	स्पोर अन्तमें होनेसे एक सि
	,,	पर गोल लट्टू लगा हुआ
	,,	ऐसी ढोल बजाने की छ के समान
१० बै डिफ्थीरिया	नीसर का रंग	टेढ़े-मेढ़े चीनी अक्षरों के समा दोनों सिरों पर तथा कभी-क मध्यमें कणोंकी उपस्थिति

यैसीलाय—ग्राम त्यागी

११ यै पेस्टिस — छीशमन रग — छोटा मण्डाकारी, ध्रोतरंजन
१२ यै स्युमोमिया — युग्म यैसीलाय, कोपयुक्त, मोटा और छोटा

स्पैरीलाय—ग्राम त्यागी

१३ काकरा वकायु — पतला फीके धीव्ररेखा — स्वस्थ विरामाकारी, दो या अधिक लंबाई में मिलने से एस् (s) के समान या पेचदार
१४ बोरेलिया रिकरन्टिस — छीशमन — पेचदार, पेच दूर दूर और खुले, कई चार दस पाँच के गुच्छे भी मिलते हैं
१५ टैपोनेमा पालिडा — बीस्ता, फान्टाना — पेचदार, पेच बहुत नजदीक
१६ बोरेलिया विन्सेंटी — छीशमन — पेचदार परंतु पेच अनियमित साथ-साथ ग्राम त्यागी छोटे बैसीलाय
१७ लेप्टोस्पैरा इक्टेरोहीमो राजी छीशमन संपूर्ण शरीर रस्सी के समान ऐंठन युक्त, दोनों सिरे अंकुश के समान टेढ़े।

जीवन रासायनिक प्रतिक्रिया कोष्टक

ग्राम त्यागी कोकायवर्ग

नाम	ग्लुकोज	ल्याक्टोज	माल्टोज	स्याक्कारोज
मेनिंगोकोकाय	अम्ल	—	अम्ल	—
गोनोकोकाय	अम्ल	—	—	—
मै० कटारालिस	—	—	—	—

आन्त्रवासी वर्ग

नाम	ग्लूकोज	स्याक्टोज	मनाइट	लेडपसीटेट
बै कोली वर्ग	अम्ल, वायु	अम्ल, वायु	अम्ल, वायु	—
बै टैफोसस	अम्ल	—	अम्ल	
बै डीसेन्टरीशिगा	अम्ल	—	—	
,, फ्लेक्सनर	अम्ल	—	अम्ल	
,, स्मिट्स	अम्ल	देर में अम्ल	अम्ल	
बै पैराटैफोसस ए	अम्ल वायु	—	अम्ल वायु	—
,, बी	अम्ल, वायु	—	अम्ल, वायु	काला
बै एन्टरीटिस	अम्ल, वायु	—	अम्ल, वायु	,,

रोहिणी वर्ग

नाम	ग्लूकोस	माल्टोज	स्याक्यारोज	टेल्यूराइट
बै डिफ्थीरिश्रा	अम्ल	अम्ल	—	काला
,, होफमनी	—	,,	—	भूरा
,, जैरोसि	अम्ल	—	अम्ल	बादामी
,, एकन	,,	अम्ल	अम्ल	बादामी

प्राणिरोपण कोष्ठक

जीवाणु	प्राणि	रोपण मार्ग	रोपण फल
(१) न्यूमोकोकाय	चुहिया	त्वचा के नीचे या उदरगुहा में	दो दिनों में मृत्यु, रक्त में अगणित न्यूमोकोकाय
(२) बै रोहिणी	गिनीपिग	त्वचा के नीचे	२४ दिनों में मृत्यु—अधिवृक्क ग्रंथियाँ बढ़ी हुई, शोथयुक्त और रक्तस्रावी।

(११) स्पै मार्सेस म्यूरिस गिनीपिग श्वेतचूहा में चूहा — कुछ दिनों के बाद दोनों के रक्त में स्पै की उपस्थिति, और गिनीपिग की मृत्यु।

(१२) बोरेलिया रिकरन्टिस गिनीपिग श्वेत चूहा श्वेतचूहा में — २ दिन में चूहे के रक्त में चक्राणुओं की उपस्थिति।

प्रायोगिक निदान (Laboratory Diagnosis)

रोगों का निदान करने के दो मुख्य आधार होते हैं। प्रथम आधार लक्षणों और चिन्हों का होता है जो केवल पंच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर निर्भर होता है। इस आधार से प्राप्त निदान को लाक्षणिक (Clinical) निदान कहते हैं। यह आधार बहुत प्राचीन, संपूर्ण रोगोंके लिये उपयोगी तथा चिकित्सक की दृष्टि से निदान के लिये निर्णायक स्वरूप का होता है। दूसरा आधार रोगी के रस रक्तादि के परीक्षण का होता है जो प्रयोगशाला में प्रयुक्त विविध प्रयोगों के फलों पर निर्भर होता है। इस आधार से प्राप्त निदान को प्रायोगिक निदान कहते हैं। यह आधार अर्वाचीन, संपूर्ण रोगों के लिये अनुपयोगी तथा चिकित्सक की दृष्टि से निदान के लिये गौण स्वरूप का होता है। फिर भी इस कथन में अत्युक्ति नहीं है कि कम-से-कम जीवाणुजन्य रोगों के निदान में दूसरा आधार बहुत ही उपयोगी और कई बार प्रथम आधार की अपेक्षा अधिक निर्णायक स्वरूप का होता है। इसका कारण यह है कि इन रोगों में रोगी के रसरक्तादि में तथा मलमूत्रादि में रोग के कारणभूत जीवाणु या उनके प्रतियोगी पदार्थ या दोनों उपस्थित रहते हैं और उनकी पहचान से अमुक रोग निदान हो जाता है। उनकी पहचान का कार्य प्रत्यभिज्ञान में (पृष्ठ ८१) वर्णित विविध पद्धतियों द्वारा भलीभाँति होता है। यदि उस समय रोगी में होनेवाले अनेक संभवनीय रोगों के

नाम परीक्षक के सामने मार्गदर्शनार्थ उपस्थित रहे तो पहचान का काय अधिक सुगम होकर समय और परिश्रम की भी बचत हो जाती है, तथा ख्याल न होने से (Oversight) एकाध बार जो भूल हो सकती है वह भी नहीं हो सकती। इसलिये जो चिकित्सक प्रायोगिक पद्धतियों से निदान में लाभ उठाना चाहता है उसको चाहिये कि परीक्ष्य द्रव्य के साथ रोग का संक्षिप्त विवरण भेजे या रोगी में होनेवाले अनेक संभवनीय रोगों के नाम अपनी कल्पना के अनुसार सूचित करे।

तृणाणुओं का वर्गीकरण (Classification)

अब तक इस अध्याय में संपूर्ण विकारी तृणाणुओं के संबंध में सामान्य और समष्टि रूपसे विवरण किया गया है। अब दूसरे अध्याय में निम्न वर्गीकरण के क्रम से उनके संबंध में विशेष व व्यक्तिगत विवरण होगा। यह वर्गीकरण संपूर्ण विकारी तृणाणुओं के सुख स्मरणार्थ बहुत उपयोगी है।

(अ) कोकाय

ग्रामग्राही—स्ट्रेप्टोकोकाय स्टाफिलोकोकोय, न्यूमोकोकाय, मै० टेट्राजीनस,

ग्रामत्यागी—गोनोकोकाय, मेनिंगोकोकाय, मै० कटारालिस

(आ) बैसीलाय

ग्रामग्राही

(१) अम्लग्राही वर्ग (Acid fast group)
 बै. लेप्री, बै. ट्युबरक्युलोसिस, बै. स्मेग्मा

(२) स्पोरजनकवर्ग (Spore forming group)—
 वातपो—बै. ऐन्थ्राक्स, बै. मैकाइडीस, बै. सबटिलिस
 वातभो—बै. टेटानी बै. परिफ्रीजीनस कपस्युलेटस,
 बै. एडिमेटिक स्पाल्फी, बै. बोटुलीनस,

(३) रोहिणीवर्ग—(Diphtheria group)
 बै. डिफ्थीरिआ, बै. होफमन, बै. जेरोसिस बै. एक्न

१० प्र श से अधिक हो जाता है। न्यूमोकोकाय जन्य न्यूमोनिया और मैनिंगोकोकाय जनित मस्तिष्कावरण शोथ में श्वेतकणोत्कर्ष १५००० से अधिक और बहुकेन्द्रीका प्रमाण ९० प्र श या इससे अधिक होता है। पूयजनक तृणाणुओंके उपसर्ग में श्वेतकणोत्कर्ष का न होना उपसर्ग की सौम्यताका या अत्यंत उग्रता का निदर्शक होता है।

पूय का परीक्षण—पूय या स्राव को लेकर दो पट्टियों पर दो पतले प्रलेप बनाये जायँ। पश्चात् पट्टी पर उसको शुष्क करके एक पट्टी को मेथिलीन ब्ल्यू से और दूसरी को ग्राम से (पृष्ठ १०) रंजित करे और पृष्ठ ९१ पर दिये कोष्टकके अनुसार कारणभूत जीवाणु को पहचान ले। यदि आवश्यक मालूम हो तो पोषक मांसरस, अगर या रक्त अगर में पूय का रोपण करके और दो दिन तक उपसंवर्धन करके वृद्धि होने के बाद उसका परीक्षण करे।

ग्रामग्राही कोकाय (Gram-positive cocci)

स्टाफिलो कोकाय (Staphylo cocci)

वासस्थान—मनुष्यों का शरीर (पृष्ठ ९) इनका स्वाभाविक स्थान होता है। भूमि, जल और वायुमंडल में भी ये रहते हैं। इसके अतिरिक्त इनसे उत्पन्न होनेवाले विकारों के पूय में बहुत होते हैं।

शरीर और रंजन—ये आकार में गोल होकर छोटे मोटे द्राक्षा-गुच्छ के समान इकट्ठे हुए दिखाई देते हैं। कभी कभी अकेले टुकड़े भी दिखाई देते हैं। इनमें तन्तुपिच्छ, स्पोर या कोष नहीं होता। ये निश्चल होते हैं।

ये साधारण रंगों से आसानी से रंजित होते हैं। ये ग्रामग्राही हैं, परंतु पूय में कणभक्षित कोकाय कई बार ग्रामत्यागी हो जाते हैं और ऐसी अवस्था में इनको गोनो कोकाय समझने की भूल हो सकती है।

आधन व्यापार और संवर्धन—ये वातप्री और संभवतः वातमी

है। इनकी वृद्धि १०° ४१° से तक हो सकती है। पोषक तापक्रम ३७° में है।

सामान्य पोषक वपनकों पर इनकी वृद्धि आसानी से होती है। किंचित् क्षारीय प्रतिक्रिया प्रारंभ में वृद्धि के लिये पोषक होती है। अगर पर इनके मोटे अपारदर्शी, स्वतन्त्र और मण्डल (Disk) के समान गोल श्वेतवर्ण संघ उत्पन्न होते हैं जो २४-४८ घंटों में अपने स्वभाव के अनुसार पीत या स्वर्ण वर्ण के हो जाते हैं। मांस यूप में वृद्धि होने से वह एक सा कलुषित (Turbid) हो जाता है और कुछ समय के पश्चात् तली में अवक्षेप बनता है। रक्त अगर पर अगर के समान वृद्धि होती है परंतु इसमें रक्त द्रावण और रक्त पाचन होता है। यह कार्य अधिकतर इस स्वरूप के स्टाफिलोकोकाय में दिखाई देता है। आलू पर अगर के समान वृद्धि होकर रंग की उत्पत्ति विशेषतया दिखाई देती है।

जीवन रासायनिक गुणधर्म—जमी हुई जलिका और जिल्याटिन को ये तरल बनाते हैं और जिस स्थानमें जिल्याटिन तरल होता है उसका आकार चोंगे के समान (Funnel-Shaped) रहता है। ग्लूकोज ल्याक्टोज, मनाइट तथा अन्य शर्कराओं में ये अम्ल उत्पन्न करते हैं, वायु नहीं। ये रंगोत्पादक हैं। इनका रंग शरीर में ही रहता है, इसलिए वृद्धि करने के पश्चात् केवल संघ रंगीन होते हैं, वर्धनक में रंग का जरा सा भी अंश नहीं मिलता।

भेद—रंगोत्पत्ति के अनुसार इनके तीन भेद करने की प्रथा थी। सफेद संघ को श्वेतवर्ण (Albus), पीत संघ को पीतवर्ण (Citreus) और सोने के समान संघ को हेमवर्ण (Aureus) कहते थे। आज कल इनके केवल दो ही भेद किये जाते हैं और वे जलिका कसौटियों के आधार पर हैं (१) स्टेफ्लोकोकस पायोजीनस (२) स्टेफ्लोकोकस एपिडर्मिकिस। इनमें प्रथम भेद के कोकाय श्वेत और पीत दोनों तरह के संघ उत्पन्न करते हैं, अधिक विषोत्पादक अतएव अधिक विकारकारी

होते हैं, विल्यादिन को तरेक करते हैं और शर्कराओं में अमिर्यग उत्पन्न करते हैं। दूसरे प्रकार के कोकाय केवल श्वेतवर्ण संघ उत्पन्न करते हैं, इनमें विपोत्पादन और विकारकारिता बहुत ही कम होती है और त्वचा पर सहवासी के तौर पर हमेशा रहा करते हैं। इसलिये इनको, एपिडर्मिकस नाम दिया गया है।

जीवन क्षमता और प्रतिकार—यद्यपि ये स्पोर नहीं बनाते तो भी इनमें उष्णता और शुष्कीकरण के साथ मुकाबला करने की शक्ति अन्य दुण्डाणुओं की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। इनका घातक तापक्रम ६२ सें है और ८० सें तापक्रम को ये आधे घंटे तक सह सकते हैं। कुछ प्रकार ऐसे हैं कि जो ७५ सें तापक्रम को भी थोड़ी देर तक सह सकते हैं। प्रयोगशाला में संवर्धित कोकाय पुनर्संवर्धित न करने पर भी महीनों तक जीवन क्षम रहते हैं। वैसे ही सूखे हुए पूय के कोकाय भी तीन महीनों तक जीवन क्षम होते हैं।

विषोत्पत्ति और विकारकारिता—ये श्वेतकण नाशक (पृष्ठ ११) विष उत्पन्न करते हैं। इनके कुछ प्रकार ऐसे हैं कि जो बहुत ही कम सबल का विष उत्पन्न करते हैं जिससे रक्तस्रावण, श्वेतकणनाशन और धातु मारण (Necrosis) ये तीनों कार्य होते हैं। इसके अतिरिक्त इनके विष में प्रवेश्यता बढ़ाने को (पृष्ठ ७७) भी शक्ति होती है।

स्टाफिलो कोकाय त्वचा के निवासी होने के कारण त्वचा में ही अधिकतर विकार उत्पन्न करते हैं। त्वचा के भीतर इनका प्रवेश त्वचा के छोटे मोटे विदारों या व्रणों से स्वेदपिण्डों से या केशपिण्डों से होता है। शरीर में इनके लिये पुष्कारक उपस्थित होने के कारण इनके विकार प्रायः स्थानिक (पृष्ठ ८०) ही (Localised) हुआ करते हैं। परंतु कई बार इनकी क्षमता या रोगी की दुर्बलता के कारण वे सब शरीर में फैलते हैं और आभ्यंतरिक अंगों में, विशेष करके अस्थि और वृक्क में, पूयोत्पत्ति करते हैं। इनमें श्लेष्मक त्वचा पर कृमि करने की

शक्ति नहीं है। इनके विकार अधिकतर गरमी और बरसात के मौसिम में होते है।

विकार—छोटे-मोटे फोड़े, फुन्सियाँ, विद्रधियाँ, प्रमेहपिडका (Carbuncle), व्रणस (Whitlow), त्वग्धाशोथ (Cellulitis) अस्थिमज्जाशोथ, मस्त्याबरणशोथ, वृक्कास्थिदशोथ (Pyelonephritis) रक्ताणुदोषमयता, पूयमयता, मध्यकर्णशोथ, मस्तिष्कावरण-शोथ। इन मुख्य विकारों के अतिरिक्त सोजाक और पुप्फुसपूज्जा में रोग की तीव्रता और क्षीणता बढ़ाने में ये सहायता करते हैं। यौवन पीटिका (Acne) छाजन (Eczema) इन रोगों में तथा दन्तशोथ, कर्णमूल ग्रन्थिशोथ (Parotitis) इन रोगों में भी ये अप्रधान रूप में रहते हैं।

चिकित्सा—इनके रोगों में सीरम लाभप्रद नहीं होता। वैक्सीन से बहुत फायदा होता है। प्राय: संचित वैक्सीन का ही उपयोग किया जाता है, क्योंकि इनकी विविध उपजातियों (Strains) में कोई विशेष फर्क नहीं होता। परंतु उससे यदि लाभ न हो तो स्वजनित का उपयोग करना चाहिये। मात्रा रोग के अनुसार १–२०० करोड़ तक त्वचा के नीचे। स्थानिक प्रयोग के लिये स्टाफिलो कोकस का विषघ्न (Anti virus) भी बनता है। त्वचा के विकारों में इसका उपयोग बाहर से लगाने के लिये (Compress) किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—पूय परीक्षण (पृष्ठ १०१) देखो।

स्ट्रेप्टोकोकाय (Streptococci)

भेद—इनके मुख्य चार भेद किये गये हैं:—(१) स्ट्रे हिमालि टीकस (Haemolyticus) (२) स्ट्रे विरिडन्स (Viridans) (३) स्ट्रे न्युमोनिया (pneumoniae) (४) स्ट्रे फीक्यालिस (Foecalis)

वासस्थान—स्टाफिलो के समान स्ट्रेप्टो भी मनुष्यों के सहवासी हैं, परंतु ये बाह्य त्वचा पर न रह करके श्लेष्मल त्वचापर रहते हैं। पचन श्वसन और मूत्र प्रजनन संस्थान इनके मुख्य स्थान हैं। स्ट्रे हीमालिटिकस मनुष्यों के शरीर में बहुत ही कम मिलता है, और जब मिलता है तब गले में (पृष्ठ १०९ गाइक देखो) होता है। स्ट्रे विरिडन्स मुख, गला और श्वसन मार्ग के ऊपरी हिस्से में हमेशा मिलता है। स्ट्रे फीकालिस आन्त्र में हमेशा उपस्थित रहता है और मल के साथ बाहर निकलता रहता है। इसलिये उसको आन्त्र कोकाय (Entero cocci) भी कहते हैं। स्ट्रे न्युमोनिया क्वचित् श्वसन मार्ग के ऊपरी हिस्से में मिलता है। यद्यपि यह स्ट्रेप्टोकोकाय का एक भेद माना गया है तो भी वास्तव में वह न्यूमोकोकाय एक प्रकार है। इसलिये उसका विचार न्युमोकोकाय में होगा।

शरीर और रंजन—ये आकार में गोल होकर छोटी या बड़ी माला के समान इकट्ठे हुए दिखाई देते हैं। हिमालिटिकस की माला लंबी और विरिडन्स की माला छोटी होती है। स्ट्रे फीकालिस कभी छोटी माला के समान या कभी दो-दो दिखाई देते। तरल वर्धनकों में माला निर्माण भलीभाँति होता है। ये निश्चल, स्पोररहित और कोष रहित (न्यूमोनिया छोड़कर) होते हैं।

साधारण रंग से ये आसानी से रंजित होते हैं। ग्राम ग्राही हैं। कुछ अविकारी स्ट्रेप्टो कोकाय ग्राम त्यागी भी रहते हैं।

जीवन व्यापार और संवर्धन—ये वातपी और। समाप्य वातु भी हैं। पोषक तापक्रम ३७-५° सें है, परंतु २५ से ४५ सें तक इनकी वृद्धि हो सकती है।

सामान्य वर्धनकों में इनकी वृद्धि होती है, परंतु रक्त या सिरम छोड़ने से और भी अच्छी होती है। इसलिये रक्त अगार (पृष्ठ ५९) इनके लिये बहुत अच्छा वर्धनक होता है। अगार पर २४ घंटे में इनकी

वृद्धि बहुत छोटे-छोटे (अधिक-से अधिक १ मि मिटर व्यास के), अर्ध पारदर्शी सुकुमार, स्वतन्त्र संघों के रूप में दिखाई देती है। मांसयूष में कणदार अवक्षेप तली में बैठकर ऊपर का हिस्सा स्वच्छ रहता है। स्टाफिलोकोकाय की अपेक्षा इनकी वृद्धि विलम्ब में होती है।

जीवन रासायनिक गुणधर्म—इनमें जिलाटिन को तरल करने शक्ति नहीं है। शर्कराओं में अमिपंग उत्पन्न करने का गुण सबमें एक-सा नहीं होता और इसी से इनका पार्थक्य भी किया जाता है। जैसे स्ट्रे फीक्वालिस मनाइट और इस्क्यूलिन (Aesoulin) में अम्ल उत्पन्न करते हैं, परंतु बाकी तीनों में यह गुण नहीं है। रक्त द्रावण का गुण भी तीनों में भिन्न-भिन्न होता है और उसके आधार पर इनके भेद भी किये गये हैं। जैसे —

(१) बीटा प्रकार (Type)—इसमें रक्त अगर में संघों के चारों ओर बहुत साफ रंगरहित वलय (Zone) दिखाई देता है। यह रंगरहित वलय पूर्ण रक्त द्रावण के कारण होता है। जैसे, स्ट्रे हिमोलिटीकस।

(२) अल्फा प्रकार—इससे रक्त अगर में संघों के चारो ओर कुछ हरा सा (Greenish) वलय दिखाई देता है। यह हरा रंग आंशिक द्रावण के कारण होता है। जैसे, स्ट्रे विरीडन्स।

(३) ग्यामा प्रकार—इसमें रक्त अगर में कुछ भी फर्क नहीं होता। इसका कारण रक्त द्रावक गुण का अभाव। जैसे, स्ट्रे फीक्वालिस

जीवन क्षमता और प्रतीकार—उष्णता प्रकाश और रासायनिक द्रव्यों के साथ स्ट्रेप्टोकोकाय स्टाफिलोकोकाय के समान प्रतीकार नहीं कर सकते। इनका घातक तापक्रम ५४ सें हैं। प्रयोग शाला में संवर्धित कोकाय पुनर्संवर्धित न करने पर अधिक काल तक जीवन क्षम नहीं रह सकते। यदि ये बरफ में रखे जाय तो ये अधिक काल तक रहते हैं। जीव के रंगों के बारे में मात्र स्ट्रेप्टो कोकाय स्टाफिलोकोकाय

से अधिक प्रतिकारक होते हैं और इस बात का फायदा मिश्र कोकाय से केवल स्ट्रेप्टो कोकाय की शुद्ध वृद्धि करने के लिए वर्धनक में अति सूक्ष्म प्रमाण में (एक लाख भाग में एक भाग) क्रिस्टल वायोलेट डाल कर लिया जाता है। इससे स्टाफिलो कोकाय की वृद्धि रुक कर केवल स्ट्रेप्टो कोकाय की होती है। स्ट्रे फीक्याफिस ६० सें० के तापक्रम को ३० मिनट तक सह सकती हैं।

विषोत्पत्ति और विकारकारिता—स्ट्रेप्टोकोकाय रक्त द्रावक और श्वेतकण नाशक (पृष्ठ ६२) विष उत्पन्न करते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त इनका शरीर भी विषैला (अन्तर्विष) होता है। इनकी क्षमता अधिकतर रक्तद्रावक गुण पर निर्भर होने के कारण स्ट्रे हीमो लिटीकस सबसे अधिक स्ट्रे विरिडन्स उससे कम और स्ट्रे फीकेलिस नहीं के बराबर कम होते हैं। स्ट्रे हिमोलिटिकस विस्फोटोत्पादक (Erythrogenic) विष भी उत्पन्न करते हैं तथा आक्रमणशील भी अधिक होते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें फैबिन द्रावक (Fibrinolytic) शक्ति भी होती है जो स्ट्रे विरिडन्स,, न्युमोकोकस वै कोकाय, पै टैफोसस, वै एन्थ्रेक्स इत्यादि जीवाणुओं में नहीं है। इन सब कारणों से हिमोलिटीकस के विकार अधिक भयानक स्वरूप के होते हैं। इनके विकारों की निम्न विशेषताएँ होती हैं। (१) बाह्य त्वचा की अपेक्षा श्लेष्मक त्वचा में विकार करने की प्रवृत्ति। (२) स्थानिक विकृति करने की ओर प्रवृत्ति कम, सार्वदैहिक की ओर अधिक। कई बार प्रवेश स्थान में जरा सी भी विकृति न होकर एकाएक जीवाणु दोषमयता जैसी गम्भीर सार्वदैहिक विकृति ही दिखाई देती है। इस प्रकार के उदाहरण दूषित व्रणों के शस्त्रकर्म के समय डाक्टरों में दिखाई देते हैं। (३) शरीर में संचार करने पर हृदय, मस्तिष्क, फुप्फुस इत्यादि के आवरणों (Serous membranes) की ओर आकर्षण। (४) रक्तद्रावक विष के कारण अधिक रक्तक्षय करने की प्रवृत्ति।

Spreading factor
[illegible]

(५) फैब्रिन द्रावक गुण के कारण शोथ के स्थान में उत्पन्न हुआ तरल फैब्रिन रहित अतएव पतला।

वाहक—स्ट्रे हीमोलिटीकस मनुष्यों के सहवासी नहीं हैं। परन्तु जिनके गले खराब होते हैं उनके गले में ये कुछ काल तक निवास कर सकते हैं और ऐसे व्यक्ति उनके वाहक बनकर बिंदुक्षेप से उनका प्रसार करते हैं। इसलिये ऐसे लोगों का प्रसुति और शस्त्रकर्म के समय उपस्थित रहना प्रसूता और शस्त्रकर्मी के लिए हानिकर होता है। अत: यह निर्बंध होना चाहिए कि प्रसुति और शस्त्रकर्म के समय बिना मुख जालि (Mask) लगाए कोई भी व्यक्ति वहाँ उपस्थित न रहे। यह निर्बंध आत्मरक्षा की अपेक्षा पररक्षा की दृष्टि से आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जिनका गला खराब हो उनको शस्त्रकर्म के समय उपस्थित न रहना चाहिए न व्रणितों का व्रण बंधनादि कार्य करना चाहिए।

स्ट्रे हीमोलिटीकस के विकार—उपत्वचा, उपत्वचा शोथ कंठिवग का अन्तायनन (गले का उपत्वचा शोथ) मध्यश्रुति, मस्तिष्का शोथ, टान्सिल परिवर्ति, विद्रधि, लोहित (Scarlet) ज्वर, विसर्प, प्रसुति-ज्वर हृदन्तः शोथ, तृणाणु दोष मयता, पूयमयता, मस्तिष्कावरणशोथ मध्यकर्ण शोथ, पूयोरस (Empyema), उदरावरण शोथ इत्यादि। इन प्रधान विकारों के अतिरिक्त रोहिणी, रोमान्तिका, फुफ्फुसफुफ्फुसा इत्यादि श्वसन संस्थान के रोगों के साथ मिलकर ये उनकी गंभीरता बढ़ाकर ब्रांकोन्युमोनियाँ पूयोरस इत्यादि उपद्रव उत्पन्न करते हैं।

स्ट्रे विरिडन्स के विकार—इनसे उत्पन्न होनेवाले विकार सौम्य चिरकालीन स्वरूप के होकर उनका आकर्षण हृदन्त कला, संधियों की श्लेष्मक कला, पित्ताशय, आमाशय और मुख की ओर—होता है। जैसे, दन्त विद्रधि, पूयदन्त (Pyorrhoea) चिरकालीन टॉन्सिक शोथ, मस्तिष्कशोथ, हृदग्र शोथ, पित्ता शय शोथ, आमाशयिक व्रण, आन्त्रपुच्छ शोथ और आमवात ?

चिकित्सा—स्ट्रे हीमोलिटीकस के तीव्र विकारों में सीरम बहुत फायदा करता है। मात्रा १०-२० सी सी पेशी में। चिरकालीन विकारों में वैक्सीन लाभप्रद होता है। मात्रा १०-५० करोड़। समभाव रूप से जब ये उपस्थित रहते हैं तब भी सीरम का उपयोग करने से बहुत फायदा होता है। जैसे, रोहिणी।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—पूय परीक्षण देखो (पृष्ठ १०२)। पूयाणु दोषमयता की स्थिति में रक्तवृद्धि (Blood Culture) करके देखना चाहिये।

स्ट्रेप्टोकोकाय का पार्थक्य दर्शक कोष्ठक

पार्थक्यकर बात	स्ट्रे हीमोलीटीकस	स्ट्रे वीरीडन्स	स्ट्रे फीकालिस
शारीर	लम्बी माला	छोटीमाला	दो-दो या छोटी माला
रक्त स्रावण	अधिक	मध्यम	—
ममाइट में अभिपाक	—	—	अम्ल
उष्णता प्रतिकार ६०° में	—	—	+
न्यायकोमी के वर्धनक में वृद्धि	—	—	+

न्यूमोकोकाय (Diplococcus pneumoniae)

वासस्थान—२० प्र श स्वस्थ मनुष्यों के मुख और गले में न्यूमोकोकाय सदैव उपस्थित रहते हैं। इनमें आधे चतुर्थ प्रकार के और आधे अन्य प्रकार के होते हैं। न्यूमोनिया पीड़ितों के फुफ्फुस और रक्त में तथा तज्जन्य अन्य विकृतियों में भी ये बहुत मिलते हैं।

शारीर और रंजन—ये भाले की नोक के समान कुछ लंबोतरे (Lanceolate) तिकोने युग्म कोकाय हैं। इनका नोकीला भाग दूर और अपरा भाग आमने सामने होता है, अर्थात् इनका ह्रस्वाक्ष (Short axis)

समान्तर होता है (आगे गोनोकोकाय का शरीर देखो)। कभी-कभी ये माला के रूप में भी दिखाई देते हैं। इसलिये इनको स्ट्रेप्टोकोकस लान्सिओलेटस (St lanceolatus) भी कहते हैं। इनके शरीर का खास अंग कोष (११) है जिसकी निम्न विशेषताएं होती हैं।—(१) प्राणियों के शरीर में प्राप्त या संवर्धित कोकाय में कोष बहुत बड़ा और साफ होता है। कृत्रिम तौर पर संवर्धित कोकाय में यह नहीं के बराबर होता है। इसका कारण यह है कि वयस्कों में वृद्धि करनेवाले न्यूमो कोकाय अपुष्पमान् होने के कारण शरीर रक्षक और प्रबन्धक कोष जैसे अंग को उन्हें आवश्यकता नहीं होती; परन्तु शरीर में उपसर्ग करने-वाले न्यूमोकोकाय पुष्पमान् होने के कारण (पृष्ठ ८१) उन्हें शरीर रक्षार्थ और पलायनार्थ कोष की आवश्यकता होती है। (२) अर्थात् न्यूमोकोकाय की उग्रता कोष के ऊपर निर्भर होती है और उसकी मोटाई के समप्रमाण में रहती है। तीसरे प्रकार के न्यूमोकोकाय के ऊपर सबसे मोटा कोष होता है, इसलिये तीसरा प्रकार सबसे उग्र होता है (पृष्ठ ११७ देखो)। (३) कोष प्रतियोगीजनक (Antigen) अवयव है और इसी के कारण रोगियों के रक्त में आस्वादक द्रव्य (Opsonins) बनते हैं। (४) कोष एक प्रकार के कार्बोहैड्रेट से बनता है। यह कार्बोहैड्रेट एक प्रकार में एक सा परंतु भिन्न भिन्न प्रकारों में भिन्न भिन्न संगठन का होता है। प्रकार विशेषता (Type-specificity) कोष के ऊपर ही निर्भर होती है। (५) कोषयुक्त कोकाय के संघ मृदु और कोषरहित कोकाय के संघ खर (rough) होते हैं।

ये साधारण रंगों से रंजित होते हैं, ग्रामग्राही हैं। कोष के लिये विशेष रंग की आवश्यकता होती है। सामान्य रंग का उपयोग करने पर कोष कोकाय के चारों ओर एक अरंजित वलय सा दिखाई देता है। जब अनेक कोकाय माला के रूप में मिलते हैं तब सबके ऊपर भी कोष

होते हैं वे एक कोष की भाँति दिखाई देते हैं।

ये गतिहीन, तन्तुपिच्छ हीन और स्पोर हीन हैं।

जीवन व्यापार और संवर्धन—ये वातपी और सामान्य वातमी हैं। पोषक तापक्रम ३७.५° से० है। २५° से० के नीचे इनकी वृद्धि प्राय: नहीं होती।

साधारण वर्धनकों में इनकी वृद्धि हो सकती है, परंतु रक्त या लसिकायुक्त वर्धनकों में अधिक प्रचुरता से होती है। वर्धनक में ग्लूकोज होने से प्रारंभ में यद्यपि इनकी वृद्धि होती है तो भी आगे आगे चलकर अम्ल की उत्पत्ति के कारण ये धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। पोषक अगार में इनकी वृद्धि नहीं होती, परंतु रक्त अगार या लसिका अगर में स्ट्रेप्टोकोकाय के समान इनके भी छोटे छोटे (१ मि मि व्यास के) स्वतन्त्र, अर्ध पारदर्शी, आर्द्र संघ उत्पन्न होते हैं। रक्त अगार में हरे विरिडन्स के समान कुछ रंग के संघ आंशिक हास्य के कारण होते हैं। मांस सूप वृद्धि होने से कलुषित हो जाता है। इसके संघ दो प्रकार के होते हैं, मृदु और खर। मृदु उग्रता के निदर्शक होते हैं।

जीवन रासायनिक गुण धर्म—ये विविध शर्कराओं में ल्याक्टिक एसिड उत्पन्न करते हैं। इसके लिये इन्युलिन अपवाद है। पित्त के लवणों का इनके ऊपर नाशक परिणाम होता है। यदि मांस सूप में संवर्धित जीवाणुओं में १० प्र श सोडीयम टारोकोलेट का ०.५ सी सी छोड़ दिया जाय तो १० मिनिट में न्यूमोकोकाय नष्ट हो जाते हैं।

जीवन क्षमता और अविकार—कृत्रिम वर्धनकों में ये अधिक काल तक जीवन क्षम नहीं रह सकते, आप से आप गल जाते (Auto lysis) हैं। पित्तयुक्त और ग्लूकोज युक्त वर्धनकों में भी ये जल्दी मर जाते हैं। इसलिये यदि वर्धनकों में इनको जीवनक्षम रखना हो तो बारबार पुनर्स वर्धन करना पड़ता है। प्राणियों के अंग, जो न्यूमोकोकाय

स उपसृष्ट हैं, यदि तुरन्त और पूर्णतया सुखाये जाँय तो उनमें न्यूमोकोकाय उग्रता के साथ जीवन क्षमता रख सकते हैं। साधारणतया इनकी प्रतीकार शक्ति बहुत कम होती है। विनाशक उष्णतामान ५२° सें० है प्रत्यक्ष सूर्य प्रकाश से ये एक घंटे में मर जाते हैं। अतः शरीर के बाहर थूक के सूक्ष्म कणों में बहुत काल तक सजीव नहीं रह सकते। अंधेरे स्थान में १ ४ महीनों तक इनका नाश नहीं होता है। सौम्य जन्तुघ्न द्रव्यों से इनका नाश थोड़े समय में होता है परंतु थूक में इनके ऊपर श्लेष्मा का आवरण होने के कारण इनका विनाश जंतुघ्न द्रव्यों से जल्दी नहीं हो सकता।

न्यूमोकोकाय के प्रकार (Types)—यद्यपि सब न्यूमोकोकाय रंजन स्वरूपादि बातों में साम्य रखते हैं तथापि लसिका विषयक गुणों में उनमें भेद होते हैं। व्यवहार की दृष्टि से उनके चार प्रकार किये गये हैं। पहिले तीन प्रकार पुञ्जीकरण पद्धति से पृथक किये गये हैं। और चतुर्थ में पुञ्जीकरण के द्वारा तीनों में जो नहीं आते उनका समावेश किया गया है। अर्थात् प्रथम तीन प्रकारों में प्रत्येक प्रकार के न्यूमोकोकाय एक तरह के होते हैं परंतु चौथे प्रकार में बीसों तरह के न्यूमोकोकाय समाविष्ट किये गये हैं। इसलिये चौथे प्रकार को चौथा वर्ग (Group) भी कहते हैं।

प्रथम प्रकार—न्यूमोनिया के रोगियों में ३५ प्र. श इससे पीड़ित होते हैं। इससे पूयोरस (Empyema) और फुफ्फुसावरणशोथ ये उपद्रव अधिक होने की संभावना होती है। यह उग्र है और इससे पीड़ित रोगियों में मृत्यु का प्रमाण २५ प्र.श हैं। इसके लिये वीर्यशाली लसिका (Potent antiserum) उपलब्ध हुई है।

द्वितीय प्रकार—न्यूमोनिया के रोगियों में २५ प्र श रोगी इससे पीड़ित होते हैं। प्रथम और द्वितीय प्रकार से ६० प्र. श. रोगी पीड़ित होते हैं, इसलिये ये दोनों मारक प्रकार (Epidemic types)

कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारों के न्युमोकोकाय स्वस्थ मनुष्यों के गले में प्रायः नहीं मिलते। परंतु इनसे पीड़ित रोगियों के संपर्क में आनेवालों में (संपर्कवाहक Contact Carriers) ये २१ दिन तक गले में रह सकते हैं और इतनी अवधि में यदि वाहकों में सर्दी मद्यपान इत्यादि से नियमता उत्पन्न हो जाय तो ये रोग उत्पन्न करते हैं। यह प्रकार प्रथम प्रकार की अपेक्षा अधिक उग्र है और इससे मृत्यु का प्र० श० प्रमाण ३० होता है। इसके लिये भी लसिका बनती है, परन्तु वह प्रथम प्रकार के समान वीर्यशाली नहीं है।

तृतीय प्रकार—न्यूमोनिया से पीड़ित रोगियों में इससे पीड़ितों की संख्या कम-से-कम पाये १५ प्र० श० ही होती है। परन्तु यह अत्यन्त उग्र स्वरूप का प्रकार है, इसलिये मृत्यु का प्रमाण सबसे अधिक पाये ५० प्र० श० होता है। इस प्रकार के न्यूमोकोकाय छोटी छोटी माला में (पृष्ठ १११) दिखाई देते हैं तथा इनके सूत्र श्लेष्मा के समान चिपचिपे होते हैं। इसलिये इनको स्ट्रे० म्यूकोसस (St. Mucosus) भी कहते हैं। इसके ऊपर बड़ा कोष भी होता है। इसके लिये कोई लसिका नहीं बनती। इसकी विकृतियों में जो स्राव बनता है वह बहुत चिपचिपा (Viscid) और चमकीला (Glairy) होता है।

चतुर्थ प्रकार—मुख और गले में मिलनेवाला यह प्रकार है। न्यूमोनिया के रोगियों में २५ प्र० श० इससे पीड़ित रहते हैं। यह अत्यन्त सौम्य है और इससे प्र० श० मृत्यु केवल १२ होती है। इसके लिये भी कोई लसिका नहीं बनती।

विषोत्पत्ति—न्यूमोकोकाय से कोई बहिर्विष नहीं बनता। उनसे कुछ अन्तर्विष बनता है जो उनके नष्ट-भ्रष्ट होने पर शरीर में फैलता है। परन्तु इससे न्यूमोनिया में होनेवाले दारुणज्वर मोक्ष (Crisis) तथा अन्य घटनाओं का ठीक ठीक खुलासा नहीं होता। यद्यपि इसको ठीक-बहिर्विष नहीं कह सकते तथापि यह सिद्ध हुआ है कि इनके शरीर से-

एक विशिष्ट विद्राव्य वस्तु (Secific Soluble Substance) संक्षेप में वि० वि० व० या S S S) बनती है जो धीरे धीरे आस पास फैलकर संपूर्ण शरीर को व्याप्त करती है और पूय पृथक्, मूत्र इत्यादि के साथ उत्सर्गित होती है। यह वस्तु पालीस्याकाराइड Polysaccharide) है और न्यूमोकोकाय के कोष से बनती है। इसका कार्य अग्रसिम (पृष्ठ ३९) के समान होने से जब अधिक मात्रा में इसकी उत्पत्ति होती है तब शरीर की भक्षक सेलें न्यूमोकोकाय का भक्षण करने में असमर्थ होती हैं और न्यूमोकोकाय बिना रोकटोक बढ़ सकते हैं। न्यूमोकोकाय के चारों प्रकारों में उग्रता की दृष्टि से जो भेद है वह इस वस्तु के कारण होता है। तीसरे प्रकार के कोकाय इसको अधिक मात्रा में दूसरे मध्यम मात्रा में, प्रथम अल्पमात्रा में और चतुर्थ अत्यल्प मात्रा में उत्पन्न करने के कारण तीसरा प्रकार उग्रतम, दूसरा उग्रतर, प्रथम उग्र और चतुर्थ अनुग्र होता है। यह वस्तु सवर्ण सम लसिका (Homologous immune serum) के साथ अव-क्षेप करती है इसलिये प्रकार प्रत्यभिज्ञान में उपयोगी होती है।

विकारकारिता—न्यूमोकोकाय से होनेवाला प्रधान रोग लोबर न्यूमोनिया (८० प्र० श०) है। इसके अतिरिक्त बच्चों में और बूढ़ों में प्रधान या उपद्रव के तौर पर होनेवाला ब्रांको न्यूमोनिया इन्हीं से होता है। आघात, सर्दी, थकान, मद्यपान, खराब आहार, विषमज्वर इत्यादि रोग इसकी उत्पत्ति में सहायता करते हैं। शरीर में प्रवेश श्वसन मार्ग से होकर वहाँ से फुफ्फुसादि विविध अंगों में प्रवेश लसिका वाहिनियों या रक्तवाहिनियों द्वारा होता है। न्यूमोकोकाय पूयजनक हैं, इसलिये यहाँ पर विकृति होती है वहाँ पर पूय बनता है। इसके अतिरिक्त न्यूमोकोकाय में शोथ के स्थान में फैब्रिन उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। इसलिये विकृत अंग का स्राव काफी गाढ़ा फैब्रिन युक्त होता है। न्यूमोनिया में तृणाणुमयता तृणाणु दोषमयता (पृष्ठ ८९) होती

है। शरीर की रक्षा मुख्यतया श्वेतकणों के द्वारा होती है। इसलिये इस रोग में रक्त में श्वेतकणोत्कर्ष (पृष्ठ ११९) हुआ करता है।

न्यूमोनिया और ब्रान्कोन्यूमोनिया के अतिरिक्त न्यूमोकोकाय से मस्तिष्कावरण शोथ, हृदयावरण शोथ, हृदन्तः शोथ, पूयोरस, उदरावरण शोथ, संधिशोथ, मध्यमकर्ण शोथ इत्यादि विकार होते हैं।

चिकित्सा—न्यूमोकोकाय के प्रथम दो प्रकारों के लिये बहुत ही वीर्यशाली लसिका आजकल उपलब्ध है। तीसरे और चौथे प्रकार के लिये नहीं है। ये लसिकाएँ एकोज्ञव (Monovalent) और बहुज्ञव (Polyvalent) दोनों तरह की होती हैं। एकोज्ञव लसिका केवल एक ही प्रकार में लाभप्रद होती है। बहुज्ञव संमिश्र प्रकार में लाभप्रद होती है। प्रारम्भ में जब तक न्यूमोकोकाय का प्रकार निश्चित नहीं होता तब तक बहुज्ञव लसिका का उपयोग करना चाहिये, प्रकार मालूम होने पर उसी प्रकार की एकोज्ञव लसिका का उपयोग करना उचित है, क्योंकि एक प्रकार की लसिका दूसरे प्रकार में व्यर्थ होती है। इस लसिका का उपयोग जितना जल्दी किया जाय उतनी ही अधिक सफलता मिलने की आशा होती है। लसिका से प्रथम प्रकार में जितना लाभ होता है उतना दूसरे प्रकार में नहीं होता। फेल्टन (Felton) ने इसके लिये बहुत केन्द्रित (Concentrated) लसिका बनायी है जिसके एक सी० सी० में दो हजार युनिट होते हैं। प्रथम १०००० युनिट की मात्रा सिरा द्वारा दी जाती है और आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक ८ घंटे पर उतनी ही मात्रा दी जाती है। मध्यम रोग में २४ घंटे में ५०००० तक, तीव्र रोग में १ लाख तक की मात्रा दी जाती है।

न्यूमोकोकाय के उपसर्ग से रोगियों के रक्त में प्रतिविष नहीं बनता, केवल पुंजकारक, अवक्षेपक और हविकारक पदार्थ बनते हैं। अपार हम लसिका को चिकित्सा के काम में लाते जाती है उसमें भी ये ही पदार्थ उपस्थित रहते हैं। इनमें पुंजकारक और अवक्षेपक पदार्थों का

उपयोग न्यूमोकोकाय के प्रत्यभिज्ञान में और रुधिकारक का चिकित्सा में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि चिकित्सा में प्रयुक्त हुई लसिका न विषनाशक है न तृणाणुनाशक है, यह रुधिकारक पदार्थों के कारण शरीर की भक्षक सेलों को न्यूमोकोकाय का भक्षण करने में सहायता करती है।

वैक्सीन का उपयोग न्यूमोनिया में नहीं होता, परन्तु विलंबित उपशम (Delayed Resolution) में तथा स्थानिक उपसर्ग में इसका कुछ उपयोग हो सकता है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—इसके लिये थूक, फुफ्फुस वेष्ट से प्राप्त द्रव, मस्तिष्कावरण शोथ में मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव, तृणाणुदोषमयता में रक्त इत्यादि पदार्थ काम में लाये जाते हैं, और इनमें तृणाणुओं की पहचान (१) रंजन की ग्राम की विधि से, (२) रक्त अगार में वृद्धि करने से, (३) पित्तविद्राव्यता और इन्यूलिन में अभिवर्धन से (४) श्वेतमूषिका में रोपण (पृष्ठ ९५) से की जाती है। अप्रत्यक्षतया इनकी पहचान रक्तमें श्वेतकणोत्कर्ष से तथा थूक और मूत्र में वि० वि० प० की उपस्थिति का ज्ञान कर लेने से होती है।

न्यूमो और स्ट्रेप्टो में पार्थक्य—न्यूमोकोकाय भाले की नोक के समान लंबे या त्रिकोणाकृति, दो दो और कोष युक्त होते हैं। स्ट्रेप्टोकोकाय गोल या दीर्घवृत्त माला में और कोष रहित होते हैं। (२) न्यूमोकोकाय इन्यूलिन में अभिवर्धन (अम्ल) उत्पन्न करने वाले पित्तविद्राव्य होते हैं। (३) रक्त अगार पर न्यूमोकोकाय के संघ स्ट्रेप्टोकोकाय की अपेक्षा अधिक साफ किनारे के अधिक पारदर्शी और अधिक चपटे होते हैं।

प्रकार निर्धारण (Determination of types) लसिका द्वारा चिकित्सा के लिये यह बहुत आवश्यक है। इसके लिये निम्न तीन पद्धतियों का उपयोग किया जाता है।

(१) पूँजीकरण पद्धति—इसके लिये तीनों प्रकारों की क्षम लसिका और न्यूमोकोकाय की शुद्ध वृद्धि की आवश्यकता है। यह शुद्ध वृद्धि चुहिया में शूक की सुई लगाकर और ८-१० घंटे के बाद उसकी हत्या करके हृदय के रक्त से या उदरावरण के स्राव से प्राप्त होती है। इसमें इस प्रकार से प्राप्त शुद्ध न्यूमोकोकाय के साथ तीन प्रकार की लसिकायें विशिष्ट प्रमाण में अलग अलग के साथ मिश्र करके आँखों से देखना हो तो छोटी नलिकाओं में और सूक्ष्मदर्शकसे देखना हो तो काँच की पट्टी पर मिलायी जाती हैं और जिस नलिका में और जिस लसिका के साथ पुंजीकरण दिखाई देता है उस प्रकार के न्यूमोकोकाय समझे जाते हैं। यदि किसी के साथ पुंजीकरण नहीं हुआ तो चतुर्थ प्रकार समझा जाता है।

(२) अवक्षेपण पद्धति—इस पद्धति का तत्त्व यह है कि रोगी में शूक और मूत्र में जो वि वि व उत्सर्गित (पृष्ठ ११५) होता है उसका संबंध सवर्ण क्षमलसिका के साथ करने से अवक्षेपण हो जाता है। इसके लिये २ सी सी शूक लेकर उसके साथ ७० प्र श सोडियम ग्लाइकोलेट के ५ सी सी. एक नलिका में काँच दण्ड से खूब मिलाये जाते हैं। इसके बाद यह मिश्रण ३७ सी के जलऊष्मगाह में ५-१० मिनिट तक रक्खा जाता है। उसके पश्चात् सेन्ट्रीफ्यूज करके ऊपरका शुद्ध द्रव लेकर तीन नलिकाओं में तीन प्रकार की लसिका के साथ उसको मिश्र किया जाता है। जिस प्रकार के न्यूमोकोकाय होते हैं उस प्रकार की लसिका युक्त नलिका में तुरन्त अवक्षेपण हो जाता है। यह प्रतिक्रिया १५ मिनिट जलऊष्मगाह में नलिका को रखने से और भी स्पष्ट हो जाती है। मूत्र को भी सेन्ट्रीफ्यूज करके इसी तरह काम में लाते हैं और प्रकार मालूम किया जाता है।

(३) न्यूफेल्ड की प्रत्यक्ष पद्धति (Neufeld direct method—इसके लिये रोगी का शूक एक विशोधित पेट्री डिश में इकट्ठा

करना चाहिये। थूक के साथ लाला का अंश जितना भी कम हो उतना ही अच्छा होता है। थूक की जाँच तुरन्त या आधे दो घंटे के भीतर करनी चाहिये। काँच की पटरी के तीन ढक्कन (Cover-slips) लेकर उनके मध्य में प्लाटीनम पाश से थूक का थोड़ा सा टुकड़ा रखकर उनके साथ पहले ढक्कन में प्रथम प्रकार की, दूसरे में दूसरी प्रकार की, तीसरे में तीसरी प्रकार की सम ऊसिका उतनी ही राशि में मिलनी चाहिये। इसके पश्चात् प्रत्येक मिश्रण में क्षारीय मेथिलेन ब्लू एक पाश भर (Loop ful) मिलाना चाहिये। इसके पश्चात् गड्ढेदार पटरियों पर गड्ढों के चारों ओर वैसलीन के कुछ ऊँचे वलय बनाकर उनके ऊपर एक एक ढकना उल्टा करके रखना चाहिये। फिर ढकने को वैसलीन पर थोड़ा सा दबाकर और पटरी को उलट कर तैलावगाही काँच से देखना चाहिए। दो मिनिट के पश्चात् प्रतिक्रिया स्पष्ट होती है। इसमें न्यूमो कोकाय मीठे होते हैं। जिस प्रकार के न्यूमोकोकाय होते हैं उस प्रकार की समऊसिका उनके साथ मिलाने पर उनके कोष बहुत फूलते हैं, उनका स्वरूप धोसी हुई काँच के समान होता है और उनकी रूपरेखा (Out line) बहुत स्पष्ट हो जाती है। जिस ढकने पर इस प्रकार की प्रतिक्रिया दिखाई देती है उस ढकने पर जिस प्रकार की ऊसिका मिलायी होगी उस प्रकार के न्यूमोकोकाय समझने चाहिए। यह प्रत्यक्ष पद्धति जितनी सरल और शीघ्र फलदायी है उतनी ही विश्वसनीय है।

रक्त-परीक्षा—इसका उपयोग प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निदान में होता है। रक्तगत कोकाय की वृद्धि करने (Blood culture) पर प्रत्यक्ष निदान होता है। परंतु इसमें १० प्र श से अधिक सफलता नहीं मिलती। इसलिए इसका उपयोग प्राय: नहीं किया जाता। अप्रत्यक्ष में श्वेत कण गणना का उपयोग होता है। न्यूमोनिया में ५०००० तक श्वेतकणोत्कर्ष होता है। पहले प्रकार में सबसे अधिक और तीसरे प्रकार में सबसे कम या नहीं के बराबर श्वेतकणोत्कर्ष होता

है। क्योंकि वह समतम होता है और प्राय: रोगी पचता नहीं।

अन्य क्षुद्र कोकाय

मैक्रोकोकस यूरिआ (M Ureae)—यह दो-दो, चार-चार या मात्रा के रूप में होकर मूत्र मे मिलता है। इससे यूरे़ज (Urease) नामक फर्मेंट बनता है जो मूत्र के यूरिआ को अमोनियम कार्बोनेट में परिवर्तित करता है।

मेक्रोकोकस टेट्रा जीना (Gaffkya tetragena)—ये चार चार इकट्ठे (पृष्ठ १५) रहते हैं। इनके ऊपर कोप होता है। श्वसनमार्ग के प्रारंभिक हिस्से में कभी कभी रहते हैं और क्वचित् इस संस्थान के क्षुद्र रोगों में सहायता करता है। क्षयी के थूक में फुप्फुस में गढ़ा बनने के बाद प्राय: मिलते हैं।

सार्सीना वेन्ट्रीक्यूली (Sarcina ventriculi)—यह यमाकारी कोकाय (पृष्ठ १५) है। विस्फारित (Dilated) जठर में और जठर के कैन्सर में बोआस ओप्लर बैसीलस (Boas-oppler) के साथ में मिलते हैं।

ग्रामत्यागी कोकाय (Gram-negative cocci)

गोनोकोकाय (Neisseria Gonorrhoeae)

वासस्थान—ये स्वस्थ मनुष्य के शरीर में कदापि भी नहीं मिलते। पूयमेह पीड़ितों की विकृतियों में विशेषतया तीव्रावस्था के स्राव में तथा तज्जन्य नेत्राभिष्यंद के स्राव में मिलते हैं।

शरीर और रंजन—ये वृक्क या कोफिये के बीज के आकार के कोकाय हैं। ये हमेशा दो-दो रहते हैं और इनका भिन्न भग्न भाग आमने सामने रहता है जिससे दोनों के बीच में कुछ अण्डाकार भाग खाली रहता है। अर्थात् इनका लंबाक्ष (Long axis) समान्तर

होता है। सूत्रभाग के स्राव में ये हमेशा पूयसेलों के भीतर चित्रस में इकट्ठे हुए दिखाई देते हैं। पूयसेलों के केन्द्रों में ये नहीं प्रवेश करते। यह सेलाभ्यन्तरीय (Intraclelular) स्थिति इनके पहचान का एक खास चिन्ह होता है। पुरानी वृद्धि में इनके अपचयाकार दिखाइ देते हैं। ये निश्चल और स्पोर हीन हैं। सामान्य रंगों से रंजित होते हैं और ग्रामत्यागी है।

ओषन व्यापार और संवर्धन—ये वातपी होनेपर भी सूक्ष्म वातसेवी (पृष्ठ १५) हैं। पोषक तापक्रम ३५°-३९ सें हैं तापक्रम की उच्च और नीच मर्यादा ३० और २५° सें है शरीर में होनेवालों के लिये उच्च मर्यादा ४२ सें है। घातक तापक्रम ५५° सें हैं।

ये सामान्य वर्धमकों में संवर्धित नहीं होते; इनके लिये प्राणिज प्रोटीनों की आवश्यकता (पृष्ठ ५९,५७) होती है। वर्धमक में मधांश भी होना जरूरी है। इनके संघ २४, ४८ घंटे में दिखाई देते हैं। ये आलपिन के सर के बराबर, अर्धपारदर्शी और गोल होते हैं प्रारंभ में इनका किनारा गोल रहता है परंतु धीरे धीरे यह दन्तुर (Crenated) हो जाता है। माध्यमिक वृद्धि में ये जल्दी मर जाते हैं, इसलिये दो तीन दिन में उपवृद्धि करना जरूरी होता है, जिसमें अधिक काल तक जीवन क्षम रहते हैं।

ओषन-रासानिक प्रतिक्रिया—ये ग्लूकोस में अम्ल उत्पन्न करते हैं, माल्टोस में नहीं (पृष्ठ ९१)

ओषनक्षमता और प्रतिकार—ये पूर्ण परोपजीवी होने के कारण शरीर के बाहर घंटे दो घंटे के भीतर मर जाते हैं। इसका कारण यह भी है कि इनमें क्ष्यता, शुष्कीकरण, जीवाणुनाशक पदार्थ इनके साथ मुकाबला करने की बहुत कम शक्ति होती है। रौप्य लवणों का विनाशक प्रभाव इनके ऊपर विशेष होता है।

विषोत्पत्ति—इनमें बहिर्विष नहीं बनता, अन्तर्विष बनता है जो

कुछ दिनों के पुराने वृद्धि में इनके मर जाने के कारण मिलता है।

विकारकारिता—मनुष्येतर प्राणियों में ये विकार नहीं कर सकते। मनुष्यों में औपसर्गिक पूयमेह (Gonorrhoea) उत्पन्न करते हैं। इससे पीड़ित स्त्री या पुरुष के प्रसंग से यह रोग स्वस्थ व्यक्ति पर संक्रान्त होता है। शरीर में प्रवेश का मुख्य मार्ग मूत्रप्रजनन संस्थान की श्लेष्मल त्वचा है। इससे प्रवेश होने पर ही सोजाक तथा उसके विविध उपद्रव होते हैं। दूसरा मार्ग नेत्र की श्लेष्मल त्वचा से होता है। इससे केवल नेत्राभिष्यन्द होता है, अन्य शारीरिक विकृतियाँ नहीं होतीं।

शरीर में प्रवेश होने के २ १० दिन के बीच में मूत्र मार्ग के शिश्न विभाग की श्लेष्मल त्वचा में शोथ प्रारम्भ होकर उससे अमकीला पतला श्लेष्मा के समान (Mucoid) स्राव निकलता है। इस प्रारंभिक स्राव में गोनोकोकाय स्वतन्त्रतया फैले हुए दिखाई देते हैं। आगे चलकर यह स्राव पूयसम होता है और उसमें गोनो कोकाय पूयसेलों के भीतर बहुत ही अधिक संख्या में भरे हुए दिखाई देते हैं यह अवस्था श्वेत कणों द्वारा इनका भक्षण होने से उत्पन्न होती है। भक्षण कार्य शोथ स्थान में न होकर बहिःस्राव (Exudate) में होता है और इतना अधिक होता है कि कई बार गोनो कोकाय का सेलों के बाहर मिलना मुश्किल होता है। इनका कणभक्षणोत्कर्ष (Phagocyto-sis) कणभक्षण और कुछ के जीवाणुओं को छोड़कर अन्य किसी में दिखाई नहीं देता। कणभक्षित होने पर भी ये मरते नहीं और कुछ तो उनके भीतर संख्या वृद्धि कर सकते और ऐसी सेलों से रोगों का प्रसार होता है। रोग पुराना होने पर बहिःस्राव में गोनोकोकाय कम होते हैं और उनके बदले स्ट्रेप्टोकोकाय स्टाफिलो कोकाय पै कोकाय तोहियी मिस बैसीलाय इत्यादि तृणाणु दिखाई देने लगते हैं। ये तृणाणु ठीक चिकित्सा न होने से विशेषतया स्त्रियों में अधिक दिखाई देते हैं। ये मूत्र मार्ग तथा तत्संबंधित अंगों का शोथ कायम रखने में सहायता करते हैं

और रोग निदान में कठिनाई उत्पन्न करते हैं क्योंकि प्रामप्रादी कोकाय कणमक्षित होने पर प्रामस्पागी हो जाते हैं।

रोग का प्रारंभ पुरुषों में पूर्व मूत्र में और स्त्रियों में बचपन में योनि भगोष्ठ में और जवानी में पूर्व मूत्र मार्ग और गर्भाशय ग्रीवा में होता है। इसके पश्चात् रोग का प्रसार निम्न तीन मार्गों द्वारा होता है।

(१) सरल मार्ग—इसमें जीवाणु सक्रम और समीप अङ्गों में धीरे धीरे फैलकर विकार उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार से पुरुषों में पश्चिम मूत्र मार्ग, अष्ठीला (Prostate) कौपर ग्रंथि वीर्यवाहिनी, वीर्याशय, शिस्नमणि, बस्ति, शिस्नपेशी इत्यादि और स्त्रियों में गर्भाशय बीजवाहिनी, बीजकोष, उदरावरण इत्यादि मूत्र प्रजनन संस्थान के विविध अंगों में शोथ उत्पन्न होता है। पुरुषों में मूत्र मार्ग शोथ का परिणाम मूत्र मार्ग सकोच (Stricture) में और शिस्नपेशी शोथ का परिणाम शिस्न वक्रता (Chordee) में होता है। स्त्रियों में गर्भाशय शोथ का परिणाम गर्भपात में और बीजवाहिनी और बीजकोष शोथ का परिणाम वन्ध्यता (Sterility) में होता है। गर्भ धारण होने के कुछ महीनों के पश्चात् यदि गोनो कोकाय का उपसर्ग हो जाय तो गर्भ वृद्धि में कोई बाधा न होकर ठीक समय पर प्रसूती होती है। परंतु बालक में नेत्राभिष्यन्द होने का डर रहता है।

(२) रक्त मार्ग—इसमें कोकाय रक्त में प्रविष्ट होकर संधि, हृत पन्त्र, कक्ष, तारामण्डल (Iris) स्नायु, इत्यादि में शोथ उत्पन्न करते हैं। कभी कभी पूणाणु दोष मयता भी उत्पन्न होती है। रक्तोपसर्ग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम होता है।

(३) हस्तक्षेप—स्राव दूषित हस्त से नेत्र नासा और गुद में शोथ होता है।

चिकित्सा—गोनो कोकाय ४२° स से अधिक तापक्रम शरीर में सह नहीं सकते, इसलिये तप्त मंजूषा (Hypertherm) में रोगी को

न ४ यदि तक इतने तापक्रम पर रखकर हम रोग की चिकित्सा की जाती है जो भातप चिकित्सा (Pyrotherapy) कहलाती है। रौप्य लवणों का घातक परिणाम गोनो कॉकाय के ऊपर होने से अर्जीराल प्रोटार्गल इत्यादि रौप्य योगों का प्रयोग मूत्र मार्ग में पिचकारी लगाने के लिये किया जाता है। सोजाक में सीरम का उपयोग जरा सा भी नहीं होता। वैक्सीन का उपयोग संधि शोथादि उपद्रवों में कामप्रद होता है इनमें स्वजनित वैक्सीन असम्भव होता है इसलिये बहुजन संचित नये वैक्सीन का ही उपयोग करना पड़ता है। तीव्र विकार में १⁄१० से १⁄२ करोड़ सप्ताह में दो बार मध्यम विकार में १⁄२ से एक करोड़ इसी में दो बार और फिर चिरकालीन मे एक करोड़ से प्रारम्भ करके प्रति सप्ताह धीरे धीरे १५ करोड़ तक मात्रा बढ़ाई जाती है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—परीक्ष्य द्रव्य—पुरुषों में रोग की तीव्रावस्था में मूत्र मार्ग का बहिःस्राव प्रयुक्त होता है। रोग पुराना होने पर कोकाय अष्ठीला तथा अन्य ग्रन्थियों और दरारों में प्रवेश करते हैं। ऐसी अवस्था में उनको प्राप्त करने के लिये अष्ठीला मर्दन (Prostatic Massage) करके जो स्राव निकलता है उसको काम में लाना चाहिए। स्त्रियों में योनि के पूर्व प्राचीर को मर्दन करके मूत्रमार्ग से जो स्राव निकलता है उसको या योनि वीक्षण यन्त्र का उपयोग करके गर्भाशय ग्रीवा के स्राव को लेना चाहिए। छोटी लड़कियों में योनि (Vagina) का स्राव भी ले सकते हैं। मूत्र मार्ग से स्राव लेना हो तो स्राव लेने के समय से पूर्व दो घंटे मूत्र त्याग न करना चाहिए। जवान स्त्रियों में मासिकधर्म के पश्चात् उपर्युक्त स्रावों में गोनोकोकाय मिलने की संभावना बढ़ती है।

पद्धतियाँ—(१) ग्रामरंजन से (पृष्ठ १०) पूयसेलों के भीतर ग्रामत्यागी वृक्काकारी युग्मकोकाय का मिलना पहचान तथा निदान के लिये पर्याप्त होता है। जब रोग पुराना होता है या उसकी चिकित्सा

होती हैं तब स्राव में गोनोकोकाय मिलना कठिन होता है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि उपसर्ग पूर्णतया ठीक हो गया। ऐसी अवस्था में भीतर छुपे-छिपे कोकाय को बाहर निकलने के लिये ५० करोड़ गोनोकोकाय वैक्सीन की सुई लगाना, मूत्रमार्ग में रौप्य लवणों के घोल की पिचकारी देना, रोगी को अधिक मात्रा में मद्य पिलाना इत्यादि उद्दीपक (Provocative) पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। (२) संवर्धन से—यदि संवर्धन से पता न लगे तो रक्त अगार माध्यम उचित माध्यम में वृद्धि करके तथा शर्करावनमनों का उपयोग करके पहचान करना चाहिए। (३) लसिकाविषयक कसौटियाँ—लोकाक में रोगी की लसिका में पुंजकारक और पूरकबंधन पदार्थ होते हैं। इनका उपयोग निदान के लिये किया जाता है। पूरकबंधन कसौटी के लिये बहुगुण लसिका का उपयोग करना चाहिये। यह कसौटी प्रारम्भ में बहुत कम मिलती है, पाँच छः सप्ताह के बाद मिलती है। इसका उपयोग नेत्र, संधि वृषण इत्यादि के उपद्रवों में निदान के लिये किया जाता है। पुंजकारक कसौटी कुछ काल तक मिल जाती है, परंतु यह विश्वसनीय नहीं है।

मेनिंगोकोकाय (Neisseria meningitidis)

प्राप्तिस्थान—स्वस्थ मनुष्यों में कदापि नहीं मिलते। रोगियों और वाहकों के गले और नासा पश्चिम भाग में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रोगियों के मस्तिष्क सुषुम्नाजल में मस्तिष्कावरण के बहिःस्राव में तथा पूयाणुदोषमयता में रक्त में मिल जाते हैं।

शरीर और रंजन—गोनोकोकाय के समान ये होते हैं, परंतु उनसे कुछ छोटे होते हैं, आमने-सामनेवाला भाग निम्न मध्य न होकर चपटा होता है, सेलों के भीतर मिलने पर भी उतनी संख्या में नहीं रहते, तथा अपचयाकार (पृष्ठ १३) अधिक मिलते हैं। ये अपचयाकार

बहुत विचित्र होने के कारण पिशाचाकार (Ghost forms) कहलाते हैं।

शोधन व्यापार और संवर्धन—गोनोकोकाय के समान। फर्क इतना ही है कि ये अधिक सूक्ष्म वायुसेवी होते हैं, आसानी से और अच्छी वृद्धि करते हैं और मध्य अधिक विपश्चिये न होने के कारण इनका हुमलाना आसानी से बनता है।

शोधन रासायनिक प्रतिक्रिया—पीछे पृष्ठ ९१ पर कोष्ठक देखो।

शोधनक्षमता और प्रतीकार—गोनोकोकाय के समान। शरीर के बाहर जल्दी मरने के कारण परीक्ष्य द्रव्य तुरन्त और अधिक राशि में वर्धनक में रोपित करना चाहिए।

प्रकार—इनके उपसर्ग से प्राणियों की वसिका में पुंजकारक पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनके आधार पर इनके न्यूमोकोकाय के समान चार प्रकार किये गये हैं। परंतु उनके प्रकारों के समान इनके प्रकार एक दूसरे विभिन्न नहीं हैं। ८० प्र श रोगियों में पहिला और दूसरा प्रकार दिखाई देता है। महामारी के समय में पहिला प्रकार और पृथक रोगियों में दूसरा प्रकार रहता है। प्रकार निर्धारण के समान पुंजकारक का उपयोग रोगनिदान में भी होता है।

विषोत्पत्ति—गोनोकोकाय के समान।

विकारकारिता—गोनोकोकाय के समान ये भी प्राणियों में मनुष्यों के समान विकार नहीं कर सकते परंतु आजकल बंदरों में सुषुम्ना तथा मस्तिष्क में इनकी शुद्धवृद्धि की सुई लगाने से मस्तिष्कावरण शोथ उत्पन्न करने में कुछ सफलता मिली है। इसके अतिरिक्त गिनीपिग, चूहा इत्यादि प्राणी इनकी सुई लगाने से २-३ दिन में मर जाते हैं। अर्थात् प्राणियों में ये गोनोकोकाय की अपेक्षा अधिक विषैले होते हैं।

मनुष्यों में ये मस्तिष्कावरण शोथ (Cerebrospinal Meni ngitis) उत्पन्न करते हैं। रोगियों या वाहकों के नासा पश्चिम भाग में, जो छीकते होते हैं वे खाँसते छींकते समय सूक्ष्म कणों के साथ

बाहर निकल कर आस-पास के स्वस्थ मनुष्यों में नासा द्वारा प्रवेश करते हैं और नासा पश्चिम भाग में ही अवस्थान करके मौका मिलने पर रक्त या लसिका वाहनियों द्वारा रक्त में प्रविष्ट होकर मस्तिष्कावरण में संभ्रम करते हैं। इस प्रकार नासा पश्चिम भाग शोथ, तृणाणु वोपमयता और स्थान संभ्रम करके इस रोग की तीन अवस्थाएँ होती हैं। बच्चों में ३ साल की आयु तक इनका परिणाम मस्तिष्क सूक्ष्मावरण के ऊपर अधिक होता है, इसलिये इसको पश्चिम मस्तिष्कसूक्ष्मावरण शोथ (Posterior basic meningitis) कहते हैं।

चिकित्सा—इस रोग में वैक्सीन का जरा सा भी उपयोग नहीं होता। सीरम का उपयोग बहुत लाभप्रद होता है। यद्यपि इनके चार प्रकार होते हैं तथापि न्युमोकोकस के समान इनमें कोई वैशिष्ट्य न होने के कारण प्रकार निर्धारण की आवश्यकता नहीं होती। केवल बहुगुण लसिका का उपयोग पर्याप्त होता है। इस लसिका में प्रतिविष न होकर पुंज कारक, आस्वादक और पूरक बंधक पदार्थ होते हैं जिन से कण भक्षणोत्कर्ष में सहायता होती है और इससे म. सु., जल में कोकस की संख्या घटती जाती है। लसिका का प्रयोग जितना जल्दी किया जाय उतना ही अधिक लाभप्रद होता है।

इसका उपयोग कटि वेध से तथा सिरा से करना चाहिये। प्रथम कटि वेध करके म. सु. जल निकल जाने के बाद २०-३० सी सी लसिका शरीर तापक्रम के बराबर गरम करके धीरे धीरे कटिवेध की सुई से ही प्रविष्ट की जाती है। इस तरह रोग की गंभीरता के अनुसार ४-५ दिन तक प्रति १२ घंटे पर लसिका का प्रयोग किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रयोगिक निदान—प्रत्यभिज्ञान ग्रामरंजन से, संवर्धन से, जीवन रासायनिक प्रति क्रिया से और पुंजीकरण कसौटी से किया जाता है। इसके लिये निम्न तीन द्रव्यों का उपयोग किया जाता है।

(१) मस्तिष्क सुषुम्ना जल—यह जल कटिवेध से विशोधित नलिका में इकट्ठा किया जाता है। इसके पश्चात् इसकी सामान्य और तृणाणु विषयक जाँच की जाती है। सामान्य में भौतिक रासायनिक और कण सम्बन्धी जाँच की जाती है और तृणाणु विषयक में उपर्युक्त रंज आदि चतुर्विध पद्धतियों द्वारा पहचान की जाती हैं। पहचान के लिये केन्द्रित (Centrifugalised) जल का उपयोग किया जाता है।

मस्तिष्कावरण शोथ में जल की राशि बढ़ती है और कटिवेध करने पर धारा के रूप में जल निकलता है। प्राय: जल १० २० सी सी तक निकलता है परन्तु कभी कभी १०० सी सीं तक भी निकल सकता है। इसकी पारदर्शकता नष्ट होकर प्रारम्भ में यह कुछ मटमैला होकर पश्चात् पूयसम हो जाता है। थोड़ी देर रखने पर जमता है, अल्ब्युमिन की राशि बढ़ती हैं और ग्लूकोज तथा क्लोराइड्स् की घट जाती हैं। इसमें कणों की अभिवृद्धि होकर नये रोग में ९९ प्र श बहुकेन्द्र कण (Polymorph) और रोग पुराना होने पर इनके बदले लसिका कण (Lymphocytes) दिखाई देने लगते हैं। श्वेत कणों के अतिरिक्त जल में मेनिंगोकोकाय भी बहुत होते हैं। ये कम होने पर सेलों के भीतर बहुत कम मिलते हैं सौम्य होने पर भीतर मिलते हैं। अर्थात् सेलों के बाहर अधिकांश्य मेनिंगोकोकस का मिलना रोग की तीव्रता का और भीतर मिलना रोग की सौम्यता का सूचक होता है। जल अधिक देर तक रखने पर रोग पुराना होने पर, तथा क्षम लसिका का उपयोग करने पर इनका मिलना कठिन होता है।

(२) रक्त—रक्त में श्वेत कणोत्कर्ष (पृष्ठ १०२) होता है जो निदान में कुछ सहायता कर सकता है। इस रोग में प्रारम्भ में तृणाणु दोष मयता होने के कारण रक्त गत कोकाय की वृद्धि करने से निदान हो सकता है। इसके अतिरिक्त पुञ्जीकरण कसौटी से निदान होता है परंतु इसके लिये रोग जरा पुराना होना चाहिये।

(३) नासा स्राव—एक लम्बे और टेढ़े तार को रूई का फाया (Swab) लगाकर मुख के द्वारा उसको प्रविष्ट करके उसपे पश्चिम भाग का नासा स्राव लिया जाता है और रञ्जन और संवर्धन पद्धतियों से और पश्चात् यदि आवश्यक हो तो जीवन रासायनिक और लसिका विषयक पद्धतियों से पहचान की जाती है।

भोजन के बाद एक घंटे के भीतर और गले में जीवाणु नाशक कोई औषधि लगाने के बाद १२ घंटे के भीतर नासा स्राव परीक्षार्थ न लेना चाहिए।

वाहक—मेनिंगो कोकाय मनुष्यों के सहवासी नहीं है। साधारणतया रोगनिवृत्तों के गले में ये ४ हफ्ते तक रहते हैं परन्तु कुछ रोगनिवृत्त ऐसे होते हैं कि साल भर के लिए भी इनका संवहन करते हैं। ये व्याधित वाहक कहलाते हैं। कुछ स्वस्थ मनुष्य रोगी के सम्पर्क में आने से वाहक बनते हैं। ये सम्पर्क वाहक (Contact) कहलाते हैं और कुछ सम्पर्क में न आने पर भी वाहक बन जाते हैं। ये असम्पर्क वाहक (Non-Contact) कहलाते हैं। मेनिंगो कोकाय के तीनों प्रकार के वाहक होते हैं परन्तु विशेषता यह है कि महामारी के समय असम्पर्क-वाहक बहुत मिलते जो रोग प्रसार में सहायता करते हैं। सम्पर्क और असम्पर्क वाहकों की पहचान नासास्राव की परीक्षा द्वारा और व्याधित वाहकों की नासा स्राव परीक्षा के अतिरिक्त पुञ्जीकरण कसौटी द्वारा की जाती है।

नैसीकोकस कटारालिस (Neisseria catarrhalis)

यह प्रतिश्याय, नासाशोथ, खांसी, आदि विकार उत्पन्न करता है और नासा पश्चिम भाग में मिलता है। आकार रंजनादि में यह मेनिंगोकोकस से साम्यता रखता है। इसलिये इनके वाहकों की पहचान में कठिनता उत्पन्न करता है। अब नीचे इसकी विशेषताएं दी जाती हैं।

१ सामान्य वधमकों में इसकी प्रचुर वृद्धि होती है।

२ इसकी वृद्धि १० सें पर होती है। मेनिंगोकोकस २५ सें से कम उष्णतापर नहीं वर्धित होता।

३ इसके सघ बड़े स्थूल, अपारदर्शी और कठिन होते हैं।

४ ग्लूकोज भार माल्टोज में इससे अभिर्यग उत्पन्न नहीं होता।

५ मेनिंगोकोकस की छसिका से इसका पुंजीकरण नहीं होता।

ग्रामग्राही यसीलाय—अम्लसाही वग (पृष्ट १६,६६)

क्षय का यसीलस (Mycobacterium tuberculosis)

भेद—इस जीवाणु का अधिकारक्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें जल, स्थल और आकाश इन तीनों में विचरण करनेवाली अनेक जातियों के असंख्य जीव समाविष्ट होते हैं। विकारी जीवाणुओं में इतना व्यापक क्षेत्र और किसी का भी नहीं है। इतनी विविध जातियों पर अधिकार जमानेवाला यह जीवाणु यद्यपि बाह्य स्वरूप में एक सा होता है, फिर भी विकारकारिता की दृष्टि से उसमें भिन्न भेद होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सब में सम्पूर्ण अधिकार क्षेत्र में विकार उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

(१) मानवी (M.t hominis)—इसका मुख्य क्षेत्र मनुष्य जाति है फिर भी गौण रूप से यह बंदर, सूअर और कुत्ता इनमें पाया जाता है।

(२) गव्य (M t.bovis)—इसका मुख्य क्षेत्र गोकुल (Cattle गौ, बैल) है और गौण रूप से यह सूअर, बिल्ली, घोड़ा इनमें तथा मनुष्यों में, विशेषतया बालकों में, मिलता है।

३ पाक्षिक (M t.avium)—यह केवल कबूतर मुर्गी आदि पक्षियों में पाया जाता है।

(४) मात्स्य (M t piscium)—यह केवल मेंढक, कछुआ

मछली आदि में पाया जाता है।

विकारकारिता—इससे होनेवाला विकार क्षय (Tuberculosis) कहलाता है। क्षय सचमुच रोगों का राजा है इसलिये इसको प्राचीनकाल में 'राजयक्ष्मा' की जो उपाधि दी गई थी वह सर्वथैव योग्य थी और आज यदि क्षय बैसीलस को 'राजजीवाणु' की उपाधि दी जाय तो वह भी सर्वथैव योग्य ही होगी।

मानवी क्षय बेसीलस

वासस्थान—क्षय का बैसीलस पूर्णतः में परोपजीवी होने के कारण स्वरूप मनुष्यों में कदापि भी नहीं मिलता। क्षयी मनुष्यों के विकृतांगों में उनके मलमूत्रथूक में तथा उनसे दूषित धूलि में और वायुमण्डल में मिलता है।

शरीर और रंजन—यह पतला सरल या किंचित टेढ़ा शलाकाकार तृणाणु है। इसकी लंबाई १-४ म्यु और चौड़ाई २ से ५ म्यु होती है। यह निश्चल स्पोर रहित और सम्पु पिच्छहीन है।

इसके ऊपर चर्बी का आवरण (पृष्ठ १०) होने के कारण सामान्य रंग को यह ग्रहण नहीं करता। इसलिये ज़ीलनील सेन के रंग-का (पृष्ठ १९) प्रयोग करना पड़ता है। एक बार इससे रंजित होनेपर अम्ल स या मद्य स यह विरंजित नहीं होता, इसलिये अम्लसाही और मद्यसाही (Alcohol fast) कहलाता है। इस रंग से रंजित होने पर इसका शरीर एक-सा रंजित न होकर विषमरूप से रंजित होता है जिससे यह मालाकार (पृ० १७) दिखाई देता है। धातुओं में या थूक में ये अकेले टुकड़े प्रायः आपस में कोण बना करके या चार-चार ... के गुच्छक में मिलते हैं। ज़ीलनील सेन की रंजन विधि इतनी सुन्दर है कि केवल इसी एक विधि द्वारा अधिक संख्य रोगियों में इसकी निश्चित पहचान और साथ-साथ रोग निदान हो जाता है। इसकी विशेषताएँ—सेलों के बाहर लाल रंग, मालाकार स्वरूप पतलापन कुछ

ऐशापन और दो-दो या चार-चार के बंडलों में मिलना। यह ग्रामग्राही है। ग्राम से यह कुछ कठिनता से रंजित होता है परन्तु जब रंजित होता है तब उसका मालाकार रूप अच्छी तरह दिखाई देता है।

जीवन व्यापार और संवर्धन—यह वायवी है, पोषक तापक्रम ३७.५° सें० है। वृद्धि की तापक्रम मर्यादा ३०-४१° सें है।

सामान्य वर्धमकों में इसकी वृद्धि नहीं हो सकती। ग्लिसरीन, अल्ब्युमिन के खास वर्धमकों (पृ० ६०) की आवश्यकता होती है। इसकी वृद्धि बहुत धीरे-धीरे होती है यहाँ तक की वृद्धि प्रारंभ होने के लिये १-२ सप्ताह और पूरी वृद्धि के लिये १ १ सप्ताह की आवश्यकता होती है। इस लंबे समय में वर्धन का जलांश नष्ट होने के कारण नलिका का मुख प्याराफिन से बंद करना पड़ता है। इसके साथ ही साथ इसको प्राणवायु की भी आवश्यकता होती है जो नलिका मुख बंद करने से पूर्ण नहीं हो सकती। इसलिये बीच बीच में नलिका का मुख खोल करके फिर से बन्द करना पड़ता है।

पेट्राफ के या डार्सेट के वर्धमक पर इसकी प्रचुर वृद्धि होती है। संघ कुछ पीतवर्ण वलीदार (Wrinkled) या मस्सेदार (Verrucose) पटल (film) के रूप में होते हैं। जब बड़े पैमाने पर वृद्धि की आवश्यकता होती है, जैसे कि ट्यूबरक्युलिन के निर्माण में, तब ग्लिसरीन मांस सूप का उपयोग किया जाता है। ये संघ कठिन होने के कारण इनका इमल्शन कठिनता से बनता है।

जीवन क्षमता और प्रतिकार—उष्णता, शुष्कीकरण, और सूर्य प्रकाश को सहन करने की शक्ति इसमें बहुत कम है। घातक तापक्रम ६० सें० है। परन्तु दूध में होनेवाले बैसीलाय ६५ सें० तापक्रम से कम तापक्रम पर नहीं नष्ट होते। भारतवर्ष में दूध उबालकर पीने की प्रथा होने के कारण दूध द्वारा क्षय का प्रसार इसीलिये नहीं होने पाता। प्रकाश हीन स्थान में थूक के क्षय के बैसीलाय ६-८ महीनों तक,

सुप्रकाशित स्थान में १-८ दिन तक और प्रत्यक्ष सूर्य प्रकाश में १-८ घण्टों तक जीवनक्षम और उपसर्गकारी रहते हैं। अर्थात् सूर्यप्रकाशयुक्त स्थानोंमें जल्दी इनकी दोनों शक्तियां नष्ट होती हैं। इसलिए शुद्ध और प्रकाशयुक्त स्वतन्त्र स्थानों में क्षयी की चिकित्सा करने की जो पद्धति है वह जैसे उसके लिये स्वास्थ्यप्रद होती है, वैसे ही समाज के लिये भी लाभप्रद होती है, क्योंकि इससे समाज में क्षय का प्रसार होने की संभवनीयता बहुत ही कम हो जाती है।

उष्णता और प्रकाश के साथ प्रतिकार करने की शक्ति यद्यपि इनमें बहुत कम होती है तथापि रासायनिक जीवाणु नाशकों के साथ प्रतिकारकी शक्ति इनमें स्पोरजनक तृणाणुओं के समान बहुत अधिक होती है। आमाशयिक अम्ल का असर इनके ऊपर कुछ भी नहीं होता, इस लिये खाद्य द्रव्यों या जिनसे १ प थूक के साथ सेवित यैसीकाय आमाशयमें से सुरक्षित आन्त्र में पहुँचकर वहाँ विकृति उत्पन्न करते हैं। एन्टीफार्मिन, कास्टिक सोडा, गेन्शनवायोलेट इनका भी असर इनके ऊपर नहीं होता। अतः इसका फायदा इनको अन्य तृणाणुओं से पृथक् करने में पेट्राफ और एन्टीफार्मिन विधि में (पृष्ठ १२१ देखो) तथा पेट्राफ के वर्धनक में (पृष्ठ ६०) लिया जाता है। सड़ने (Putrifaction) का भी परिणाम इनके ऊपर नहीं होता।

विषोत्पत्ति—क्षय के यैसीकाय कोई खास बहिर्विष नहीं बनाते, परंतु यह देखा गया है ग्लिसरीन माँसयूष में इनकी वृद्धि करने पर वर्धनक में एक विशिष्ट पदार्थ उपस्थित रहता है। इसे एक प्रकार से इनका बहिर्विष कह सकते हैं। इनके शरीर में अन्तर्विष रहता है जो इनके शरीर का नाश होने पर या नाश करने पर प्राप्त होता है।

ट्यूबरक्युलिन—यैसीकाय के विष को 'ट्यूबरक्युलिन' कहते हैं। इसमें जो कार्बोहैड्रेट अंश होता है वह प्रतियोगी पदार्थों के साथ मिलता है और जो प्रोटीन अंश होता है उससे ट्यूबरक्युलीन के

परिणाम दिखाई देते हैं। इसके अनेक प्रकार बाजार में मिलते हैं परन्तु उनके मुख्य तीन वर्ग कर सकते हैं। (१) जिसमें बहिर्विष होता है।—जैसे कौक का ओल्ड ट्यूबरक्युलीन (T, O T, T O A), डेमी का बीकीमन फिल्ट्रेट (B, F) अल्ब्युमोज़ फ्री ट्यूबरक्युलिन (T A F) (२) जिसमें अन्तर्विष होता है:—कौक का न्यू ट्यूबरक्युलिन (T R) (३) दोनों का मिश्रण —कौक का बैसीलरी इमल्शन (B E) इनमें ओल्ड ट्यूबरक्युलिन और न्यू ट्यूबरक्युलिन का उपयोग अधिक होता है।

ट्यूबरक्युलिन के परिणाम—जिनके शरीर में क्षय का उपसर्ग नहीं है उनमें ट्यूबरक्युलिन का कुछ भी परिणाम नहीं होता परन्तु जिनमें है उनके ऊपर परिणाम दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि उन्हीं के शरीर में क्षय० के लिये अतिसूक्ष्मवेदित्व (Hypersensitiveness) उत्पन्न होता है जो क्षय० की सुई लगाने पर निम्न तीन प्रकारों से प्रकट हो जाता है।

(१) स्थानिक—सुई के स्थान में शोथ और सूजन। (२) सार्वदैहिक—ज्वर बेचैनी, श्वास, दौर्बल्य इत्यादि। (३) विकृति केन्द्रीय Focal)—शरीर के जिस अंग में क्षय की विकृति होती है उसमें विकृति की वृद्धि होना जो तत्स्थानिक चिन्हों और लक्षणों से प्रकट होती है। केन्द्रीय प्रतिक्रिया का दूरवर्तिपरिणाम केन्द्र के आस पास की सेलों को उत्तेजित करके उपशम में होता है और सार्वदैहिक का परिणाम शरीर में प्रतियोगी पदार्थों की उत्पत्ति में होता है। इस प्रकार ट्यूबरक्युलिन का उपयोग रोगनिदान और चिकित्सा में (पृष्ठ ११८) होता है।

विकारकारिता—यै ट्यूबर क्युलोसिस मनुष्यों में ट्यूबरक्युलोसिस (क्षय या राजयक्ष्मा) नामक विकार उत्पन्न करता है। क्षय से साधारणतया फुफ्फुस (Pulmonary T B) क्षय का बोध होता

है, उसका कारण यह है कि ९५ प्र० शत रोगियों में विकृति फुस्फुस में ही दिखाई देती है। इसका भय यह नहीं है कि यह केवल फुस्फुस में ही विकृति कर सकता है। आमाशय को छोड़कर शरीर का ऐसा कोई भी अंग या प्रत्यंग नहीं है कि जो इससे पीड़ित नहीं हो सकता। तिसपर भी इसका आकर्षण फुस्फुस की ओर अधिक (पृष्ठ ८९) होता है

व्यापरफल की रचना—जहाँ पर इसका अवस्थान होता है वहाँ पर इसके विषैलेपन से स्थानिक प्रतिक्रिया प्रारंभ होकर उसका परिणाम सूक्ष्म ग्रन्थिका (Tubercle) में होता है। इसके मध्य में अनेक बड़ी बड़ी सेलें (Giant cells) होती हैं। इन सेलों में अनेक केन्द्र होते हैं तथा कभी कभी इनके बीच में क्षय के कीटाणु मिलते हैं। इनके बाहर एन्डोथेलियल सेलों का घेरा होता है। उनके बाहर लसिकाकणों (Lymphocytes) का घेरा होता है और उनके बाहर तौतव धातु का कोष होता है। तौतवधातु (Fibrous Tissue) के कारण ग्रन्थिका में रक्तसंचार अच्छी तरह नहीं होने पाता। प्राथमिक ग्रन्थिका (Anatomical Tub) अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आँखोंसे नहीं दिखाई देती। परन्तु आसपास की अनेक ग्रन्थिकाएँ आपस में मिलकर कुछ मोटी दृश्य ग्रन्थिका बनती है जिसको श्यामाक ग्रन्थि (Miliary) कहते हैं। जिस अंग में वै क्षय से विकृति होती है वहां पर ऐसी असंख्य ग्रन्थिकाएं उत्पन्न होती हैं, इसलिए यह विकार ट्यूबरक्युलोसिस (ग्रन्थिकोत्कर्ष) कहलाता है।

उपसर्ग स्थान—फुस्फुस में जब विकृति होती है तब फुस्फुस क्षय कहने की अपेक्षा खाली क्षय कहने की ही प्रथा है, परन्तु जब अन्य अंगों में क्षय होता है तब उसका उल्लेख किया जाता है —जैसे अस्थि क्षय आन्त्रक्षय, लसिकाग्रन्थिक्षय इत्यादि। जिन अंगों में विकृति होती है उन अंगों के स्रावों में तथा मलों में क्षय के कीटाणु उत्सर्गित होते हैं। जैसे, मूत्र प्रजनन संस्थान के क्षय में मूत्र में, आन्त्रक्षय में विष्ठा में,

होते हैं जिनकी सहायता से भस्मकाम्य अथवा जीवाणु भक्षण का काम भली भाँति करते रहते हैं। क्षय में इनकी राशि बहुत ही कम होती है। इसमें इनकी राशि की मात्रा निश्चित की जाती है। यह पद्धति रोग निदान की अपेक्षा चिकित्सा फल जानने की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।

अन्य पद्धतियाँ—रक्तकणों की अवक्षेपण (Sedimentation rate) गति का बढ़ना, अर्नीय श्वेतकणगणना (Arneth count) में वामवृत्ति (Shift to the left) मस्तिष्क सुषुम्नाजल तथा अन्य बहिस्रावों में लसिकाकणों (Lymphocytes) की अधिकता इत्यादि मालूम करने से भी निदान में कुछ सहायता होती है। विशेष विवरण के लिये 'औपसर्गिक रोग' में क्षय निदान देखो।

गव्य क्षय का बैसीलस (B T Bovine)

वास स्थान—पीड़ित गौ के मांस में तथा गौ के दूध में ये पाये होते हैं।

शरीर और रंजन—मानवी क्षय बै. की अपेक्षा ये कम लम्बे और मोटे होते हैं तथा जीलनीलसन से रंजित करने पर एक सा रंग ग्रहण करते हैं, अर्थात् इनके समान मालाकार नहीं दिखाई देते। इतना फर्क होनेपर भी केवल स्वरूप और रंजन द्वारा दोनों का पार्थक्य करना असंभव होता है।

संवर्धन—मानवी क्षय बै० की अपेक्षा गव्य बै. वर्धकों में कठिनता से बढ़ते हैं, इसलिये मानवी सुसंवर्धनीय (Eugonic) और गव्य दुष्संवर्धनीय (Dysgonic) कहलाते हैं। ग्लिसरीन मानवी क्षय बै. की वृद्धि में (पृष्ठ ५९, ६०) सहायता करता है, परन्तु गव्य बै० की वृद्धि में इसकी उपस्थिति से कोई सहायता नहीं होती, परन्तु वृद्धि में रुकावट होती है। इसलिये यदि डार्सेट का पूर्ण मक (पृष्ठ ५९ नं० १०) तथा ग्लिसरीन अण्डावर्धनक (पृष्ठ ६० नं० १२ –

संवर्धन के लिये प्रयुक्त किये जायँ तो गव्य यै की वृद्धि डार्सेट में दिखाई देगी; परंतु दूसरे में नहीं होगी। वर्धनक में वृद्धिगत गव्य यै श्वेतवर्ण सूक्ष्मचूर्ण के समान दिखाई देते हैं।

विकारकारिता—गव्य यै गौ, बैल, घोड़ा, बकरी, बिल्ली सुअर इत्यादि घरेलू और पालतू तथा प्रयोगशाला के प्राणियों के (पृष्ठ ७१) लिये अधिक क्षम होता है, मानवी केवल मनुष्यों और बन्दरों के लिये होता है। इनमें भी खरगोश गिनीपिग और चकड़ा इनके लिये बहुत ग्रहणशील होते हैं। दोनों में पार्थक्य करने के लिये खरगोश का उपयोग (पृष्ठ ७१) किया जाता है। इसकी सिरा में $\frac{1}{10}$ मि ग्राम गव्य क्षय यै का इन्जेक्शन देने पर इसमें सार्वदैहिक तीव्रक्षय उत्पन्न होकर दो मास में मर जाता है परन्तु मानवी यै का इन्जेक्शन दिया जाय तो वह प्राणि तीन महीनों से अधिक सजीव रहता है और मृत्यु के पश्चात् इसके फुफ्फुस या वृक्क या दोनों में ही केवल विकृति दिखाई देती है।

गव्य यै मनुष्यों में भी क्षय उत्पन्न करते हैं। मनुष्यों पर इनका संक्रमण दूध के द्वारा और क्वचित् अपक्वमांस के द्वारा होता है। भारत वर्ष में दूध अच्छी होने के कारण गौओं में क्षय रोग यूरोप की अपेक्षा कम होता है तथा दूध उबाल कर पीने की प्रथा होने के कारण मनुष्यों पर भी इसका संक्रमण कम देखा जाता है। दुग्धसेवन बालकों में अधिक होने के कारण इनसे होने वाला क्षय बालकों में अधिक दिखाई देता है। इनसे आन्त्र, लसिकाग्रन्थि, अस्थि, संधि इत्यादि अङ्गों में क्षय होता है। फुफ्फुस क्षय सदैव मानवी यै से और क्वचित् इनसे ($\frac{1}{2}$ म श)

हुआ करता है।

(२) कुष्ठ बेसिलस (M leprae)

वासस्थान—स्वस्थ मनुष्योंमें यह कदापि भी नहीं मिलता परंतु कुष्ठियों के नासा-स्राव में कुष्ठग्रन्थियों के स्रावमें तथा अभ्यन्तरीय विकृत अंगों में अधिक संख्या में उपस्थित रहता है।

शरीर और रंजन—क्षय वैसीलस के समान वे हैं, परंतु उससे अधिक लम्बे, अधिक सरल, अधिक मोटे होते हैं तथा प्रायः कुछ सेलों के भीतर और बीड़ी या सिगरट के बण्डल के समान इकट्ठे हुए और अधिक संख्या में मिलते हैं। यह गतिरहित, तन्तु पिण्ड रहित, स्पोर रहित होता है। यह भी ग्रामग्राही और अम्लसाही है, परंतु क्षय बै से कुछ कमजोर (पृष्ठ १०) होता है। मद्य सहन की इसकी शक्ति भी कम है, इसीलिये भागच्छेदों (Sections) में इसको देखते समय मद्य का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

सवर्धन—इसको पचनकों में संवर्धित करने में अभी तक कुछ सफलता नहीं मिली है।

जीवन क्षमता और प्रतिकार—संवर्धन में असफलता के कारण इसके जीवन क्षमता के सम्बन्ध में विशेष विवरण नहीं किया जा सकता। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि शरीर से बाहर आये हुए वैसी लाय दूषित पदार्थ में बहुत काल तक जीवनक्षम और वसनकारी रह सकते हैं और इसके संसर्ग से कुष्ठ का उपसर्ग हो सकता है।

विषोत्पत्ति—इससे कोई विष नहीं बनता। इसीलिये कुष्ठी के शरीर में कुष्ठ विकृति चरम सीमा तक पहुँचने पर भी उसमें कोई विषैले लक्षण नहीं दिखाई देते। कुष्ठ प्रतिक्रिया के समय कुष्ठी में दिखाई देने वाले विषैले लक्षण वास्तव में कुष्ठविष जनित हैं इसके सम्बन्ध में कुछ सन्देह प्रकट किया जाता है।

विकारकारिता—अभी तक कुष्ठ बै० के लिए एक भी ग्रहणशील प्राणि नहीं मालूम हुआ। इसीलिये प्राणि रोपण-पद्धति के द्वारा जीवाणुओं के सम्बन्ध में जो भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है वह इनके लिये अप्राप्य है।

कुष्ठ बै० मनुष्य में कुष्ठ रोग उत्पन्न करता है। कुष्ठी के विकृत अंगों में असंख्य जीवाणु उपस्थित रहते हैं जो मांस-स्राव से ग्रन्थियों के फूटने

से तथा त्वचा के व्रणों से बाहर निकलते रहते हैं। जीवाणु उग्र न होने के कारण कुष्ठी के साथ अधिक काल तक घनिष्ट सम्बन्ध होने पर ही स्वस्थ मनुष्य में उसका उपसर्ग हो सकता है और उपसर्ग होने पर रोग प्रकट होने के लिये वर्षों का काल लग जाता है। शरीर में प्रवेश किस मार्ग से होता है इसके सम्बन्ध में ठीक ठीक ज्ञान नहीं है फिर भी नासा और त्वचा द्वारा शरीर में प्रवेश होता है इस प्रकार की कल्पना है। घनिष्ट सम्बन्ध के अतिरिक्त मक्षिकादि कीटों के द्वारा भी रोग का प्रसार हो सकता है। कुष्ठ की उत्पत्ति में कुलज प्रवृत्ति का वही स्थान होता है जो क्षय की उत्पत्ति में (पृष्ठ ११०) होता है। कुष्ठ दो प्रकार का होता है—(१)—वातिक या स्वापयुक्त (Nervous, anaesthetic) और (२) ग्रंथिक (Nodular, tubercular)। ग्रंथिक में वैसीलाय अधिक संख्या में रहते हैं तथा रोगी के व्रणों से अधिक संख्या में उत्सर्गित होते रहते हैं, वातिक में कम संख्या में रहते हैं और रोगी के शरीर से उत्सर्गित होने के लिये उनको बहुत कम मौके मिलते हैं। इसीलिये ग्रंथिक कुष्ठी वातिक की अपेक्षा बहुत अधिक उपसर्गकारी होता है।

चिकित्सा—कुष्ठ में कुष्ठीन (Leprolin) नामक वैक्सीन का उपयोग त्वचा के नीचे इन्जेक्शन के लिये किया जाता है। इससे एक मर्यादा तक लाभ होता है। कुष्ठ में तुवरक (Hydnocarpus) तैल तथा उसके योगों से और पोट्यासियम आयोडाइड से जो लाभ होता है वह वैक्सीन चिकित्सा के समान होता है। इसका कारण यह है कि इनके प्रयोग से कुष्ठ सेलों के भीतर बन्द वैसीलाय स्वतन्त्र होकर स्वजनित वैक्सीन (Auto-vaccination) के समान शरीर की क्षमता को बढ़ाते हैं। Sulphon

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—इसके लिये नासा स्राव में, त्वचा के व्रणों के स्राव में या चकत्तों में उपस्थित घी को कीट नील-

सेन से रंजित करके (पृष्ट २०) देखना यही एक मात्र साधन है। चकत्तों से केवल (Slit) और पैरन (Slid) पद्धतियों से स्राव लिया जाता है। विशेष विवरण के लिये औपसर्गिक रोग में कुछ निदान देखो। क्षय बै से पार्थक्य—अधिक संख्या में मिलने से, सेकाम्यन्तरीय स्थिति से, दुर्गम स्थान (पृष्ठ १०) से, सम्वर्धन और प्राणि रोपण में असफलता से इसको क्षय बै से पृथक् कर सकते हैं।

स्मेग्मा बेसीलस (M Smegmatis)

वास स्थान—यह मनुष्यों का सहवासी (पृष्ठ ९) है जो प्रायः मूत्र प्रजनन संस्थान में शिश्नमणि पर तथा भगौष्ठों पर और कभी कभी त्वचा, कर्ण इत्यादि अंगों के स्निग्धस्रावों में पाया जाता है।

शरीर और रंजन—इन बातों में यह क्षय बै के समान होता है। फर्क इतना ही है कि यह कम अम्लसाही है और मद्यग्राही बिल्कुल नहीं है।

विकारकारिता—मनुष्यों तथा प्राणियों के लिये यह पूर्ण अविकारी बैसीलाय है।

प्रत्यभिज्ञान—इससे कोई रोग न होने के कारण इसको स्वतन्त्र तथा पहचानने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु क्षय बै के समान यह भी अम्लसाही होने के कारण इसको क्षय बै० समझने की भूल न करने की सावधानता रखना बहुत ही आवश्यक होता है। विशेष करके मूत्र-प्रजनन संस्थान क्षय निदान के समय मूत्रपरीक्षण में इस प्रकार की भूल हो सकती है जो निम्न बातों पर ध्यान देने से दूर हो जाती है।

मूत्र परीक्षण—प्रथम शिश्नमणि या भगौष्ठों को अच्छी तरह धोकर सफाई से मूत्र को निकालो। यदि सफाई न हो तो मूत्र का प्रारम्भिक भाग अन्य पात्र में लेकर शेष भाग दूसरे पात्र में इकट्ठा करो।

यदि सेंट्रीफ्यूज यन्त्र हो तो उसमें दूसरे पात्र का मूत्र केन्द्राकृत करके तलछट के हिस्से से पटरी पर प्रलेप बनाओ। यदि यन्त्र न हो तो १२ घंटों तक तिकोने (Conical) पात्र में मूत्र को रखकर उसके तलछट से प्रलेप बनाओ। पश्चात् कार्बोलफ्यूक्सीन से रंजित करके अम्ल से विरंजित करने के बाद उस पटरी को १ मिनिट तक अवसोल्यूट अल्कोहोल में डुबो रक्खो। तदनन्तर पानी से धोकर और सुखाकर सूक्ष्म दर्शक से देखो। शिश्नमणि धोने से, प्रारंभिक मूत्र फेंक देने से या सलाई का उपयोग करने से मूत्र में बे-स्मेग्मा आने की संभावना नहीं रहती, फिर भी कुछ आ जायँ तो मद्य के उपयोग से विरंजित हो जाते हैं अर्थात् दिखाई ही नहीं देते।

घातपी स्पोरजनक वर्ग (Bacillacae)

ऐन्थ्राक्स का बैसीलस (B Anthracis)

वासस्थान—ऐन्थ्राक्स पीड़ित या मृत प्राणियों की प्लीहा, रक्त, नासास्राव इत्यादि में तथा मनुष्यों के रक्त, फुफ्फुस, थूक, व्रणस्राव इत्यादि में यह बैसीलाय रहता है। इसके अतिरिक्त भूमि में, घास फूस में स्पोर के रूप में रहता है।

शरीर और रञ्जन—विकारी जीवाणुओं में यह सबसे बड़ा है। लम्बाई ५ १० क्वचित् २० म्यू और चौड़ाई १—१ ५ म्यू होती है। यह चौखूँटा, सीधा, दण्डाकार बैसीलस है जो माला के रूप में हमेशा मिलता (पृष्ठ १५) है। प्राणियों की धातुओं में माला ४-५ जीवाणुओं की, रक्त में ५ १० की और वधनकों में सैकड़ों की होती है। लंबी माला में इनके दोनों सिरे कुछ निम्नमध्य होने से इनके बीच में कुछ संकोतरा भाग खाली दिखाई देता है। माला के रूप में यह बाँस के समान दिखाई देता है और प्रत्येक बै० पोर के समान मालूम होता है। इसका एक एक सत्र कई बार केवल एक ही लबी माला का बनता

है। जब ये एक एक या दो दो मिलते हैं, जैसे कि रक्त या शरीर की धातुओं में तब इनके सिरे कुछ उन्नतमध्य (Convex) होते हैं। सिरे चाहे जैसे हों इसके चौकोरपन में कोई फर्क नहीं होता।

कोष—कभी कभी प्राणियों के शरीर में जो जीवाणु मिलते हैं उनके शरीर पर कोष दिखाई देता है। जिस समय अनेक ये माला के रूप में होते हैं उस समय सबके लिए केवल एक कोष होता है।

स्पोर—यह जीवाणु स्पोरजनक है, परन्तु प्राणियों के शरीर में स्पोर उत्पन्न नहीं होते हैं। शरीर के बाहर आते ही स्पोर की उत्पत्ति होती है। इसका कारण यह है कि स्पोरोत्पत्ति के लिये जितनी आक्सीजन की राशि आवश्यक होती है उतनी प्राणियों के शरीर में नहीं मिलती। कृत्रिम वर्धन द्रव्य में आक्सीजन विपुल होने से इसको पूर्ण वृद्धि होने के पश्चात् स्पोर की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। स्पोर उत्पत्ति के लिये पोषक तापक्रम ३० सें० है। १८ सें० से कम और ४१ सें० से अधिक उष्णता पर स्पोर की उत्पत्ति बंद हो जाती है। प्रत्येक जीवाणु में केवल एक स्पोर बनता है जो उसके शरीर मध्य में होता है। उसका आकार दीर्घवृत्त (१ × १·५ म्यू) है। इसकी पूर्णवृद्धि हो जाने के पश्चात् जीवाणुशरीर गल जाता है। इसके स्पोर की विशेषता यह होती है कि उसकी मोटाई जीवाणु शरीर से अधिक नहीं होती। आगे पृष्ठ १५७ देखो। ग्लिसरीन अगार में या अग्नि (Calcium) युक्त वर्धनक में अधिक काल तक वृद्धि करने से इसकी स्पोरोत्पादन शक्ति सदा के लिये नष्ट (Non-sporulating) हो जाती है। यह तन्तुपिच्छ रहित और निश्चल है। यह सामान्य रंगों से रंजित होता है और अच्छा ग्रामग्राही है। स्पोर देखने के लिये विशेष रंगों का उपयोग करना पड़ता है।

जीवन व्यापार और स्वधर्म—यह प्राणवी और वैमात्य वायवी है, परंतु प्रचुर वृद्धि और आकार वैशिष्ट्य उत्पन्न होने के लिये

प्राणवायु की आवश्यकता होती है। पे
परंतु १५ ४५° सें० के बीच में इसकी

सामान्य बधनकों में इसकी प्रचुर
गोल भूरे रंग के संघ उत्पन्न होते हैं,
घुँघराले केश गुच्छ (Curled Hai
देते हैं। इस प्रकार का स्वरूप इनको
कारण होता है। जिलेटिन में वेधन
(Inverted fur-tree) के सम
कारण यह है कि पृष्ठ भाग की ओर
अधिक होती है और नीचे की ओर प्रा
कम होती जाती है। आलू पर भी इस
इसमें स्पोर अधिक संख्या में उत्पन्न हो

जीवन रासायनिक प्रतिक्रिया
ग्लूकोज और माल्टोज में अम्लोत्पादक
होता है वायु नहीं।

प्रतीकार और जीवन क्षमता-
अस्पोरात्मक (Non sporing) प
होता है। ५५° सें० तापक्रम पर १०
घोल में ५ मिनिट में और शुष्कीकरण
है। परन्तु इसके स्पोर अत्यन्त प्रतिरो
शक्ति भायु वृद्धि के साथ पड़ती जाती
भूमि में ये वर्षों तक जीवनक्षम रह
उष्णता को ये तीन घंटों तक, १८०°
सें० के उबलते पानी को १० मिनिट

है इसलिये उसका उपयोग ऐन्थ्राक्स दूषित ऊन और चमड़े के विशोधन के लिये किया जाता है। प्रत्यक्ष धूप प्रकाश में स्पोर ११ घंटों में मर जाता है।

विरोधी ओयम—बै० प्रायोसैनीयस और स्ट्रेप्टोकोकाइ के साथ इसका विरोध होता है। अर्थात् इनकी उपस्थिति में बै० ऐन्थ्राक्स संवर्धित नहीं हो सकते।

विपोत्पत्ति—पृष्ठ १२ देखो।

विकारकारिता—यह जीवाणु रोग कैसे उत्पन्न करता है इसके संबंध में अभी तक ठीक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका। संभव है कि संपूर्ण शरीरगत कशिकाओं को अवरुद्ध (Obstruction) करके ये घातक होते हों। इस जीवाणु से ऐन्थ्राक्स नामक एक अत्यन्त तीव्र और घातक रोग उत्पन्न होता है। वास्तव में यह तृणाहारी पशुओं का रोग है जो उनसे पीड़ितों या मृतों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संसर्ग से मनुष्यों पर संक्रान्त होता है।

गौ, बैल, बकरी, गिनीपिग, मूषक इस रोग से जल्दी आक्रान्त होते हैं। आल्जेरियन बकरी, सुअर, कुत्ता, पक्षी और शीतरक्त के अन्य प्राणि इस रोग के प्रति क्षम होते हैं। मनुष्य दोनों के बीच में आता है।

प्रवेश-मार्ग और रोग के प्रकार—(१) त्वचा—मनुष्यों में इसी मार्ग द्वारा प्रायः रोग उत्पन्न हुआ करता है। त्वचा के क्षत द्वारा जीवाणु भीतर प्रविष्ट होते हैं और प्रवेश-स्थान में २४ घण्टे के अन्दर दुष्ट विस्फोट उत्पन्न कर तृणाशुद्दोपमयता से पाँच छ दिन की अवधि में मृत्यु हो जाती है। इस रोग का नाम 'दुष्ट स्फोटक' (Malignant Pustule) है। यह अधिकतर कसाइयों, चमड़ा कमानेवालों ढोरों के डाक्टरों में और गड़रियों में होता है। मद्रासियों में हजामत के तथा दाँतों के ब्रुश से भी कभी कभी यह रोग होता है।

२ श्वास मार्ग—पशुओं के ऊन में जो स्पोर लगे रहते हैं वे श्वास

द्वारा फुफ्फुस में प्रविष्ट होते हैं और एक दो दिन की अवधि में तीव्र ब्राँकोन्यूमोनिया के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें श्वासावरोध और हृदयावसाद से मृत्यु हो जाती है। जो लोग ऊन के कारखानों में काम करते हैं उनमें इस प्रकार से रोग उत्पन्न होता है। इसका नाम 'ऊर्णा व्यवसायिक रोग (Wool-sorter's disease) है।

३ अन्न मार्ग—रोगग्रस्त पशुओं के माँस या दूध के साथ स्पोर आंत्र में पहुँच जाते हैं। मनुष्यों में अन्नमार्ग द्वारा यह रोग क्वचित् उत्पन्न होता है। पशुओं में यह मार्ग अधिक दिखाई देता है। आंत्र शोथ के कारण वमन, रक्तातिसार, आंत्रशूल इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अन्त में पेशियों में ऐंठन, आक्षेप और अवसाद होकर मृत्यु हो जाती है। पशु इस रोग से एक दो दिन की अवधि में मर जाते हैं।

चिकित्सा—वैक्सीन का उपयोग पशुओं में रोग प्रतिबन्धन के लिये होता है। टीका लगाने से एक वर्ष तक क्षमता रहती है।

स्क्लावो (Sclavo) की लसिका का उपयोग इस रोग की चिकित्सा में होता है। लसिका बनवाने के लिये गधे का उपयोग किया जाता है। १० १० सी० सी० का अंतःक्षेप त्वचा के नीचे या पेशी में दिया जाता है। रोग के लक्षणों में फर्क मालूम न हो तो दूसरे दिन फिर लसिका का प्रयोग होता है। तीव्र रोग में लसिका अधिक मात्रा में सिरा द्वारा दी जाती है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—दुष्ट व्रण में विस्फोट की या उसको खरोंच कर निकली हुई लसिका परीक्षणार्थ लेनी चाहिए और रंजन, संवर्धन और प्राणिरोपण (पृष्ठ ९१,९५) से निदान करना चाहिये।

वातभी स्पोरजनक वर्ग (Clostridia)

धनुर्वात का बैसीलस (Cl Tetani)

वासस्थान—घोड़ा, गौ, बैल, भेड़ इत्यादि घरेलू और पालतू

प्राणियों के आन्त्र में यह सहवासी के तौर पर हमेशा रहता है व
क्वचित् मनुष्यों के आन्त्र में भी मिलता है। मल ऐसे की तथा
सड़कों की धूलि में, जो हमेशा गोबर, लीद, मैला इत्यादि से दूषि
होती रहती है यह पाया जाता है। धनुर्वात रोगी के क्षत में रहता है

शरीर और रंजन—यह बहुरूपी (Pleomorphic) जीवा
है। प्राय: यह पतला (२ म्यू) और लंबा (५ म्यू तक) होता है
परन्तु कभी कभी इससे छोटा या पतला और लंबा भी दिखाई देता है
चारों ओर तन्तुपिच्छ (पृष्ठ ११) होने से यह गतियुक्त होता
परन्तु अधिक नहीं। तन्तुपिच्छ हीन अतएव गतिरहित भी कुछ होते हैं
यह स्पोरजनक है। स्पोर शरीर के अन्त में होकर मोटाई में अधि
होने के कारण स्पोरयुक्त ये, ढोल बजाने की एकदूसार छड़ी (Drum
stick) के समान दिखाई देता है।

यह ग्रामग्राही है। स्पोर और तन्तुपिच्छ देखने के लिये विशे
रंगों की आवश्यकता होती है।

जीवन व्यापार और संवर्धन—यह अवायवी वातमी है (पृ
२७)। पोषक तापक्रम ३७° से०। १४°—४१° से० के बीच
इसकी वृद्धि हो सकती है।

यह अवायवी वातमी होने के कारण वायमी पद्धतियों (पृष्ठ ११
के द्वारा ग्लूकोज अगर पोषक मांसयूष, सिद्ध मांसवर्धनक इत्यादि
इसकी वृद्धि की जाती है। वेधनवृद्धि का स्वरूप सरो (Fur) वृक्ष
के समान होता है। इसका कारण यह है कि नीचे के भाग में प्राण
वायु न होने से वृद्धि अधिक और पृष्ठ भाग के पास प्राणवायु सम्मि
होने से वृद्धि कम होती है।

जीवन रासायनिक प्रतिक्रिया—इसमें अभिपंगात्मक गुण नहीं
है परन्तु प्रोटीन नाशक गुण है। इसलिये जिस वर्धनक में इसकी वृद्धि
की जाती है उसमें हैड्रोजन सल्फाइड, मिथिल मरकाप्टन इत्यादि वायु

रूप पदार्थ (पृष्ठ १४) उत्पन्न होकर सड़ी खाद के समान दुर्गंध आती है।

जीवन क्षमता और प्रतिकार—औद्भिदावस्था में यह अधिक प्रतिकारक नहीं है, परन्तु स्पोर बहुत प्रतिकारक होता है। शुष्कावस्था में यह वर्षों तक सजीव रह सकता है और यदि स्थान अंधेरा और आर्द्रतायुक्त (Humid) हो तो इसकी जीवनक्षमता और भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि खादयुक्त खेतों में और घरोंकों में इसके स्पोर अधिक संख्या में पाये जाते हैं। उष्णता और जीवाणुनाशक द्रव्यों के साथ भी स्पोर भलीभांति प्रतीकार करते हैं। उबलते हुए पानी को तथा ८०° सें० की शुष्क उष्णता को एक घंटे तक, ११० सें० की जल बाष्प को २० मिनिट तक, ५ प्र श कार्बोलिक घोल को पन्द्रह घंटों तक स्पोर सह सकते हैं। एंडर्सन का तो कथन है कि स्पोर मन्द रक्ताप (Dull red Heat) को भी सह सकते हैं।

विषोत्पत्ति—धनुर्वात के ये बहिर्विष (पृष्ठ ३०) उत्पन्न करते हैं। द्रवावस्था में यह विष सुकुमार और अनुष्णसाही होने से जल्दी खराब होकर निष्क्रिय हो जाता है। परन्तु यदि सुखाकर चुकनी के रूप में रक्खा जाय तो यह बहुत काल तक अपनी शक्ति बनाये रखता है। इसलिये प्रतिविष बनानेवाले इसको सुखाकर ही रख देते हैं।

यह विष अत्यन्त घातक है। इसकी घातक शक्ति नागविष से बीसगुना अधिक है। इसमें दो प्रकार के विष मिले हुए रहते हैं। (१) एक प्रकार यह है जो शरीर में आक्षेप (Convulsions) उत्पन्न करता है। इसको धनुर्दोषक (Tetanospasmin) कहते हैं। (२) दूसरा प्रकार यह होता है जो रक्ताणुओं का नाश करता है। इसको धनुर्द्रावक (Tetanolysin) कहते हैं।

पुनीकरण पद्धति द्वारा धनुर्वात के आठ भेद दिखाई देते हैं, परन्तु विषोत्पत्ति की दृष्टि से उनमें भेद नहीं होता।

मुख द्वारा सेवन करने पर विष नष्ट होता है, परन्तु त्वचा रक्त में प्रविष्ट होने से यह अपना प्रभाव दिखाता है। इसका आकर्षण मस्तिष्क स्थान की ओर होता है और उसमें पहुँचाने का मार्ग चेष्टावहनाड्यग्रों (Motor end-plates) द्वारा होता है।

विकार कारिता—कछुआ, मेंढक, पक्षियाँ इत्यादि शीतरक्त प्राणियों में यह विष पूर्ण अविकारी, कुत्ता, बिल्ली, मुर्गी इत्यादि घरेलू प्राणियों में प्रायः अविकारी, गिनीपिग चूहा इत्यादि प्रयोगशाला के प्राणियों में (पृष्ठ ७१) हानिकर और मनुष्यों और घोड़ों में अत्यन्त हानिकर होता है। इसस महत्वाशील प्राणियों में अपतानक या धनुर्वात (Tetanus) नामक रोग होता है। शरीर में प्रवेश क्षत, व्रण, फोड़े फुन्सियाँ आघात, अपघात इत्यादि के द्वारा होता है, परन्तु रोगोत्पादन के लिये केवल प्रवेश पर्याप्त नहीं होता, कुछ सहायक कारण आवश्यक होते हैं:—

सहायक कारण—त्वचा, स्नायु पेशी इत्यादि का बहुत कुचल जाना और रक्त प्रवाह में बाधा—जैसे विच्छिन्न व्रण (Lacerated Wounds) (२) धूलि, गोबर, लकड़ी के टुकड़े, चिथड़ा इत्यादि का व्रण में प्रवेश। (३) धातुनाशक रासायनिक द्रव्यों का प्रवेश, जैसे—क्विनीन स्यालिक एसिड। (४) पै० वैलची, एडिमेशियस, कोकी, स्टाफ्लोकोकाय इत्यादि जीवाणुओं का व्रण में प्रवेश।

अतः कर्णपाक, गर्भाशय, कर्णविवर फोड़े फुन्सियाँ, गोपद पीडिका, मसूरिका टीका इत्यादि त्वचा के विकारों से, क्विनीन के इन्जेक्शन से शस्त्रकर्म में सीवन के लिये अविशोधित तांत (Cat gut) का प्रयोग करने से, प्रसवमाना स्त्री में प्रसव कराने के लिये और नवजात बालक में नाभ्यच्छेदन के लिये अविशोधित शस्त्र यन्त्रादि का उपयोग करने से धनुर्वात उत्पन्न हो सकता है।

संप्राप्ति—जीवाणु प्रवेश स्थान से मर्यादित रहके अनुकूलता मिलने

पर संख्या वृद्धि करते हैं और उनका विष साधारण मात्रा में होने पर प्रवेश स्थान संबंधित चेष्टावह नाड़ियों के द्वारा और अधिक मात्रा में होने पर रसवाहिनी या रक्तवाहिनी के द्वारा मस्तिष्क और सुषुम्ना में पहुँचकर चेष्टावह सेलों (Motor cells) के साथ संयुक्त होता है। यह संयोग यद्यपि पूर्ण स्थायी नहीं तो भी कुछ स्थायी स्वरूप का होता है और उसके लिये २ १४ दिन की अवधि लगती है। इसी को सचय काल कहते हैं। चिरकालीन रोग में और प्रतिबन्धक सीरम देने पर यह अवधि ७५ दिन तक बढ़ती है। जो विष सेलों के साथ संयुक्त होता है उस पर प्रतिविष का कुछ भी असर नहीं हो सकता। चेष्टावह सेलों में पूर्व शृंग की सेलें विष से अधिक पीड़ित होती है। ये सेलें विपाक होने से मस्तिष्क संस्थान के कार्य में तीन प्रकार की गड़बड़ी हो जाती हैं। (१) निश्चेष्ट अवस्था में चेष्टावह नाड़ियाँ उत्तेजना रहित और तत्संबंधित पेशियाँ आराम में रहती हैं। धनुर्विपाक्त नाड़ियाँ हमेशा प्रक्षुब्ध और शीघ्र क्षोभी हो जाती हैं जिससे तत्संबंधित पेशियाँ भी तनाव में (Hypertouus) रहकर जरा सा कारण मिलने से ऐंठती हैं या आक्षिप्त होती है। (२) स्वस्थावस्था में मस्तिष्क के उच्च नाड़ी केन्द्रों का (Higher motor Neuron) अधर्मांगी केन्द्रों पर (L. M N) निरोधन का कार्य (Inhibition) होता रहता है। ये नाड़ी केन्द्र विपाक्त होने पर उनका निरोधन का कार्य नष्ट होकर पेशियों में ऐंठन (Spasms) और आक्षेप (Convulsions) बहुत जोरदार होने लगते हैं। (३) शरीर में जितनी भी पेशियाँ हैं उनमें कार्य की दृष्टि से दो विरोधी दल होते हैं। परन्तु नाड़ियों के द्वारा उनका कार्यविरोध इस प्रकार नियन्त्रित किया जाता है जिससे शरीर को वह उपकारक हो। इसको परस्परानुवर्ति शिथिलीकरण (Reciprocal Innervation) कहते हैं। धनुर्वात से यह परस्परानुवर्तित्व भी नष्ट हो जाता है।

मुख द्वारा सेवन करने पर विष नष्ट होता है, परन्तु त्वचा रक्त में प्रविष्ट होने से यह अपना प्रभाव दिखाता है। इसका आकर्षण मस्तिष्क के स्थान की ओर होता है और उसमें पहुँचाने का मार्ग चेष्टावहनाड्यग्रों (Motor end-plates) द्वारा होता है।

विकार कारिता—कछुआ, मेंढक, पक्षियादि इत्यादि अकपर प्राणियों में यह विष पूर्ण अविकारी, कुत्ता, बिल्ली, मुर्गी इत्यादि घरेलू प्राणियों में प्रायः अविकारी, गिनीपिग चूहा इत्यादि प्रयोगशाला के प्राणियों में (पृष्ठ ७१) हानिकर और मनुष्यों और घोड़ों में अत्यन्त हानिकर होता है। इससे ग्रहणशील प्राणियों में अपतानक या धनुर्वात (Tetanus) नामक रोग होता है। शरीर में प्रवेश क्षत, व्रण, फोड़े फुन्सियाँ आघात, अपघात इत्यादि के द्वारा होता है, परन्तु रोगोत्पादन के लिये केवल प्रवेश पर्याप्त नहीं होता, कुछ सहायक कारण आवश्यक होते हैं:—

सहायक कारण—त्वचा, स्नायु पेशी इत्यादि का बहुत कुचल जाना और रक्त प्रवाह में बाधा—जैसे विक्षित व्रण (Lacerated Wounds) (२) धूलि, गोबर, लकड़ी के टुकड़े, चिथड़ा इत्यादि का व्रण में प्रवेश। (३) धातुनाशक रासायनिक द्रव्यों का प्रवेश, जैसे—क्विनीन स्यालिटक एसिड। (४) पै॰ वेलची, पुडिम्पारिस, कोली, स्टाफिलोकोकाय इत्यादि जीवाणुओं का व्रण में प्रवेश।

अतः कर्णपाक, शय्याव्रण, कर्णवेधन फोड़े फुन्सियाँ, यौवन पीडिका, मसूरिका टीका इत्यादि त्वचा के विकारों से, क्विनीन के इन्जेक्शन से शस्त्रकर्म में सीवन के लिये अविशोधित तांत (Cat gut) का प्रयोग करने से, प्रसवमाना स्त्री में प्रसव कराने के लिये और नवजात बालक में नालच्छेदन के लिये अविशोधित हस्त यन्त्रादि का उपयोग करने से धनुर्वात उत्पन्न हो सकता है।

संप्राप्ति—जीवाणु प्रवेश स्थान से मर्यादित रहके अनुरक्त निकने

पर संख्या वृद्धि करते हैं और उनका विष साधारण मात्रा में होने पर प्रवेश स्थान संबंधित चेष्टावह नाड़ियों के द्वारा और अधिक मात्रा में होने पर रसवाहिनी या रक्तवाहिनी के द्वारा मस्तिष्क और सुषुम्ना में पहुँचकर चेष्टावह सेलों (Motor cells) के साथ संयुक्त होता है। यह संयोग यद्यपि पूर्ण स्थायी नहीं तो भी कुछ स्थायी स्वरूप का होता है और उसके लिये २ १४ दिन की अवधि लगती है। इसी को संचय काल कहते हैं। चिरकालीन रोग में और प्रतिबंधक सीरम देने पर यह अवधि ४५ दिन तक बढ़ती है। जो विष सेलों के साथ संयुक्त होता है उस पर प्रतिविष का कुछ भी असर नहीं हो सकता। चेष्टावह सेलों में पूर्व शृंग की सेलें विष से अधिक पीड़ित होती हैं। ये सेलें विपाक्त होने से मस्तिष्क संस्थान के कार्य में तीन प्रकार की गड़बड़ी हो जाती हैं। (१) निश्चेष्ट अवस्था में चेष्टावह नाड़ियाँ उत्तेजना रहित और तत्संबंधित पेशियाँ आराम में रहती हैं। धनुर्विपाक्त नाड़ियाँ हमेशा प्रक्षुब्ध और शीघ्र क्षोभी हो जाती हैं जिससे तत्संबंधित पेशियाँ भी तनाव में (Hypertouns) रहकर जरा सा कारण मिलने से ऐंठती हैं या आक्षिप्त होती हैं। (२) स्वस्थावस्था में मस्तिष्क के उच्च नाड़ी कन्द्रों का (Higher motor Neuron) अधनाड़ी कन्द्रों पर (L. M N) निरोधन का कार्य (Inhibition) होता रहता है। ये नाड़ी केन्द्र विपाक्त होने पर उनका निरोधन का कार्य नष्ट होकर पेशियों में ऐंठन (Spasms) और आक्षेप (Convulsions) बहुत जोरदार होने लगते हैं। (३) शरीर में जितनी भी पेशियाँ हैं उनमें कार्य की दृष्टि से दो विरोधी दल होते हैं। परन्तु नाड़ियों के द्वारा उनका कार्यविरोध इस प्रकार नियन्त्रित किया जाता है जिससे शरीर को वह उपकारक हो। इसको परस्परानुवर्ति शिथिलीकरण (Reciprocal Innervation) कहते हैं। धनुर्विष से यह परस्परानुवर्तित्व भी नष्ट हो जाता है।

करने की कोशिश करनी चाहिए। एक बात ध्यान में रखना चाहिये कई बार मण में अधिकारी स्पोरजनक एणाणु उपस्थित रहते हैं जिन घनुर्वात के ये समझने की भूल हो सकती है परन्तु इनमें प्राणियों विकार उत्पन्न करने को शक्ति नहीं होती, इसलिये प्राणि रोपण पद्ध से इनका निराकरण हो जाता है।

ये बोटुलीनस (Cl botulinum)

वासस्थान—सुअर तथा अन्य घरेलू प्राणियों के आन्त्र में अधि कारी सहवासी के तौर पर यह रहता है और भूमि में भी पाया जाता है

शरीर और रंजन—यह ४.६ म्यू लंबा और १ म्यू चौड़ा है। य एक एक या छोटी माला के रूप में मिलता है। यह स्पोरजनक है स्पोर ये के अन्त में होकर उससे कुछ अधिक मोटा और संयोतरा होत है। इसके शरीर पर ४-८ तन्तु पिच्छ होते हैं। यह मन्द गति युक्त और प्राणग्राही है।

जीवन व्यापार और संवधन—यह पूर्ण प्राणमी है। २०° में पर इसकी प्रचुर वृद्धि होती है। मांस रस में प्रचुर वृद्धि होकर व मरियाला हो जाता है और उसमें खट्टी गंध (Rancid) आती है। सिद्ध मांस में प्रचुर वृद्धि होकर वह काला पड़ जाता है। जिस्याटिन तरल होता है। सब वर्धनकों में इससे हैड्रोजन मैथेन इत्यादि वायुरूप पदार्थ उत्पन्न होते हैं। दही व म्युट्रिकएसिड की उत्पत्ति से आती है।

ओचमक्षमता और प्रतीकार—ये बहुत प्रतिकारक नहीं होते परन्तु उनके स्पोर होते हैं जो १८०° सें की शुष्क उष्मता को १५ मिनिट तक उबलते हुए पानी को घंटों तक और १२० से की भाप उष्मता को (कंडुक यन्त्र में) ५ मिनिट तक सह सकते हैं। यही कारण है कि अच्छी भाँति न पकाये हुए अन्न में ये जीवनक्षम रह सकते हैं।

विषोत्पत्ति—इससे बड़ा घातक बहिर्विष बनता है जो एक सहस्रांश सी० सी० की मात्रा में बन्दर को मारक होता है। ४० सें०

कम तापक्रम का तथा अम्ल का इसके ऊपर कुछ भी असर नहीं होता, इसलिये पेट में जाने पर भी यह अपना विशेष प्रभाव डाल सकता है। विष दो प्रकार का होता है और इसी के आधार पर इसके भी ए और बी० करके दो प्रकार किये गये हैं। एक के लिये बनाया हुआ प्रतिविष दूसरे के लिये उपयोगी नहीं होता।

विकारकारिता—यह बै० स्वय विकारकारी नहीं, उसका विष है। इसका तात्पर्य यह है कि विष से अलग किये हुए बै० शरीर में मुख या अन्य मार्ग से प्रविष्ट करने या होने पर भी विकार नहीं कर सकते। शरीर के बाहर खाद्य द्रव्यों में उनसे बनाया हुआ विष उन द्रव्यों के साथ शरीर में मुख द्वारा प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न होता है। खाद्य-द्रव्यों की दुष्टि धूलि से या कीड़ों से होती है। उनमें बै० वृद्धि करके विष उत्पन्न करते हैं। इस विष का आकर्षण मस्तिष्क और नाड़ियों की ओर रहता है और उसके परिणाम स्वरूप में पेशियाँ घातित होकर चबाना, निगलना, बोलना इनमें कठिनाई, द्विधा दृष्टि (Diplopia), पुतली का विस्तार, प्रकाशसंत्रास (Photo phobia) इत्यादि लक्षण होते हैं। विषाधिक्य होनेपर श्वसन और हृदय के केन्द्रों पर परिणाम होकर उनके घात से मृत्यु हो जाती है। संवेदना और संज्ञा दोनों पर इस विष का परिणाम नहीं होता, जिससे रोगी मृत्यु के क्षण तक होश पर रहता है। इसमें पचन संस्थान के लक्षण भी नहीं होते। इस रोग को बोटुलिज्म कहते हैं। संक्षेप में यह रोग उप सर्ग नहीं है, अन्तर्विषता (Intoxication) है।

चिकित्सा—इसके विष के लिये शक्तिशाली प्रतिविष उपलब्ध है। इसका उपयोग रोग प्रारंभ में ही ५० सी. सी माशा में सिरा द्वारा करना चाहिये और जब तक रोगी ठीक न हो तब तक प्रतिदिन उसका उपयोग करना चाहिये। विषनाशन के लिये मल्कोहोल का भी उपयोग होता है। विषनाशन के अतिरिक्त मस्तिष्कोद्दीपन की भी

आवश्यकता होती है जो मस्कोहोल तथा ट्रिप्टोफेन से पूरी की जाती है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—(१) संशयित अन्न किसी प्राणी को खिलाकर परिणाम देखना। (२) पोषक मांस रस में वातमी पद्धति से उसको रोपित करके वृद्धि करना और पश्चात् अन्य जीवाणुओं का नाश करने के लिये ८० सें पर उसको आधे घंटे तक गरम करके फिर से उसका कुछ अंश ग्लूकोज आगर में वेधन से प्रविष्ट करके वृद्धि करना। इस प्रकार प्राप्त जीवाणुओं को रंजन, प्रतिरोपण विपोत्पत्ति के द्वारा पहचानना। (३) संशयित अन्न लवणजल में भली भाँति मिला करके उसका निथार (Filtrate) चूहे या गिनी पिग के उदर गुहा में प्रविष्ट करके उसका परिणाम देखना।

वातिक कोथ के जीवाणु

शर्करा द्रावक वर्ग (*Saccharolytic group*)

(१) क्ले वेलची (Cl welchii)—यह भूमि में तथा मनुष्यों के आन्त्र में रहता है। यह पाँच म्यू लंबा है। इसके मध्य में या उपान्त्य में काफी मोटा दीर्घवृत्त स्पोर होता है। प्राणियों के शरीर में इसके ऊपर साफ कोष रहता है। यह वेग्मुविच्छ रहित, निश्चल और ग्रामग्राही है। वातमी पद्धतियों द्वारा वृद्धि करने पर यह सामान्य वर्धनकों में भलीभाँति वृद्धि करता है, परन्तु इसके लिये १५ दिन तक रक्तपोषण करने की आवश्यकता होती है। यह शर्करा द्रावक है। ग्लूकोस तथा अन्य शर्कराओं में इससे अम्ल और वात (Gas) उत्पन्न होता है। वात की राशि अधिक उत्पन्न होने के कारण इसको गैस वै भी कहते हैं। इसके स्पोर भी अन्य स्पोरों के समान बहुत प्रतिकारक होते हैं।

(२) क्ले पस्टियाटिस ज्याज्ञिम (*Cl Septique*)—यह काफी लंबा (१० म्यू तक) और कुछ पतला भी है। इसके चारों

ओर तन्तुपिच्छ होते हैं और यह बहुत चंचल भी है। इससे उपद्रुत गिनीपिग के रक्त में कई बार माला के रूप में आपस में मिले हुए ये रहते हैं और आकणों के बीच में गति करते समय साँप के समान दिखाई देते हैं। इसके स्पोर मध्य में या उपान्त में होकर दीर्घवृत्त और मोटे रहते हैं। ये वेलची के समान यह भी सामान्य घषमकों में वृद्धि करता है और शकराओं से अम्ल तथा बहुत वायु उत्पन्न करता है। यह मांसग्राही है।

(३) क्ले ओडमेशियन्स (Cl Oedematiens)—ये वेलची के समान परन्तु इससे कुछ मोटा और बहुरूपी होता है। इसके चारों ओर तन्तुपिच्छ होते हैं परन्तु गति कम होती है। स्पोर उपान्त में होते हैं। मांसग्राही है। शर्करा द्रावक होने पर भी इससे वायु अधिक नहीं बनती।

(४) क्ले फालक्स (Cl Fallax)—यह भी ये वेलची के समान होता है, परन्तु इससे कुछ छोटा और पतला होता है। चारों ओर तन्तुपिच्छ होते हैं और गतियुक्त होता है। स्पोर दीर्घवृत्त होकर उपान्त में होते हैं परन्तु जल्दी बनते नहीं। मांसग्राही है।

प्रोटीन द्रावक वर्ग (Proteolytic Group)

(१) क्ले हिस्टोलिटीकम (Cl Histolyticum)—ये वेलची के समान। अत्यन्त प्रोटीन द्रावक होने के कारण इसको हिस्टोलिटिका (धातु द्रावक) नाम दिया गया है। गतियुक्त और प्राममाही।

(२) क्ले स्पोरोजीनस (Cl Sporogenes)—ये० वेलची के समान चारों ओर तन्तुपिच्छ दीर्घवृत्त और उपान्तिम स्पोर। गतियुक्त और मांसग्राही। प्रोटीन द्रावक तथा कुछ अंश में शर्करा द्रावक।

विषोत्पत्ति—ये वेलची और सेप्टिक बड़ा घातक बहिर्विष बनाते हैं जिसके शोषण से विषमयता उत्पन्न होकर अधिवृक्क (Supra

renals) ग्रन्थियों के नाश से मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त अर्म सिन श्वेतकणनाशक, लालकणद्रावक आदि विष भी (पृष्ठ ४१) इनसे उत्पन्न होते हैं। इनका कार्य पेशियों के कार्बोहिड्रेट पर होकर उससे हैड्रोजन, का कार्बोनडायोक्साइड ये वायु और अम्ल उत्पन्न होते हैं। ये अम्ल इनकी संख्यावृद्धि में रुकावटें डालते हैं। परन्तु जब इनके साथ प्रोटीनद्रावक ये होते हैं तब ये पेशियों की प्रोटीनों से हैड्रोजन, सल्फाइड, अमोनिया आदि अम्लविरोधी वायु उत्पन्न करके उनकी रुकावटें दूर करते हैं और वेलची सेप्टिक मजे में वृद्धि कर सकते हैं। प्रोटीन द्रावक वर्ग न कोई खास बहिर्विष या अन्य घातक विष नहीं बनाता, परन्तु ये शर्करा द्रावकों के साथ सहकार करके उनकी वृद्धि में और उनका विषैलापन बढ़ाने में सहायता करते हैं। संक्षेप में शर्करा द्रावकों और प्रोटीन द्रावकों का संयोग सहयोग (पृष्ठ १८) का उत्तम उदाहरण है।

विकार-कारिता—इनसे वातिककोथ उत्पन्न होता है। ये सब बे० वास्तव में मृत्युपजीवी (पृष्ठ १) और पूर्ण वातभी (पृष्ठ २१) होने से मनुष्य शरीर में अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर ही वृद्धि कर सकते हैं। जिस स्थान में इनका प्रवेश होता है वहाँ पर धातुओं का अत्यन्त नाश और वायु की उत्पत्ति होकर वह भाग कुथित और वातपूर्ण हो जाता है। प्रारम्भ में केवल विष रक्तप्रवाह से शरीर संचार करता है (प्रति विषमयता, पृष्ठ ८०) परन्तु आगे चलकर जीवाणु भी शरीर में संचार करने लगते हैं (जीवाणुरक्तविषमयता पृष्ठ ८०)।

वातिककोथ के अतिरिक्त ये वेलची तथा उसके अन्य सहकारी आन्त्रपुच्छशोथ, विपाशित आन्त्रवृद्धि (Strangulations) आन्त्र-प्रवेश (Intussusception), आन्त्रपरिवृत्ति (Volvulus) तथा अन्य आन्त्र में कोथ उत्पन्न करनेवाले विकारों में शामिल रहके उनकी गंभीरता बढ़ा देते हैं।

चिकित्सा—इनसे उत्पन्न होनेवाले विकारों के लिये बहुत शक्तिशाली प्रतिविष लसिका उपलब्ध है। तृणाणु अनेक होने के कारण बहुसम (Polyvalent) लसिका का ही प्रयोग करना चाहिये। इस लसिका का उपयोग चिकित्सा तथा प्रतिषेध दोनों के लिये हितकर होता है। चिकित्सा के लिये २० हजार पुमिट की मात्रा में सिरा द्वारा शीघ्रातिशीघ्र इसका प्रयोग करें और प्रत्येक १२ घंटे पर आवश्यकता हो तो उसको जारी रक्खें। व्रण जब मैला कुचैला हो तो प्रतिषेध के लिये धनुर्वात लसिका के साथ इसका भी उपयोग १००० पुमिट की मात्रा में करें। इसके अतिरिक्त आन्त्र के पूयपुक्त आन्त्रपुच्छशोथादि विकारों में भी इसका उपयोग हितकर होता है।

प्रत्याभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—(१) रंजन—व्रणस्राव को लेकर ग्राम से रंजित करके देखें।

(२) संवर्धन—प्रथम व्रणस्राव को लेकर उसको सिद्धमांसक्वथक में रोपित करके वृद्धि करे। इससे व्रण के वातपी और वातमी दोनों प्रकार के तृणाणु वर्धित होते हैं। उसके पश्चात् ८०° से तापक्रम पर उस वृद्धि को २० मिनिट तक तप्त करें। इससे केवल स्पोर बचते हैं जो पश्चात् ग्लूकोज अगर में वातमी पद्धति से वर्धित करने पर अपने संघ अलग अलग बनाते हैं। इन संघों का परीक्षण करके पहचान लें।

(३) प्राणिरोपण—जब परीक्ष्य द्रव्य में एक ही वातमी होता है तब १६ पृष्ठ पर बताये हुए तरीके से पहचानना चाहिये। परन्तु जब तृणाणु मिश्रित होते हैं तब प्राणिरोपण में क्षमलसिका द्वारा संरक्षण करके प्रयोग करना पड़ता है। जैसे जब ये वेल्ची, सेप्टिक और एडीम्याटीन तीनों मिश्र रहते हैं या तीनों के मिश्र होने की आशंका होती है तब तीन प्राणि लेकर प्रथम को वेल्ची और सेप्टिक के लिये, दूसरे को सेप्टिक और एडीम्याटीन के लिये और तीसरे को वेल्ची और एडीम्याटीन के लिये लसिका के द्वारा क्षम बनाया जाता है और पश्चात्

प्रत्येक में परीक्ष्य द्रव्य का इन्जेक्शन किया जाता है। उसके पश्चात् उचित समय के बाद उसके रक्त में मिलनेवाले कीटाणु की पहचान रञ्जनादि द्वारा की जाती है। जो प्राणि जिसके लिये एम किया जाता है उसके रक्त में रोग्य द्रव्य के वे तृणाणु नहीं मिलते। इसको संरक्षित (Protection Experiments) प्राणिरोपण पद्धति कहते हैं।

रोहिणी वर्ग (Corynebacterium group)

रोहिणी बैसीलस (C Diphtheriae)

वासस्थान—यह है रोहिणी पीड़ितों के तथा उसके वाहकों के गले और नासा पश्चिम भाग में मिलता है। स्वस्थ मनुष्यों के गले में कभी भी नहीं मिलता। गले के अतिरिक्त नेत्र में, और स्त्री प्रजननम संस्थान के बाह्यमार्गों के व्रणों में भी यह कभी कभी पाया जाता है। गौ के स्तनों के व्रणों में भी मिलता है। रोहिणी पीड़ितों के मुख नासा स्राव से दूषित भूमि में भी रहता है।

शरीर और रञ्जन—यह ५ म्यू तक लंबा और आधे म्यू तक चौड़ा होता है। यह दो दो चार चार के समूह में आपस में भिन्न भिन्न कोण बना करके प्रायः रहता है जिससे इसके समूह अंग्रेजी की वी या एल (V L) या चीनी अक्षरों के समान दिखाई देते हैं। इस प्रकार के समूह इनकी विशिष्ट विभजन पद्धति के कारण हुआ करते हैं। यह कोष स्थिर तन्तुपिण्ड गतिरहित है है। यह बहुरूपी है जो लम्बाई, चौड़ाई और स्वरूप इत्यादि में बहुत विविधता रखता है। विशेष करके इसमें एक सिरा में मुद्गर (Club) के समान मोटाई उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। इससे इसको मुद्गर तृणाणु (Corynebacterium) कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें कणों की भी कुछ विशेषता (पृष्ठ १०) होती है जो रंजन करने पर स्पष्ट दिखाई देती है। मुद्गरी और दानेदार ये, पुराने वर्धनक में तथा गले की रोहिणी कला (Membrane) में मिलते हैं।

रंजन के लिये लोफ्लर का मैथिलेनब्लू, नीसर या भल्बर्ट का (पृष्ठ १७२) रंग काम में लाया जाता है। इससे वे के कण बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। ये प्रायः दोनों अन्त में होकर कुछ मोटे होते हैं। इसलिये रंजित यै खेलने की बलेटो के समान दिखाई देते हैं। जो कुछ लंबे होते हैं उनके मध्य में भी एकाध कण होते हैं। यह ग्रामग्राही है, यह अन्य ग्रामग्राहियों की अपेक्षा जल्दी विरंजित हो जाता है। परन्तु इसके कण रंग नहीं छोड़ते। यह दानेदार स्वरूप रोहिणी ये का सामान्य और प्राथमिक स्वरूप होता है। परन्तु इसके अतिरिक्त कभी कभी यह पूरा रंजित होता है और कभी विषम रंजित। इस प्रकार इसके समरंजित (Solid), विषम रंजित (Barred) और कणरंजित (Metachromatic) करके तीन रंजन भेद होते हैं।

ओषजनव्यापार और संवर्धन—यह वातपी और संमान्य वातमी-है। पोषक तापक्रम ३७° सें० है परन्तु २० ४०° सें० के बीच में इसकी वृद्धि हो सकती है।

सामान्य पोषक वर्धनको में इसकी वृद्धि मन्दता से और कठिनाई से होती है, परन्तु रक्तरस, छसिका (विशेष करके घोड़े की) युक्त वर्धनकों में बहुत अच्छी वृद्धि होती है। अतः लोफ्लर, डार्सेट और टेल्यूराइट (पृष्ठ ५९) वर्धनकों का उपयोग इसकी वृद्धि के लिये किया जाता है। लोफ्लर में ८ घंटे में इसकी अच्छी वृद्धि होती है। अन्य जीवाणु इतने अल्पकाल में उसमें वृद्धि नहीं कर सकते, इसलिये इस वर्धनक का उपयोग प्रारंभिक वृद्धि के लिये तथा निदान के लिये किया जाता है। इसके ऊपर इसके संघ स्वतन्त्र गोल अपारदर्शी श्वेत या धूसर वर्ण उन्नत मध्य होते हैं। मोटाई में ये आलपिन के सर के बराबर होते हैं—टेल्यूराइट वर्धनक में रोहिणी और रोहिणी सम ये को छोड़ कर स्ट्रेप्टो, स्टाफिलो, न्यूमोकोकाय न्यूमोबैसीलाय, क्यारासिस इत्यादि नासा गलस्थित अन्य जीवाणुओं की वृद्धि रोकने की शक्ति

प्रत्येक में परीक्ष्य द्रव्य का इन्जेक्शन दिया जाता है। उसके पश्चात् उचित समय के बाद उसके रक्त में मिलनेवाले जीवाणु की पहचान रञ्जनादि द्वारा की जाती है। जो प्राणि जिसके लिये एम किया जाता है उसके रक्त में रोग्य द्रव्य के वे एणाणु नहीं मिलते। इसको संरक्षित (Protection Experiments) प्राणिरोपण पद्धति कहते हैं।

रोहिणी वर्ग (Corynebacterium group)

रोहिणी बैसीलस (C Diphtheriae)

वासस्थान—यह ये रोहिणी पीड़ितों के तथा उनके वाहकों के गले और नासा पश्चिम भाग में मिलता है। स्वस्थ मनुष्यों के गले में कभी भी नहीं मिलता। गले के अतिरिक्त नेत्र में, और स्त्री मूत्रप्रजनन संस्थान के बाह्यमार्गों के व्रणों में भी यह कभी कभी पाया जाता है। गौ के स्तनों के व्रणों में भी मिलता है। रोहिणी पीड़ितों के गुह नासा स्राव से दूषित भूमि में भी रहता है।

शरीर और रञ्जन—यह ४ म्यू तक लंबा और आधे म्यू तक चौड़ा होता है। यह दो दो चार चार के समूह में आपस में भिन्न भिन्न कोण बना करके प्रायः रहता है जिससे इसके समूह चीनी की वी या एल (V L) या चीनी अक्षरों के समान दिखाई देते हैं। इस प्रकार के समूह इसकी विशिष्ट विभजन पद्धति के कारण हुआ करते हैं। यह कोप एरोर तन्तुविष्प गसिरहित है है। यह बहुरूपी है जो लंबाई, चौड़ाई और स्वरूप इत्यादि में बहुत विविधता रखता है। विशेष करके इसमें एक सिरा में मुद्गर (Club) के समान मोटाई उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। इससे इसको मुद्गर एणाणु (Corynebacterium) कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें कणों की भी कुछ विशेषता (पृष्ठ १०) होती है जो रंजन करने पर स्पष्ट दिखाई देती है। मुद्गरी और दानेदार वे, पुराने वधनक में तथा गले की रोहिणी कला (Membrane) में मिलते हैं।

रंजन के लिये लोफ्लर का मेथिलीनब्ल्यू, नीसर या अल्बर्ट का (पृष्ठ १०१) रंग काम में लाया जाता है। इससे यै के कण बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। ये प्रायः दोनों अन्त में होकर कुछ मोटे होते हैं। इसलिये रंजित यै बेलने की बमेटी के समान दिखाई देते हैं। जो कुछ लंबे होते हैं उनके मध्य में भी एकाध कण होते हैं। यह ग्रामग्राही है, यह अन्य ग्रामग्राहियों की अपेक्षा जल्दी विरंजित हो जाता है। परन्तु इसके कण रंग नहीं छोड़ते। यह दानेदार स्वरूप रोहिणी यै का सामान्य और प्राथमिक स्वरूप होता है। परन्तु इसके अतिरिक्त कभी कभी यह पूरा रंजित होता है और कभी विषम रंजित। इस प्रकार इसके समरंजित (Solid), विषम रंजित (Barred) और कणरंजित (Metachromatic) करके तीन रंजन भेद होते हैं।

ओषजनव्यापार और संवर्धन—यह वातपी और संभाव्य वातमी है। पोषक तापक्रम ३७ सें० है परन्तु २० ४० सें० के बीच में इसकी वृद्धि हो सकती है।

सामान्य पोषक वर्धमकों में इसकी वृद्धि मन्दता से और कठिनाई से होती है, परन्तु रक्तरस, लसिका (विशेष करके घोड़े की) युक्त वर्धमकों में बहुत अच्छी वृद्धि होती है। अतः लोफ्लर, डार्सेट और टेल्यूराइट (पृष्ठ ५६) वर्धमकों का उपयोग इसकी वृद्धि के लिये किया जाता है। लोफ्लर में छः घंटे में इसकी अच्छी वृद्धि होती है। अन्य जीवाणु इतने अवकाश में उसमें वृद्धि नहीं कर सकते, इसलिये इस वर्धमक का उपयोग प्रारंभिक वृद्धि के लिये तथा निदान के लिये किया जाता है। इसके ऊपर इसके संघ स्वतन्त्र गोल अपारदर्शी श्वेत या धूसर वर्ण उन्नत मध्य होते हैं। मोटाई में ये अलपिन के सर के बराबर होते हैं—टेल्यूराइट वर्धमक में रोहिणी और रोहिणी सम यै को छोड़ कर स्ट्रेप्टो, स्टाफिलो, न्यूमोकोकाय न्यूमोबैसीलाय, क्यातारालिस इत्यादि नासा गलस्थित अन्य जीवाणुओं की वृद्धि रोकने की शक्ति

होती है और इसके ऊपर रोहिणी तथा रोहिणी सम बै० के संघ भिन्न भिन्न वर्ण के होते हैं। इसलिये इसका उपयोग रोहिणी यें को अन्यों से पृथक करने के लिये किया जाता है। रोहिणी के संघ कृष्णमय, धूसर परिणाही और रोहिणीसम बै के संघ सम्पूर्ण धूसरवर्ण (Greyish white) के होते हैं।

ओयम रासायनिक प्रतिक्रिया और भेद—रोहिणी यें, ग्लूकोज माल्टोज में अम्ल उत्पन्न करता है वायु नहीं। इक्षुशर्करा और स्याटोज पर इसका कुछ भी परिणाम (पृष्ठ ९५) नहीं होता। इसमें कुछ ऐसे हैं कि या स्टाच और ग्लैकोजन में अभिपण और १४ का स्रावण करते हैं और दूसरे कुछ ऐसे होते हैं कि जो इनमें कुछ भी नहीं कर सकते। इस आधार पर इसके दो भेद किये गए हैं। प्रथम भेद को गंभीर (C D Gravis) और दूसरे को मृदु (C D mitis) कहते हैं।

जीवन क्षमता और प्रताकार—अन्य विकारी तृणाणुओं की अपेक्षा इसमें शुष्की भवन और प्रकाश के साथ मुकाबला करने की अधिक शक्ति होती है। शुष्कावस्था में ९८° सें के तापक्रम को यह १ घंटे तक सह सकता है तथा गृह तापक्रम (Roomtemperature) पर अंधेरे स्थान में यह महीनों तक जीवनक्षम और विकारकारी रहता है। आर्द्र उष्णता में यह जल्दी मरता है। इसका घातक तापक्रम ६०° सें है। रासायनिक द्रव्यों से यह जल्दी मरता है। इसमें भी हैड्रोजन पैरोक्साइड अन्यों की अपेक्षा इसपर अधिक घातक प्रमाणित हुआ है।

विषोत्पत्ति—रोहिणी यें से अत्यन्त तीव्र स्त्रकर का बहिर्विष (पृष्ठ ३०) बनता है। सब में बहिर्विष उत्पन्न करने की समता नहीं होती कुछ अधिक मात्रा में उत्पन्न कर सकते हैं और कुछ कम मात्रा में। पार्क बुल्लियम्स नं० ८ करके जो भेद होता है उसमें बहुत अधिक विष उत्पन्न करने की शक्ति होती है इसलिए प्रतिविष बनाने के लिये इसीका ही उपयोग अधिक किया जाता है। रोहिणी बहिर्विष है तीव्र

प्रकार के पदार्थ होते हैं। (१) शुद्ध विष (Pure toxin) रोहिणी के तीव्र लक्षण इसी के कारण होते हैं (२) विषाभ (Toxoid)— इसमें विषैलापन नहीं होता, परन्तु प्रतिविष बनाने की शक्ति होती है। (३) विषोन (Toxone)—इसका स्थानिक परिणाम बहुत कम होता है परन्तु नाड़ियों पर काम करके तद्द्वारा पेशियों का घात करने की शक्ति इसमें होती है।

विकारकारिता—मनुष्यों में इनसे रोहिणी नामक रोग उत्पन्न होता है, मनुष्येतर प्राणियों में नहीं। रोहिणी २-५ साल के बालकों में अधिक होती है। इसमें उपसर्ग के स्थान में विष के कार्य से स्थानिक टूटी फूटी सेलों की श्वेतकणों की ओर जमी हुई रसिका की एक झिल्ली सी बन जाती है जिसको रोहिणी की कूट कला (Pseudo-membrane) कहते हैं। इस कला में ये बहुत शीघ्रता से बढ़ते हैं। उपसर्ग का स्थान प्रायः गला, टौन्सिल या स्वरयन्त्र होता है। इस स्थान पर उपसर्ग होने से सार्वदैहिक लक्षण होते हैं। नासा, नेत्र योनिद्वार कर्ण तथा त्वचा के व्रणों में भी कभी कभी रोहिणी का उपसर्ग होता है, परन्तु यह उपसर्ग मात्र स्थानिक रहता है उसका सार्वदैहिक परिणाम नहीं होता। रोग का प्रसार बिन्दूत्क्षेपों से तथा मुख सम्बन्धित चीजों से (पृष्ठ ८१) मुख्यतया और क्वचित् दूध द्वारा होता है। रोग प्रसार में रोगी की अपेक्षा वाहक अधिक भाग लेते हैं।

इस रोग में जो विविध लक्षण और उपद्रव होते हैं उनके तीन कारण हैं। (१) जीवाणु—ये गले में झिल्ली उत्पन्न करते हैं, जो ऊपर नासा में और नीचे स्वर यन्त्र में फैल कर नासावरोध श्वासावरोध, श्वासकृच्छ्र इत्यादि लक्षण उत्पन्न करती है। (२) विष—जीवाणु झिल्ली में ही सीमित रहकर विष उत्पन्न करते हैं जो रसिका वाहिनियों द्वारा शोषित होकर मस्तिष्क, मस्तिष्क नाड़ियाँ, हृदय, वृक्क, अधिवृक्क, रक्त वाहिनियाँ इत्यादि के ऊपर कार्य करके ज्वर

हृदय दौर्बल्य रक्तभाराल्पता, मूत्र में अल्ब्युमिन, निगलने में कठिनाई, विषम दृष्टि, अनुनासिकता (Nasal intonation) इत्यादि लक्षण उत्पन्न करता है। मस्तिष्क नाड़ियों में ३, ६, ९, १० वीं के ऊपर अधिक परिणाम होता है। (२) एक बाधक स्ट्रेप्टो कोकाय का उपसर्ग—गले के अन्यान्य रोगों के समान रोहिणी में भी कई बार स्ट्रे उपस्थित रहकर रोग की गम्भीरता (पृष्ठ १०९) बढ़ाने में सहायता करते हैं। इनके कारण अति तीव्र संताप ब्रान्कोन्युमोनिया गले की लसिका ग्रन्थियों में सूजन और पूयोत्पत्ति इत्यादि पीड़ादायक और घातक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। स्ट्रेप्टो के अतिरिक्त स्टाफिलो, न्यूमोकोकाय भी उपस्थित रहते हैं।

रोगिणी वाहक—रोहिणी का प्रसार इनके द्वारा बहुत होता है। ये प्रायः बालक होते हैं जिनमें लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक होते हैं। संपर्क (Contact) और रोग निवृत्त (Convalescent) करके इनके दो भेद होते हैं। साधारणतया यह देखा गया है कि रोग निवृत्ति प्रारम्भ के १५ दिन के पश्चात गले में होनेवाले सब बै. नष्ट हो जाते हैं। परन्तु कुछ रोगनिवृत्तों में ये दो तीन महीनों तक गले में रहते हैं। ये वाहकों का काम करते हैं। कुछ स्वस्थ बालक ऐसे होते हैं कि जो स्वयं रोहिणी से पीड़ित न होकर रोहिणी पीड़ितों के या वाहकों के संपर्क में आने पर उसके वाहक बन जाते हैं। ये संपर्क वाहक कहलाते हैं। साधारणतया जिनके गले, टौन्सिल्स, नासा पश्चिम भाग खराब रहते हैं वे ही वाहकावस्था के लिये अधिक योग्य होते हैं।

चिकित्सा—रोहिणी विष के लिये बहुत शक्तिशाली प्रतिविष युक्त लसिका (पृष्ठ १२) उपलब्ध है जिसका उपयोग रोग की आशंका होते ही करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रायोगिक पद्धतियों द्वारा यद्यपि इसका निदान कर लेना अच्छा है फिर भी उसके निर्णय पर सर्वथैव निर्भर रहना अच्छा नहीं है, क्योंकि विलम्ब होने से प्रतिविष की काय

क्षमता कम होती है। अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि प्रथम दिन में लसिका प्रयोग करने से मृत्यु ३ प्र० श०, दूसरे दिन में ६ १ प्रतिशत तीसरे दिन में १० ६ प्र० श० चौथे दिन में ११ ९ प्र० श० और पाँचवें दिन में लसिका प्रयोग करने से १२ ८ प्र० श० होती है। इसका कारण यह है कि जब तक विष रक्त में परिभ्रमण करता रहता है या धातुसेलों के साथ अस्थायी रूप से मिला रहता है तब तक प्रतिविष का उसके ऊपर परिणाम होता है और जब विष स्थायी रूप से संयुक्त होता है तब उस पर कुछ भी परिणाम नहीं होता। लसिका प्रयोग सिरा द्वारा गंभीरावस्था में और पेशी द्वारा साधारण अवस्था में करें। मात्रा सौम्य रोग में ६ १२ हजार, मध्यम में १२ २४ हजार और तीव्र में २१ ३६ हजार युनिट होती है। लसिका कम मात्रा में देने में हानि है, अधिक मात्रा में देने में हानि नहीं। रोग और रोगी की स्थिति के अनुसार जितनी मात्रा उचित मालूम होती है उतनी एक बार या २४ घंटे में देना प्रशस्त है। यदि आवश्यक मालूम हो तो १२ घंटे के बाद फिर से लसिका का प्रयोग कर सकते हैं। लसिका के प्रयोग से रक्त में उपस्थित तथा धातुओं से अस्थायी रूप से मिला हुआ विष निर्विष होकर शरीर रक्षक दल उपसर्ग के स्थान में ये के साथ अच्छी तरह प्रतीकार कर सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गले की कला-मूर्ति उखड़कर यह सूजने और विमुक्त होने लगती है, गले का सूजन मुख की दुर्गन्ध कम होती है नासा स्राव कम होता है और रोगी की स्थिति में सुधार होने लगती है।

प्रतिषेध— शिककसौटी (पृष्ठ १७४) के द्वारा यदि किसी बालक में रोहिणी के लिये असमता मालूम हो जाय तो उसमें क्षमता उत्पन्न करने के लिये लसिका का उपयोग कर सकते हैं। साधारणतया ५०० १००० युनिट प्रयुक्त होते हैं। इसमें दोष यह है कि क्षमता केवल ३ सप्ताह तक ही टिकती है और आगे चलकर यदि रोग उत्पन्न हो जाय

तो उसकी चिकित्सा के लिये प्रयुक्त लसिका की कार्यक्षमता कम हो जाती है। इसलिये लसिका का प्रयोग प्रतिषेधार्थ बहुत कम किया जाता है। इसके पहले जब आवश्यकता होती है तब पार्क के विष प्रतिविष मिश्रण (Park's Toxinantitoxin) से या रमन के विषाभ (Ramon's Anatoxin) से शरीर में सक्रिय क्षमता उत्पन्न की जाती है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—रोहिणी एक ऐसा रोग है कि जिसका निदान मुख्यतया चिकित्सक की बुद्धि पर होना चाहिये, न कि प्रायोगिक पद्धतियों पर। इसका कारण यह है कि प्रायोगिक पद्धतियों से निदान करने में कुछ घंटों का विलंब होता है जो क्षमिका प्रयोग की दृष्टि से रोगी को घातक हो सकता है। फिर भी निम्न पद्धतियों के द्वारा उसका प्रत्यभिज्ञान और निदान करने की कोशिश करनी चाहिये। इन पद्धतियों से निदान निषेधार्थी होने पर भी लाक्षणिक निदान के अनुसार ही चिकित्सा जारी रखनी चाहिये।

परीक्ष्य द्रव्य का ग्रहण—प्रथम प्रश्न गले की कला का टुकड़ा होता है जो विशोधित चिमटी से या कपासशलाका (Swab-probe) से लिया जाता है। इसको लेने से पहले मुख में किसी भी जीवाणुनाशक घोल का उपयोग लगाने या कुल्ला करने के लिये न करना चाहिए। परीक्ष्य द्रव्य लेते समय रोगी का मुख सुप्रकाशित करके और चमच से जिह्वामूल दबाकर कला का टुकड़ा चिमटी से या रूई से लेकर मुख में इधर उधर न स्पर्श करके उसको विशोधित नलिका में रखकर प्रयोगशाला में रंजन या संवर्धन के काम में लाना चाहिये। निदान निम्न चार पद्धतियों द्वारा किया जाता है।

(१) रंजन—रूई से या चिमटी से लिए हुए टुकड़े या स्राव का पटरी पर प्रलेप करके उसको लोफ्लर के मेथिलिन ब्लू से या नाइसर के रंग से रंजित करना चाहिये। नाइसर का रंग—(१) टोलुइडिन

रक्यू १५ ग्राम, मालाचाइट ग्रीन २ ग्राम ग्लेसियल एसिटिक एसिड १ सी सी अबसोल्युट (९५ प्र० श०) २ सी० सी० और डि जल १०० सी सी । (२) ग्राम का आयोडिन (पृष्ठ १७) । प्रथम पटरी पर किये हुए प्रक्षेप को उष्णता से दृढ़ करके उस पर नं० १ का द्राव ३-५ मिनट तक रखना चाहिये । उसके पश्चात् पानी से धोकर और सोख्ते से सुखाकर उस पर ग्राम का आयोडिन १ मिनट तक रखना चाहिये। इसके पश्चात धोकर और सुखाकर सूक्ष्म दर्शकसे देखना चाहिए। इससे कण नीलापन लिए काले और शरीर का अन्य भाग हरा तथा अन्य जीवाणु इसके हरे दिखाई देते हैं ।

(२) संवर्धन—जब रंजन से जीवाणुओं की ठीक पहचान नहीं होती या कुछ सन्देह होता है तब संवर्धन का उपयोग किया जाता है । इसके लिए मास परीक्ष्य द्रव्य का रोपण लोफ्लर या डार्सेट के वर्धनक में करके उसको १२ घंटे तक उष्मपोषक में रखना चाहिये । उसके पश्चात् संघों का स्वरूप (पृष्ठ १६७) देखकर इसकी पहचान की जाती है । फिर भी संवर्धित वें को रंजन से देखना उचित है ।

ब्राहडी की पद्धति (Brahdy's method)—उपर्युक्त पद्धति में अधिक समय की आवश्यकता होती जो रोहिणी निदान की दृष्टि से अनिष्ट है । इस अनिष्टता को दूर करने की दृष्टि से इस पद्धति का आविष्कार किया गया है । इसके लिए विशोधित कपास सलाई, उसको रखने योग्य मोटी नलिका और घोड़े की शुद्ध लसिका की आवश्यकता होती है । प्रथम कपास को लसिका में भिगोकर और पश्चात् अधिक लसिका को शीशी के किनारे पर दबाने से निकाल कर दत्ती पर थोड़ी देर तक गरम किया जाता है । इससे कपास के पृष्ठ भाग की लसिका जम जाती है । फिर उस कपास सलाई से गले की उक्षा का अंश ग्रहण करके उसको रखने की नलिका में रखकर २ ४ घंटे तक उष्म पोषक में रक्खा जाता है । उसके बाद उस कपास से पटरी पर प्रक्षेप करके रंजन

के द्वारा देखा जाता है। यदि फिर भी संवर्धन की आवश्यकता प्राप्ति रोपण के लिये मालूम हो तो लोफ्लर के वर्धनक में उस कपास से रोपण कर सकते हैं।

(३) जीवनरासायनिक प्रतिक्रिया—पीछे पृष्ठ ९५ देखो।

(४) प्राप्तिरोपण—इसके लिये प्रथम संवर्धन की आवश्यकता होती है। संवर्धित द्रव रोपण के लिए प्रयुक्त होते (पृष्ठ ९५) हैं।

(५) ग्राहकों की पहचान—इसके लिये कपास सलाई से गले के जीवाणु लेकर उनकी वृद्धि की जाती है। लेने का काम ग्राहकी की पद्धति के अनुसार भी किया जा सकता है। वृद्धि करने पर प्राप्तिरोपण किया जाता है और उसी से पहचान की जाती है। इसके अतिरिक्त शिक की कसौटी के द्वारा भी पहचान होती है। यह कसौटी ग्राहकों में अप्रयक्त होती है और उसका तात्पर्य यह होता है कि गले के जीवाणु उन स्वस्थ के हैं।

शिक की कसौटी (Schick reaction)—यह देखा गया है कि यदि मनुष्य शरीर में १/३० युनिट रोहिणी प्रतिविष की मात्रा उपस्थित हो तो उससे शरीर में रोहिणी के लिए क्षमता आ जाती है और १/५० युनिट की मात्रा में यदि रोहिणी विष प्रविष्ट किया जाए तो वह निर्विष किया जाता है अर्थात् १/५० युनिट मात्रा को सुई लगाने पर सुई के स्थान में जरा सी भी प्रति क्रिया नहीं उत्पन्न होती। साधारण तथा इतनी प्रतिविष की मात्रा बालकों के शरीर में उपस्थित होने के कारण वे रोहिणी से पीड़ित नहीं होते, परन्तु जिनके शरीर में इसका अभाव होता है वे पीड़ित होते हैं या उनके पीड़ित होने की सम्भावना रहती है। शिक की कसौटी द्वारा शरीरगत प्रतिविष की उपस्थिति का पता लग जाता है। इसके लिये दो प्रकार के विष की आवश्यकता होती है। (१) कसौटी का विष जो प्रमाणभूत रोहिणी विष होता है। मात्रा २ सी. सी. जो १/५० युनिट के बराबर होती है। (२) नियन्त्रण

विष—प्रमाण भूत विष को ही ७० से, तापक्रम पर ५ मिनट तप्त करके यह बनाया जाता है।

विधि—एक तरफ के अग्रबाहु की सामनेवाली त्वचा में (अन्त-स्त्वक् Intradermal) रोहिणी विष की ·२ सी. सी. मात्रा प्रविष्ट की जाती है। दूसरे तरफ के अग्रबाहु की सामने वाली त्वचा में नियन्त्रण विष की उतनी ही मात्रा सुई के द्वारा प्रविष्ट की जाती है।

परिणाम (१) अव्यक्त प्रतिक्रिया (Negative)—इसमें दोनों तरफ कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं दिखाई देती। इसका तात्पर्य यह है कि परीक्ष्य व्यक्ति के शरीर में विष को निर्विष बनाने के लिये पर्याप्त प्रतिविष उपस्थित है, अर्थात् यह व्यक्ति रोहिणी के लिये क्षम है।

(२) व्यक्त प्रतिक्रिया (Positive)—इसमें सुई के स्थान में गुलाबी रंग और कुछ फूलन २४ ३६ घंटे में प्रारम्भ होकर चौथे दिन में यह प्रतिक्रिया पूर्ण होती है और ७ वें दिन तक यह कम हो जाती है और सुई के स्थान में छिलका बनता है जिसके निकल जाने पर कुछ सप्ताहों तक वहाँ पर भूरापन लिए वैवर्ण्य रहता है। नियन्त्रण विष के स्थान में कुछ भी नहीं होता। इस प्रतिक्रिया का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के शरीर में प्रतिविष की राशि पर्याप्त नहीं है और यह रोहिणी के लिये अक्षम या ग्रहणशील है।

(३) मिथ्या प्रतिक्रिया (Pseudo-reaction)—इसमें दोनों अग्रबाहुओं पर सुई के स्थान में ६-१२ घंटे के भीतर शीतपित्त के समान कठिनता और लाली दिखाई देने लगती है जो ३ दिन में मिट जाती है तथा उसके पश्चात् वहाँ पर वैवर्ण्य नहीं रहता। यह प्रतिक्रिया विष के कुछ दोष से उत्पन्न होती है। शरीरगत प्रतिविष के अभाव से नहीं। अर्थात् इससे परीक्ष्य व्यक्ति रोहिणी के लिये क्षम ही समझना चाहिए।

ये परिणाम चौथे और सातवें दिन देखे जाते हैं। मिथ्या प्रतिक्रिया

के द्वारा देखा जाता है। यदि फिर भी संवर्धन की आवश्यकता प्राप्ति रोपण के लिये मालूम हो तो लोफ्लर के वर्धनक में रुई कपास से रोपण कर सकते हैं।

(३) जीवनरासायनिक प्रतिक्रिया—पीछे पृष्ठ ९५ देखो।

(४) प्राप्तिरोपण—इसके लिये प्रथम संवर्धन की आवश्यकता होती है। संवर्धित ये रोपण के लिए प्रयुक्त होते (पृष्ठ ९५) हैं।

(५) वाहकों की पहचान—इसके लिये कपास सलाई से गले के जीवाणु लेकर उनकी वृद्धि की जाती है। लेने का काम वाहकों की पद्धति के अनुसार भी किया जा सकता है। वृद्धि करने पर प्राप्तिरोपण किया जाता है और उसी से पहचान की जाती है। इसके अतिरिक्त शिक की कसौटी के द्वारा भी पहचान होती है। यह कसौटी वाहकों में अव्यक्त होती है और उसका तात्पर्य यह होता है कि गले के जीवाणु कम सत्त्व के हैं।

शिक की कसौटी (Schick reaction)—यह देखा गया है कि यदि मनुष्य शरीर में $\frac{1}{30}$ युनिट रोहिणी प्रतिविष की मात्रा उपस्थित हो तो उससे शरीर में रोहिणी के लिए क्षमता आ जाती है और $\frac{1}{30}$ युनिट की मात्रा में यदि रोहिणी विष प्रविष्ट किया जाय तो वह निर्विष किया जाता है अर्थात् $\frac{1}{30}$ युनिट मात्रा को सुई लगाने पर सुई के स्थान में जरा सी भी प्रति क्रिया नहीं उत्पन्न होती। साधारण तया इतनी प्रतिविष की मात्रा बालकों के शरीर में उपस्थित होने के कारण वे रोहिणी से पीड़ित नहीं होते, परन्तु जिनके शरीर में इसका अभाव होता है वे पीड़ित होते हैं या उनके पीड़ित होने की सम्भावना रहती है। शिक की कसौटी द्वारा शरीरगत प्रतिविष की उपस्थिति का पता लग जाता है। इसके लिये दो प्रकार के विष की आवश्यकता होती है। (१) कसौटी का विष जो प्रमाणभूत रोहिणी विष होता है। मात्रा १ सी सी जो $\frac{1}{50}$ युनिट के बराबर होती है। (२) नियन्त्रण

विष—प्रमाण भूत विष को ही ७० सें. तापक्रम पर ५ मिनट तप्त करके यह बनाया जाता है।

विधि—एक तरफ के अग्रबाहु की सामनेवाली त्वचा में (अन्त-स्त्वक् Intradermic) रोहिणी विष की ½ सी. सी. मात्रा प्रविष्ट की जाती है। दूसरे तरफ के अग्रबाहु की सामने वाली त्वचा में नियंत्रण विष की उतनी ही मात्रा सुई के द्वारा प्रविष्ट की जाती है।

परिणाम (१) अव्यक्त प्रतिक्रिया (Negative)—इसमें दोनों तरफ कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं दिखाई देती। इसका तात्पर्य यह है कि परीक्ष्य व्यक्ति के शरीर में विष को निर्विष बनाने के लिये पर्याप्त प्रतिविष उपस्थित है, अर्थात् यह व्यक्ति रोहिणी के लिये क्षम है।

(२) व्यक्त प्रतिक्रिया (Positive)—इसमें सुई के स्थान में गुलाबी रंग और कुछ सूजन २४ ३६ घंटे में प्रारम्भ होकर चौथे दिन में यह प्रतिक्रिया पूर्ण होती है और ७ वें दिन तक यह कम हो जाती है और सुई के स्थान में छिलका बनता है जिसके निकल जाने पर कुछ सप्ताहों तक वहाँ पर भुरापन लिए वैवर्ण्य रहता है। नियन्त्रण विष के स्थान में कुछ भी नहीं होता। इस प्रतिक्रिया का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के शरीर में प्रतिविष की राशि पर्याप्त नहीं है और यह रोहिणी के लिये अक्षम या ग्रहणशील है।

(३) मिथ्या प्रतिक्रिया (Pseudo-reaction)—इसमें दोनों अग्रबाहुओं पर सुई के स्थान में ६ १२ घंटे के भीतर शीतपित्त के समान कठिनता और लाली दिखाई देने लगती है जो ४ दिन में मिट जाती है तथा उसके पश्चात् वहाँ पर वैवर्ण्य नहीं रहता। यह प्रतिक्रिया विष के कुछ दोष से उत्पन्न होती है। शरीरगत प्रतिविष के अभाव से नहीं। अर्थात् इससे परीक्ष्य व्यक्ति रोहिणी के लिये क्षम ही समझना चाहिए।

ये परिणाम चौथे और सातवें दिन देखे जाते हैं। मिथ्या प्रतिक्रिया

चौथे दिन समाप्त हो जाती है और वास्तविक प्रतिक्रिया सातवें दिन तक रहती है।

कसौटी के अर्थ—(१) व्यक्त प्रतिक्रिया व्यक्तिगत प्रतिविष के के अभाव की अर्थात् रोहिणी के लिये ग्रहणशीलता की निदर्शक होती है। अतएव ऐसे व्यक्ति में टीका द्वारा क्षमता उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है।

(२) अव्यक्त प्रतिक्रिया क्षमता की सूचक होती है। अतएव ऐसे व्यक्ति में टीका की आवश्यकता नहीं होती।

(३) दै० रोहिणी दै० के वाहकों में प्रतिक्रिया अव्यक्त और रोहिणी पीड़ितों में व्यक्त होती है। अतएव रोहिणी पीड़ितों और रोहिणी वाहकों में इसके द्वारा पार्थक्य हो जाता है। अनुम रोहिणीवाहकों में यह प्रतिक्रिया व्यक्त होती है।

रोहिणी भिन्न या रोहिणी सदृश जीवाणु (Diphtheroids)

रोहिणी दै० से कुछ सादृश्य होने के कारण ये रोहिणीभिन्न कहलाते हैं। वास्तव में अनेक विध (Heterogeneous) जीवाणुओं का यह वर्ग है जो आपस में शरीर संवर्धनादि बातों में कुछ दिखावटी साम्यता रखता है। ये ग्रामग्राही, गतिहीन और स्पोर रहित हैं। ये पूयपूर्वजीवी हैं जो अविकारी सहवासी के तौर पर मनुष्यों तथा प्राणियों के नेत्रकला में, मूत्रप्रसवन मार्गों में, त्वचापर और व्रणों में पाये जाते हैं। यद्यपि ये अनेक रोगों में मिलते हैं, फिर भी इन रोगों के साथ इनका कारणिक संबंध नहीं होता। रोहिणी दै० से इनका पार्थक्य अभिर्पग कसौटी से (पृष्ठ ९५) और निमयिन में वविस्मारिता से किया जाता है।

दै० हाफमनाइ (C. Hofmanni)—मनुष्यों के नासा, गला, नासापश्चिम भाग में यह सहवासी के तौर पर अनेक बार मिलता है। इसके अतिरिक्त रोहिणी, स्कार्लेट ज्वर और अन्यायमना आदि रोगों में अन्य जीवाणुओं के साथ रहता है। रोहिणी दै० से यह कुछ छोटा

Pseudo diphtheria

(१ म्यू) और मोटा होता है। इसके बीच में एक छोटा सा भाग अर्रंजित रहता है जिसके कारण यह युग्मकोकाय के समान दिखाई देता है। यह विशेष ग्रामग्राही है। इसमें किसी प्रकार के कण नहीं दिखाई देते। यह पूर्ण वातपी है। सामान्य वर्धनकों में प्रचुरवृद्धि होती है। इससे न कोई विष बनता है न कोई विकार उत्पन्न होता है।

ए० जेरोसिस (C Xerosis)—नेत्र में पाया जाता है। रोहिणी यै से बहुत साम्यता रखता है, केवल अभिपग कसौटी द्वारा उससे इसकी भिन्नता (पृष्ठ ९५) हो सकती है। पक्ष्मिका (Follicular) नेत्राभिष्यन्द और शुष्क अक्षिपाक (Xerosis) इन रोगों में यह मिलता है, परन्तु उससे इसका कारणिक कुछ भी संबंध नहीं होता।

यै० एकन—(C Acnes)—यह होफमन यै के समान है। यह मुखदूषिका या यौवन पीडिका (Acne vulgaris, Comedo) में हमेशा मिलता है और उसका कारण माना जाता है, परन्तु वास्तव में उसका कारण नहीं। इसके साथ स्टाफिलोकोकाय हमेशा रहते हैं। इसमें वैक्सीन बहुत काम करता है। यह वैक्सीन एकन यै और स्टाफिलोकोकाय से बनाया जाता है। जहाँ तक हो सके स्वजनित वैक्सीन का उपयोग करना चाहिये।

यै० फ्यूजीफार्मिस (B Fusiformis)—यह यै १ १२ म्यू लंबा बीच में मोटा किंचित् वक्र दोनों ओर नोकीला होता है। रंजन करने पर इसका बीच का भाग कुछ फीका रहता है। यह ग्राम त्यागी है। इससे गले में शोथ, व्रण या कूटकला (Psevdo-membrane) उत्पन्न होती है। विन्सेंट के कंठायना (Vincent's Angina) में स्पैरोकीटा विन्सेंटी नामक चक्राणु के साथ यह मिलता है। रोहिणी में भी यह क्वचित् रोहिणी यै के साथ मिलता है।

ग्रामत्यागी बैसीलाय

रक्तसेवी वर्ग (Haemophilus)

इस वर्ग के जीवाणुओं की खेती करने के लिये वर्धनक में रक्त की आवश्यकता होती है। बिना रक्त सेवन किये ये बढ़ नहीं सकते, अत: रक्तसेवी कहलाते हैं। इनमें से, एन्फ्लुएन्ज़ा और कोक्सीक्स ये, की वृद्धि के लिये विशिष्ट घटकों की (पृष्ठ १०९ देखो) आवश्यकता होती है औरों के लिये इस प्रकार की विशिष्टता नहीं होती। साधारण रक्तकसिका इत्यादि से काम चल जाता है।

बै० एन्फ्लुएन्ज़ा (H. Influenzae)

वास स्थान—स्वस्थ मनुष्यों में श्वसन संस्थान के ऊपरी हिस्से में सहवासी के तौर पर (पृष्ठ ९) और एन्फ्लुएन्ज़ा पीड़ितों के गले और नासा में तथा नासास्राव और थूक में होता है।

शरीर और रंजन— यह अत्यन्त छोटा जीवाणु है (पृष्ठ ४)। यह अकेला दुकेला या गुच्छे में मिलता है, नासा में प्राय: नहीं मिलता। इसके सिरे गोल होते हैं और जब वो मिलते हैं तब लम्बाई में सटे रहते हैं। संवर्धित जीवाणुओं में बहुरूपता (Pleomorphism) अधिक दिखाई देती है। यह स्पोररहित कोषहीन और निश्चल है।

साधारण रंगों से यह जल्दी रंजित नहीं होता। इसके लिये सर्वोत्तम रंग दसगुना पतला किया हुआ कार्बोल फुक्सीन (पृष्ठ १९) है। इसको ७-१० मिनिट तक पट्टी पर रखना चाहिये। यह ग्रामत्यागी है। ग्राम की विधि में विरोधी रंजन के लिये अन्य रंगों की अपेक्षा उपयुक्त पतला कार्बोल फ्युक्सीन का ही उपयोग करना चाहिये।

सवर्धन और जीवन व्यापार—यह पूर्ण वायवी है। पोषक तापक्रम ३७° सें है। २५ सें से नीचे इसकी वृद्धि रुक जाती है।

साधारण वर्धनकों में इसकी वृद्धि नहीं होती। इसकी वृद्धि के लिये दो अपृथक चीजों की आवश्यकता होती है। पहले को एक्स (X) घटक कहते हैं। यह उष्णसाही है और वातावरण की प्राणवायु को जीवाणुओं के पास पहुँचाने का कार्य करता है। यह घटक एक प्रकार से योगवाही (Catalytic) होता है। अर्थात् इसकी अत्यल्प मात्रा भी पर्याप्त होती है। इसकी आवश्यकता इसलिये होती है कि ये इन्फ्लुएन्ज़ा स्वयं वातावरण से प्राणवायु ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। दूसरे को वी घटक (V factor) कहते हैं। यह अनुष्णसाही है। यह घटक जीव द्रव्य (Vitamine) के स्वरूप का होता है। इसका कार्य ठीक तौर पर मालूम नहीं है। ये दोनों घटक रक्त में उपस्थित होने के कारण इसकी वृद्धि करने के लिये रक्त की आवश्यकता होती है। दूसरा घटक रक्त के अतिरिक्त प्राणियों या वनस्पतियों की सभी धातुओं में भी उपस्थित रहता है। इसके अतिरिक्त विकारकारिता की वृद्धि में विशेष महत्व की बात तो यह है कि स्टाफिलो, स्ट्रेप्टो इत्यादि जीवाणु जो इसके साथ हमेशा रहते हैं, दूसरे घटक को उत्पन्न करते हैं अतएव इसकी वृद्धि में (पृष्ठ २९) सहायता करते हैं।

इसके लिये उत्तम वर्धनक चाकोलेट अगर (पृष्ठ ५७) है। उस पर २४-४८ घंटे में बहुत छोटे छोटे, पारदर्शक, ओस की बूँदों के समान अलग अलग संघ बन जाते हैं।

जीवन क्षमता और प्रतीकार—यह बहुत ही सुकुमार ये है। उष्णता, शुष्की भवन और जीवाणुनाशक पदार्थों के कार्य को यह जरा सा भी नहीं सह सकता। शरीर के बाहर यह अधिक काल तक रह नहीं सकता। सूर्यप्रकाश में १-२ घंटे में और शुष्क के सुखने पर १-२ घंटे में मर जाता है। ६० सें. के तापक्रम पर यह ५ मिनिट में और १ प्र. श. कार्बोलिक के घोल में तुरत मर जाता है। संवर्धित जीवाणु अधिक काल तक नहीं रह सकते। ४-५ रोज के बाद उनकी उपवृद्धि (Subculture) करनी पड़ती है।

विषोत्पत्ति—इसके संबंध में ठीक ज्ञान नहीं है। इसके प्रक
में रक्तद्रावण का गुण होता है।

विकारकारिता—इससे मुख्यतया एन्फ्लुएञ्जा और इसके उपद्र
के तौर पर न्युमोनिया, मस्तिष्कावरणशोथ हृदन्तःशोथ इत्या
विकार उत्पन्न होते हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में यह रो
नहीं होता। यद्यपि यह एन्फ्लुएञ्जा का कारणभूत माना गया है फि
भी इसके सम्बन्ध में निश्चित मत अभी तक नहीं बन सका। साधारण
तया एन्फ्लुएञ्जा निम्न प्रकार से उत्पन्न होता है ऐसी शास्त्रज्ञों की रा
है। प्रथम अतिसूक्ष्म जीवाणु या विषाणु से श्वसन संस्थान के ऊपर
हिस्से में शोथ उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् उस पर ये एन्फ्लुएञ्
स्थापित होकर रोग को बढ़ाते हैं। अन्त में स्ट्रेप्टो, स्टाफिलो, न्युमो-
कोकाय उसके साथ मिलकर रोग की तीव्रता को बढ़ाते हैं। संक्षेप में
इस रोग का प्रगल्भ स्वरूप तीनों की सहायता से होता है। केवल ये
एन्फ्लुएञ्जा इसका कारणिक जीवाणु नहीं है इसके सम्बन्ध में मतभेद
नहीं है। प्रारम्भिक जीवाणु कौन है इसके सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ
लोगों के मत से प्रारम्भिक जीवाणु डायलेस्टर न्युमोसिंटिस (Dialister
pneumosintes) (पृष्ठ १८२) होता है। इसका कारण यह है कि
यह जीवाणु रोग की प्रारम्भिक अवस्था में नासा और नासापश्चिम भाग
में मिलता है।

रोग का प्रसार बिन्दुक्षेपों द्वारा मुख्यतया होता (पृष्ठ ८१) है। इसके
अतिरिक्त मुख नासास्राव से दूषित पदार्थों द्वारा भी रोग फैल सकता है।

चिकित्सा—इसके लिए कोई लसिका या वैक्सीन नहीं है।
प्रतिषेध के लिए स्ट्रेप्टो, बै० एन्फ्लुएञ्जा, न्युमोकोकाय, मै० क्याटारिलस
इनका मिश्र वैक्सीन प्रयुक्त होता है जिससे कुछ लाभ होता है। स्ट्रेप्टो-
कोकाय के कारण प्रायः रोग की गंभीरता (पृष्ठ १०९) बढ़ती है, इसलिए
गंभीर रोग में स्ट्रेप्टोकोकाय लसिका का प्रयोग लाभप्रद हो सकता है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—इसमें लाक्षणिक निदान ही (पृष्ठ८९) महत्त्व का है। मूत्र में यै० पुम्स्तुपक्षा का मिलना निदान में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त श्वेतकणापकर्ष (Leucopenia) भी कुछ सूचक होता है।

Kockweeks Bacilli

कॉकवीक्स वैसीलस (H Conjunctivitidis)

यह जीवाणु शारीर, रञ्जन और संवर्धन में यै० पुम्स्तुपक्षा से इतनी मान्यता रखता है कि केवल इन बातों से इसका पार्थक्य करना असम्भव है। इससे नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis) उत्पन्न होता है, इसलिए मनुष्य नेत्र में इसका रोपण करने से यै० पुम्स्तुपक्षा से इसका पार्थक्य होता है।

नेत्रस्राव का पट्टी पर प्रलेप कर ग्रामरञ्जन करने पर इसकी पहचान होती है। यह ग्रामत्यागी है और श्वेतकणों के भीतर प्रायः गुच्छे में मिलता है।

Moren Axenfeld Diplo Bacil

मोरे एक्सनफेल्ड यै० (H Lacunatus)

यह २ म्यू लंबा मोटा दै है जो प्रायः दो दो के समूह में (Diplo-bacillus) या क्वचित् एक एक माला के रूप में मिलता है। यह ग्रामत्यागी है। इसके संवर्धन के लिए रक्त, लसिका या कोई प्राणिज प्रोटीन की आवश्यकता होती है। लोफ्लर के लसिकावर्धनक में वृद्धि करने पर उसमें संघ स्थान में गड्ढे बनते हैं। इसलिए इसको ल्याकुम्याटिस (क्याकुना गड्ढा) नाम दिया गया है। इससे मनुष्यों में अपांगाभिष्यन्द (Angular conjunctivitis) नामक नेत्र रोग उत्पन्न होता है। नेत्रस्राव की परीक्षा ग्रामरञ्जन से करने पर इसमें ग्रामत्यागी युग्मवैसीलाय का मिलना निदान के लिए पर्याप्त होता है।

ड्यूक्रे वैसीलस (H Ducreyii)

यह यै० डेढ़ म्यू लंबा और आधा म्यू चौड़ा होता है जो दो

दो या मात्रा में दिखाई देता है। यह निश्चल और स्पोररहित है। ग्रामत्यागी है। इसमें कभी कभी भीतरंजन दिखाई देता है। सामान्य वर्धनकों में इसकी वृद्धि नहीं हो सकती। इसके लिए जमे हुए और ७५ सें० तक गरम किए हुए खरगोश के रक्त की आवश्यकता होती है।

मनुष्येतर प्राणियों में इससे कोई विकार नहीं उत्पन्न होता है। मनुष्यों में इससे उपदंश (Soft chancre) नामक रोग होता है जो मैथुन से दूसरे पर संक्रमित होता है। इसके स्राव में दूषित धातुओं में और उसके पक्ष (Bubo) में यह उपस्थित रहता है।

इसकी चिकित्सा में वैक्सीन और सीरम का बहुत उपयोग होता है। सीरम भेड़ों में जीवाणुओं का प्रवेश करके बनाया जाता है। साधारणतया १० सी सी की मात्रा में पेशी में चार चार दिन के बाद तीन चार इन्जेक्शन देने से बहुत फायदा होता है।

बै० की पहचान ग्राम के रंजन से या संवर्धन करने के पश्चात् रंजन से की जाती है। शशक के जमे हुए रक्त को ७५ स० गरम के पश्चात् जो कलिका स्वतन्त्र होती है उसमें उपदंश के स्थान से द्रव्य लेकर यह रोपित किया जाता है। २४ घंटे उत्ताप पोषण करने के पश्चात् उस कलिका से पटरी पर प्रक्षेप करके ग्रामरंजन से देखा जाता है। यदि ग्रामत्यागी मालाकार बै० मिल जायँ तो उपदंश समझना चाहिये।

बैसीलस पर्ट्युसिस (*B. Pertussis*)

वास-स्थान—कुकुर खाँसी से पीड़ित रोगियों के मुख में विशेष करके प्रारंभिक प्रसेकावस्था में (Catarrhal stage) उपस्थित रहता है।

शरीर और रंजन—यह बै० पुष्पतृषा के समान परन्तु उससे कुछ बड़ा अण्डाकारी जीवाणु है। यह गतिहीन, स्पोररहित और कोष हीन होता है। यह ग्रामत्यागी है और इसमें भीतरंजन दिखाई देता है। इसके लिये फेनाल टोलूडिन रंग (टोलूडीन ब्लू ५ ग्राम, अल्को

होम १०० सी सी पानी ५१० सी सी इनका घोल बनाकर उसमें ५ म श कार्बोलिक घोल के ५०० सी सी मिलाकर और दो रोज रखकर पश्चात् फिल्टर करके रस देना बहुत अच्छा है।

संवर्धन—यह वातपी है। पोषक तापक्रम १७ सें है। परन्तु अत्यन्त कम तापक्रम पर भी (० १०° सें) यह जीवनक्षम रह सकता है। संवर्धन के लिये उत्तम वर्धनक बोर्डेगोंगु (पृष्ठ ५०) का है। उसपर ४८ घंटे के उष्ण पोषण के पश्चात् माप्र, उभरे हुए, अपारदर्शक मुक्ताभ (Pearly) संघ उत्पन्न होते हैं और उनके चारों ओर रक्तद्रव का वलय (Zone of haemolysis) रहता है। ये एम्फ्लुएन्ज़ा के समान इसको पूरस और वाय घटकों की आवश्यकता (पृष्ठ १०९) नहीं होती।

विकारकारिता—इससे कुकुरखाँसी नामक रोग उत्पन्न होता है। यह रोग मनुष्येतर प्राणियों में नहीं पाया जाता। यह बाल्यावस्था का रोग है जो बिंदुक्षेपों द्वारा स्वस्थ व्यक्तियों पर संक्रान्त होता है।

चिकित्सा—कुकुरखाँसी-चिकित्सा तथा प्रतिषेधन के लिये वैक्सीन से लाभ होता है। इसमें ये पटुसिस के अतिरिक्त ये एम्फ्लुएन्ज़ा भी मिलाया जाता है। वैक्सीन के अतिरिक्त रोगनिवृत्त की लसिका भी १ सी सी की मात्रा में प्रतिरूपण में लाकर प्रमाणित हुई है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—रोग की प्रारम्भिक अवस्था में केवल रंजन के द्वारा पहचान और निदान करना कठिन होता है। संवर्धनयुक्त रंजन से ही निदान हो सकता है। उसकी विधि यह है कि बोर्डेगोंगुवर्धन की स्थाली (Plate) खाँसते समय रोगी के मुख के सामने ४ ६ इंच दूरी पर १५ सेकण्ड तक पकड़कर उसके पश्चात् १०° सें. पर उसको दो रोज तक उष्णपोषित करना चाहिये। इससे उस वर्धनक के ऊपर जो संघ उत्पन्न होते हैं उनको उठाकर पटरी पर प्रक्षेप करके सूक्ष्मदर्शन से देखना चाहिये। विरोधी रंग के लिये पतला कार्बोल फुक्सीन प्रयोग में लाना चाहिये।

बै० एन्फ्लुएन्ज़ा से पार्थक्य—कम तापक्रम पर (पृष्ठ १८१) जीवन क्षम रहने के सामर्थ्य से और चाकोलेट आगरपर वृद्धि करने के असामर्थ्य से इसका पार्थक्य बै० एन्फ्लुएन्ज़ा से हो जाता है।

न्यूमोबैसीलस (B Pneumoniae)

श्वसन संस्थान के ऊपरी हिस्से का यह सहवासी है। इसकी मोटाई में बहुत अंतर पाया जाता है। कुछ एक म्यू लंबे होते हैं और कुछ ५ म्यू तक लंबे होते हैं। छोटे बै० कोकाय के समान दिखाई देते हैं। इसके दोनों सिरे गोल होते हैं। यह प्रायः दो दो, क्वचित् एक एक या माला में दिखाई देता है। यह निश्चल और स्पोररहित है परन्तु इसके ऊपर मोटा कोष होता है जो मनुष्यों के शरीर से प्राप्त व्यक्तियों पर रहता है। यह ग्रामत्यागी है। संवर्धन और जीवन रासायनिक प्रतिक्रियाओं में यह बै० कोलाय वर्ग से बहुत मिलता जुलता रहता है। न्यूमोकोकाय के समान इसके भी चार प्रकार (पृष्ठ ११६) किये गये हैं और उसके समान प्रकारविशेषता कोष के द्रव्य के ऊपर निर्भर होती है। यह प्रायः अविकारी स्वरूप का जीवाणु है, परन्तु कभी कभी इससे न्यूमोनिया (न प्र श) हो जाता है जो प्रायः असाध्य स्वरूप का होता है। इसके अतिरिक्त ब्राङ्कोन्यूमोनिया, फुफ्फुसावरण शोथ खाँसी इत्यादि श्वसन-संस्थान के रोगों में तथा पूयजनक तृणाणु (पृष्ठ १०१) होने के कारण पूयोरस (Empyema), आन्त्र पुच्छशोथ तथा अन्य पूययुक्त विकारों में भी उपस्थित रहता है।

डायलेस्टेरियम न्यूमोसिंटस (Dialister pneumosintes)

यह तृणाणु बहुत ही छोटा है। इसकी लंबाई १५ म्यू से १ म्यू तक होती है। अर्थात् इनमें जो बहुत छोटे होते हैं वे निस्यन्दक में से बाहर चले जाते हैं। कृत्रिम तौर पर अधिक काल वृद्धि करने से इसकी लंबाई १ म्यू तक हो जाती है। यह प्रायः अकेला ही मिलता है, परन्तु

क्वचित् दो दो या ३ ४ की माला में मिलता है। यह जीवाणु लाल से भी अधिक पुराने लोफ्लर के मेथिलेन ब्ल्यू से (Polychrome methylene blue) अच्छी भाँति रंजित होता है। यह आग्रही वातमी है। अत इसकी वृद्धि सियलोयुषी के पथमक में (पृष्ठ ६७) करना चाहिये।

यह जीवाणु स्वस्थ मनुष्यों के गले में तथा श्वसन-संस्थान के विकारों में पाया जाता है। परन्तु इसका विशेष महत्त्व एन्फ्लुएञ्जा की उत्पत्ति (पृष्ठ १८०) के सम्बन्ध में है।

बेसीलस मालाई (Pfeifferella mallei)

यह जीवाणु सरल या किञ्चित् टेढ़ा होता है। इसकी लंबाई २-५ म्यू और चौड़ाई ·४ म्यू होती है। इससे छोटे या लंबे जीवाणु भी मिलते हैं। कभी कभी मुद्गर के समान फूले हुए या शाखायुक्त जीवाणु भी मिलते हैं।

यह प्रायः अकेला या दुकेला रहता है। यह निश्चल और स्पोर-रहित है। यह साधारण रंगों से रंजित होता है। ग्रामत्यागी है। पूय में या धातुओं में मिलनेवाले जीवाणु रंजित करने पर बै० रोहिणी के समान दानेदार दिखाई देते हैं।

यह वातपी और सामान्य वातमी है। पोषक तापक्रम ३७° सें है। सामान्य पथमकों में बढ़ता है परन्तु उसमें थोड़ा ग्लिसरीन (५ प्र श) या ग्लूकोज मिलाने से वृद्धि अधिक प्रचुरता से होती है। यह बहुत प्रतिकारक जीवाणु नहीं है। सुखाने से एक दो दिन में, सूर्यप्रकाश में एक दिन में, ६० सें तापक्रम पर १० मिनिट में, १ प्र श० पो, परमेंगेनेट में ५ मिनिट में मर जाता है। परन्तु यह पानी में १ १ महीनों तक जीवनक्षम रहता है और इसी के कारण पानी से इसके रोग का प्रसार हो सकता है।

इससे केवल अन्तर्विष बनता है जिसको मालीन (Mallein) कहते हैं। यह ट्युबरक्युलीन (पृष्ठ १६६) से अनेक बातों में साम्यता रखता है। ट्युबरक्युलीन कसौटी के समान मालीन कसौटी शरीरगत ग्रहणशीलता मालूम करने के लिये प्रयुक्त होती है। फर्क इतना ही है कि इसका उपयोग मनुष्यों के लिये नहीं पशुओं में कनार रोग (Glanders) के लिये ग्रहणशीलता मालूम करने के लिये किया जाता है।

इससे घोड़ा, खच्चर और गधा इनमें कनार नामक रोग होता है। शरीर में जीवाणुओं का प्रवेश दूषित जल या घास द्वारा या त्वचा और श्लेष्म त्वचा के क्षतों द्वारा होता है। इसमें श्वसन-मार्ग के ऊपरी हिस्से गाँठें बनकर उनके फूटने से जीवाणुस्राव निकलता है।

मनुष्यों में यह रोग क्वचित होता है और वह भी साईस, अश्व पाल, घोड़ा गाड़ी चलानेवाले इनमें दिखाई देता है। उपसर्ग प्रायः त्वचा के व्रणों में जानवरों के दूषित स्राव प्रविष्ट होने से होता है। मनुष्यों में यह रोग तीव्र रूप धारण करता है और त्वचा, पेशी, जोड़, यकृत, प्लीहा, फुफ्फुस इत्यादि अंगों में विद्रधियाँ उत्पन्न होकर पूयमयता के लक्षण दिखाई देते हैं। रोग का प्रारंभ प्रायः हाथ में गाँठ की उत्पत्ति से होता है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—मनुष्यों में इसके लिये रंजन, संवर्धन और प्राणिरोपण का उपयोग किया जाता है। व्रण या फोड़े के स्राव से पट्टी पर प्रलेप करके मैथिलेन ब्ल्यू और ग्राम से रंजन करें और सूक्ष्मदर्शक से देखें। दानेदार ग्रामत्यागी बै० का मिलना इसका सूचक होता है। पुराने रोग में बै० का मिलना मुश्किल हो जाता है। संवर्धन के लिये आलू उत्तम माध्यम है। उसपर स्राव को रोपित करने पर तीन रोज तक उसको उष्मापोषित करें। इससे आलू पर अंबर के समान पीले वर्ण के (Amber-yellow) संघ दिखाई देते हैं जो आठवें दिन चाकोलेट के समान भूरे हो जाते हैं। अब इनके

साथ दूसरे जीवाणु उपस्थित रहते हैं तब संवर्धन करने पर भी अपयुक्त फल नहीं मिलता। मनुष्यों में बुखार का संशय उत्पन्न होने पर निदान करने की दृष्टि से प्राणिरोपण की पद्धति बहुत उपयोगी है। इसमें संशयित मज्जा के स्राव का या मोतरी धातु का इमल्शन बनाकर उसका ½–१ सी, सी पुरुष गिनीपिग में (पृष्ठ ९७) प्रविष्ट किया जाता है। इसको स्ट्रास (Straus) की प्रतिक्रिया कहते हैं। घोड़ों में प्रत्य मिज्ञान और निदान के लिये विडाल कसौटी के समान पुंजीकरण कसौटी, पूरक संयम कसौटी (पृष्ठ ९२) और ट्यूबरक्युलिन कसौटी के समान मालीन कसौटी का उपयोग किया जाता है। मा कसौटी में १ सी सी मालीन ग्रीवा की त्वचा के नीचे प्रविष्ट किया जाता है जिससे स्थानिक, विकृतिस्थानिक और सार्वदैहिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। किंवा उसके ३ बूँद घोड़े की आँख में प्रविष्ट किये जाते हैं जिससे ५ ६ घंटे में आँख फूलने लगती है और पूयस्राव शुरू होता है।

६० मेलीटेन्सिस (Brvcella Melitensis)

यह पूर्ण परोपजीवी जीवाणु है। इसलिये स्वस्थ मनुष्यों में कदापि भी नहीं मिलता, माल्टा से पीड़ित मनुष्यों के रक्त में, प्लीहादि भीतरी अंगों में और क्वचित् मूत्र में (१० प्र० श०) मिलता है। इसका मुख्य स्थान उपसृष्ट बकरियाँ और भेड़ियाँ होती हैं और इनके दूध में भी यह उपस्थित रहता है। यह बहुत ही छोटा गोलाकारी सा है। इसकी मोटाई, ४ म्यू होती है। यह अकेला दुकेला या माला के रूप में दिखाई देता है। यह निश्चल, स्पोरहीन और ग्रामत्यागी है। यह वातपी है। साधारण वर्धनकों में आसानी से परन्तु मंदगति से संवर्धित होता है। किंचित् क्षारीय प्रतिक्रिया और लसिका की उपस्थिति वृद्धि-पोषक होती है। यह जीवाणु बहुत प्रतिकारक है। सूखने का या शीत का असर उसपर नहीं होता। पानी और दूध में यह बहुत काल तक

इन्जेक्शन दिया जाता है। यदि रोगी मास्टा ज्वर से पीड़ित हो तो सुई के स्थान में ६ ८ घंटे की अवधि में लाली और सूजन उत्पन्न होती है।

बै प्यारा मेलिटेन्सिस (B Paramelitensis)

यह बै सब बातों में बै मेलिटेन्सिस के समान होता है और इससे भी मास्टा ज्वर के समान ज्वर उत्पन्न होता है। दोनों में पार्थक्य केवल समलसिका की सहायता से पुञ्जीकरण पद्धति के द्वारा ही किया जा सकता है।

बै एबोर्टस (B Abortus)

यह य बै मेलिटेन्सिस के साथ शरीर-रचना और जीवनव्यापार में मिलता जुलता है। इसके दो प्रकार हैं—एक गव्य (Bovine) और दूसरा सूकरीय (Porcine), जिसमें सूकरीय प्रकार गव्य की अपेक्षा बै मेलिटेन्सिस के साथ अधिक साम्यता रखता है। गव्य प्रकार को वृद्धि के लिये प्राणवायु की कमी और कार्बन डायोक्साइड की उपस्थिति (१० प्र श) आवश्यक होती है, जो सूकरीय के लिये आवश्यक नहीं होती। बेसिक फ्युक्सीन (१:२५०००) सूकरीय प्रकार की और थायोनिन (१ १००००) गव्य प्रकार की वृद्धि रोकते हैं, परन्तु बै मेलिटेन्सिस दोनों की उपस्थिति में भली भाँति वृद्धि कर सकते हैं, बै एबोर्टस (सूकरीय अधिक प्रमाण में और गव्य कम प्रमाण में) संवर्धन द्रव्य में हैड्रोजन सल्फाइड (H2s) उत्पन्न करता है, बै मेलिटेन्सिस नहीं उत्पन्न करता।

यह बै जानवरों में गर्भपात उत्पन्न करता है। जो प्राणि इससे उपसृष्ट रहते हैं उनके दूध में यह उपस्थित रहता है और उसके साथ मनुष्यों पर संक्रान्त होकर उनमें मास्टा ज्वर उत्पन्न करता है। दूध के अतिरिक्त गौ, बैल सूअर इत्यादि उपसृष्ट जानवरों के संसर्ग से भी इसका मनुष्यों पर आक्रमण हो सकता है। रोग का निदान पुञ्जीकरण कसौटी के द्वारा कर सकते हैं। ऊपर मास्टा ज्वर निदान देखो।

पै पेस्टिस (Pasteurella pestis)

वासस्थान—यह पूर्ण परोपजीवी जीवाणु है अतः प्लेग-पीड़ित चूहों के और मनुष्यों के रक्त में, लसिकाग्रन्थियों में और फुफ्फुस प्लेग पीड़ितों के थूक में यह उपस्थित रहता है।

शरीर और रंजन—यह छोटा दण्डाकारी है (Cocco-bacillary) है जिसकी लम्बाई १·५ म्यू और चौड़ाई ½ म्यू होती है। प्रायः अकेला, क्वचित् दुकेला मिलता है। तरल वर्धनकों में इसकी माला दिखाई देती है। अपचयाकार (पृष्ठ १२) इसकी विशेषता है जो पुराने वर्धनकों में या घावों में दिखाई देते हैं। इस अवस्था में ये सूत्र्या गुच्छों की अपेक्षा किण्वाणु (yeast) के समान दिखाई देते हैं। पोषक अगार में ३·५ प्र० श० लवण डालने से अपचयाकार की प्रचुर वृद्धि होती है। प्राणियों के शरीर में प्राप्त जीवाणुओं के ऊपर कई बार कोष दिखाई देता है। यह निश्चल और स्पोरहीन होता है।

साधारण रंगों से यह आसानी से रंजित होता है। पतला कार्बोल फुक्सीन (१७ पृष्ठ) लीशमन, जीम्सा या मेथिलेन-ब्ल्यू इसके लिये हमेशा प्रयुक्त करते हैं। इससे इसका ध्रुवरंजन (पृष्ठ १०) ठीक ठीक दिखाई देता है। यह ग्राम त्यागी है। पटरी के प्रलेप पर आधे प्र० श० एसेटिक एसिड का घोल आधा मिनिट डाला जाता है। इसके बाद एबसोल्यूट अल्कोहोल उस पर डालकर उसको पत्ती पर गरम करके सुखाया जाता है। इसके बाद मे० ब्ल्यू या का० फुक्सीन से रंजित किया जाता है। इस पद्धति से ध्रुवरंजन बहुत स्पष्ट दिखाई देता है।

जीवन व्यापार और संवर्धन—यद्यपि यह वातपी है, तथापि प्रचुरवृद्धि के लिये प्राणवायु की अनुपस्थिति या अल्पता पोषक होती है। मनुष्य शरीर के तापक्रम पर यद्यपि इसकी वृद्धि हो सकती है-फिर भी पोषक तापक्रम ३०° सें० है और इससे भी कम तापक्रम पर (१४ से० तक) यह वर्धित होता है।

किंचित क्षारीय या प्रतिक्रियाहीन वर्धनकों में इसकी वृद्धि अच्छी होती है। वर्धनकों में २-५ प्र० श० लसिका छोड़ने से वृद्धि अधिक प्रचुरता से होती है। मांस-रस में इसकी वृद्धि मंदता से होती है। बै० नीचे नली में बैठते हैं या नलिका की दीवाल पर चिपक जाते हैं जिससे ऊपर का मांसरस स्वच्छ रहता है। यदि मांस रस के ऊपर तैल, पतला मक्खन या घी छोड़ दिया जाय और वह वर्धन पात्र ऐसे स्थान में स्थापोपित किया जाय की वहाँ पर इसके हिलने की जरा भी आशंका न हो तो एक सप्ताह में तैल के नीचे पृष्ठ भाग से इनकी वृद्धि वटवृक्ष की जटाओं के समान नीचे की ओर लटकती हुई अनेक सूत्रों के रूप में दिखाई देती है। जरा सा धक्का लगने पर ये सूत्र टूट जाते है क्योंकि ये भंगुर होते हैं। इसलिये वर्धनपात्र स्थिरस्थ स्थान में रखना पड़ता है। इस प्रकार की वृद्धि को स्यग्रोधी (Stalactite) वृद्धि कहते हैं।

जाघनक्षमता और प्रतिकार—प्लेग के बै० में प्रतिकारशक्ति बहुत कम है। ये उष्णता शुष्कीभवन और जीवाणुनाशक द्रव्यों से जल्दी मर जाते हैं। इनका घातक तापक्रम ५५ ६०° सें० है। ये शीत के साथ अच्छा प्रतिकार कर सकते हैं। बर्फ में ये ४ महीनों तक जीवन क्षम रह सकते हैं। प्रत्यक्ष सूर्यप्रकाश में ४५ घंटे में, ५ प्र० श० कार्बोलिक घोल में और १: १००० रसकपूर के घोल में १० मिनिट में मर जाते हैं। प्राणियों के शरीर में यदि इनके साथ पूयजनक जीवाणु भी रहें तो इनकी वृद्धि बहुत कुछ रुक जाती है और मरणोत्तर पूति जनक जीवाणु ३-४ दिन में इनका पूरा नाश करते हैं। संवर्धित बै० शीत और अँधेरे स्थान में वर्धित शर्करा के साथ रखे जायें तो महीनों तक जीवनक्षम रहते हैं।

विषोत्पत्ति—इससे केवल अन्तर्विष उत्पन्न होता है, जो इनके शरीर का नाश होने पर स्वतन्त्र होता है। इस विष से रक्तवाहिनियों का अन्तस्तर खराब होकर त्वचा, श्लेष्मल और रसिक आवरणों तथा

अभ्यन्तरीय अंगों में रक्तस्राव होता है। इसके अतिरिक्त इस विष से हृदय वृक्क तथा अन्य अंगों में मेदापकान्ति (Fatty degeneration) भी होती है।

विकारकारिता—यह वै० प्रयोगशाला के प्राणियों के लिये बहुत ही उग्र होता है। इनमें गिनीपिग और श्वेत चूहे अधिक ग्रहणशील होते हैं। अतः इन्हीं का उपयोग प्राणिरोपण (पृष्ठ ९९) के लिये किया जाता है। इनमें इनका प्रवेश त्वचा के नीचे सुई लगाकर या मुण्डित त्वचापर वै० रगड़कर किया जाता है। इनका तात्पर्य यह है कि मुण्डन के समय त्वचा में जो सूक्ष्म क्षत होते हैं उनके द्वारा भी शरीर में प्रवेश करने की शक्ति इनमें होती है। वै० पेस्टिस से प्लेग नामक रोग उत्पन्न होता है। प्लेग चूहों का तथा चूहों के समान अन्य प्राणियों का (Rodents) रोग है और मनुष्यों में यह गौण रूप से प्रकट होता है। मनुष्यों में इसका मरक प्रारम्भ होने से पूर्व १ २ सप्ताह चूहों में इसका प्रादुर्भाव होता है। मनुष्यों में यह रोग तीन प्रकार का दिखाई देता है।

(१) ग्रन्थिक—(Bubonic) प्लेग का यह मुख्य और सामान्य प्रकार है। इस प्रकार में जीवाणु पिस्सू के दंश से त्वचा में प्रविष्ट होते हैं। कभी-कभी त्वचाके प्रवेश स्थान में छोटा सा प्राथमिक विस्फोट निकलता है। प्रायः जीवाणुप्रवेश स्थानसे तत्संबंधित लसिका ग्रन्थियोंमें पहुँचते हैं और वहाँपर तीव्रशोथ उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार जंघा में से कक्षा में या ग्रीवा में ग्रन्थियाँ पड़ती हैं, जिनको प्राथमिक पद (Primary bubo) कहते हैं। पद के साथ तीव्र ज्वर और दौर्बल्य उत्पन्न होता है। यदि रोग तीव्र हो तो जीवाणु लसिका ग्रन्थियों के प्रतिकार को तोड़कर रक्तमें पहुँचते हैं और पूयाणुदोषमयता (पृष्ठ ८९) उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है। इस रोग में विष के परिणाम से हृदय, वृक्क, यकृत, फुफ्फुस रसिकावरण इत्यादि

अंगों में रक्तस्राव, चातुमाश और मेदापक्रान्ति हो जाती है।

(२) तृणाणुदोषमय—(Septicaemic)—प्रारंभ से ही यह प्रकार बहुत कम दिखाई देता है। परन्तु ग्रंथिक में अन्त में यह अवस्था हमेशा उत्पन्न होती है। इसमें जीवाणु रक्त में बहुत तेजी से बढ़ते हैं। ग्रन्थिक के समान स्थानिक विकृति कहीं भी नहीं होती है। मृत्यु के पूर्व रक्त के प्रति घम० से० मी० में दस हजार से दस लाख तक जीवाणु उपस्थित रहते हैं। यह प्रकार बहुत घातक होता है।

(३) फुफ्फुस गत (Pneumonic)—यह प्रकार बहुत ही कम मिलता है। यह प्रकार प्रधान और गौण दोनों तरह से हो सकता है। ग्रन्थिक में ग्रीवा की या कक्षा की ग्रन्थियाँ उपसृष्ट होने से कभी कभी उनका उपसर्ग फुफ्फुस या श्वासनलिका तक पहुँचकर यह प्रकार उत्पन्न हो सकता है। इसमें जीवाणु श्वासनलिकाओं और वायुकोषों में रक्तस्रावी शोथ उत्पन्न करके ब्रोंको न्युमोनिया या न्युमोनिया के समान फुफ्फुस में विकृति उत्पन्न करते हैं। इस शोथ के साथ में फेफिम कम होने के कारण झाक पतला झागदार और अधिक राशि में निकलता है, न्युमोनिया के समान चिपचिपा नहीं होता। इसमें वृद्धि के समान जीवाणु भरे रहते हैं। इसमें भी अन्त में जीवाणु रक्त में प्रविष्ट होकर तृणाणुदोषमयता उत्पन्न होती है।

रोग का प्रसार—भारतवर्षमें मोरी परनाले तथा गुदाम में रहने वाला मूषक पै० पेस्टिस का बड़ा भारी आशय है। यह मूसा (Mus norvegicus) काफी बड़ा, छोटे कान का, भूरे रंग का, मोटी और छोटी पूँछवाला होता है। इसमें प्रथम प्लेग प्रारम्भ होता है। इसके पश्चात् घरेलू चूहे में फैलता है। यह चूहा (Mus rattus) काले रंग का, लम्बे कान का और लंबी तथा पतली पूँछवाला होता है। इन दोनों के शरीर पर पिस्सू रहते हैं। जब कोई चूहा या मूसा मर जाता है तब ये उसको छोड़कर दूसरे चूहे या मूसा की तरफ चले जाते हैं।

ये पिस्सू चूहों का रक्त शोषण करके निर्वाह करते हैं। प्लेग से मृत चूहे को छोड़कर जब ये दूसरे चूहे पर चले जाते हैं तब उसको भी अपने दंश से अपसृष्ट करते हैं। जब इनको चूहा मिलना मुश्किल होता है तब ये मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं और उनमें रोग का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार मूषकों से चूहों पर और चूहों से मनुष्यों पर रोग का संक्रमण पिस्सू द्वारा होता है और इसको २ ३ सप्ताह का काल लग जाता है।

प्लेगग्राहक पिस्सू—पिस्सू काले या भूरे रंग का, २ ३ मि० मीटर लंबा, चपटा और पंख रहित कीड़ा है। २० २५° सं. का तापक्रम इसकी वृद्धि के लिये पोषक होता है। इससे अधिक उष्णता तथा हवा की रूक्षता इसके लिये प्रतिकूल पड़ती है, इसीलिये ग्रीष्म काल में प्लेग नहीं होता। यह छलांग मारने वाला कीड़ा है। इसकी छलांग ६ इंच से अधिक ऊँची नहीं हो सकती तथा छलांग मारते मारते यह १०० फीट से अधिक दूर नहीं जा सकता। यह रक्तचूषक कीड़ा है। इसी लिये जब किसी प्लेग-पीड़ित या मृत चूहे को या मनुष्य को काटता है तब उसके आमाशय में रक्त के साथ प्लेग के पै० भी चले जाते हैं। ये पै० वहां पर वृद्धि भी कर सकते हैं। इस प्रकार पिस्सू के आमाशय में प्रविष्ट हुए ये १-२ सप्ताह तक जीवनक्षम रहते हैं। इसीलिये इस प्रकार का पिस्सू १ २ सप्ताह तक अपनी उपसर्गकारिता बनाये रख सकता है। यह उपसर्गकारिता अधिक से अधिक प्रथम ५ दिन रहती है और उसके बाद धीरे धीरे कम होती जाती है। पिस्सू की कई जातियाँ है, परन्तु प्लेग प्रसार में जेनोप्सीला कीओपिस (Xenopsylla cheopis) ही महत्व की है। पिस्सू ये पेसिस का वाहक तथा सवर्धक (Passive carriers and multipliers) होता है।

प्लेग का संक्रमण—(१) ग्रन्थिगत और प्रश्विक प्लेग का प्रसार पिस्सू के दंश से होता है। प्लेगपीड़ित प्राणि को काटने के कारण जिसके आमाशय में जीवाणु प्रविष्ट हुए हैं या कुछ काल अतीत होने के

कारण सूचित कर चुके हैं यह पिस्सू जब किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटता है तब काटते समय अनेक जीवाणु उसके शरीर में दंश के साथ प्रविष्ट होते हैं। जो जीवाणु आमाशय में पहुँचते हैं उनमें से कुछ पिस्सू के मल के साथ बाहर निकलते हैं। (२) कई बार काटते समय पिस्सू त्वचा पर मलोत्सर्ग करता है और दंशस्थान पर खरोंचने से या खुजाने से कुछ मलगत जीवाणु दंश से या खरोंच से शरीर में प्रवेश करते हैं। इन दो मार्गों में प्रथम मार्ग से ही प्लेग का संक्रमण अधिक हुआ करता है (३) फुफ्फुसगत प्लेग में सामान्यथा पिस्सू के द्वारा न होकर थूक के सूक्ष्म कणों के द्वारा (पृष्ठ ८१) होता है।

चिकित्सा—वैक्सीन इसको हाफकीन का प्लेग प्रतिषेधक टीका कहते हैं। इसके लिये व्यमोची शुक्ति की पद्धति से पे. पेरिटस की पुष्टि (पृष्ठ १११) की जाती है और बार बार हिलाकर अधिक से अधिक उपचयन किया जाता है। इसके पश्चात् ६ सप्ताह तक इसका व्यमपोषण ३५° सें पर किया जाता है। पश्चात् ६५° सें. पर एक घण्टे तक उनका नाश करके ½ प्र श कार्बोलिक अम्ल उसमें छोड़ देते हैं। प्रथम मात्रा १ सी. सी और दूसरी मात्रा ४ सी. सी. एक सप्ताह के बाद त्वचा के नीचे दी जाती है। इस टीका से उत्पन्न हुई क्षमता ६ १२ मास तक टिकती है। इसका उपयोग प्लेग प्रतिषेधन के लिये करते हैं। इसको हाफकीन का टीका (Hoffkines vaccination) कहते हैं। आजकल एक विशिष्ट सौम्य प्रकार के (Tjwjwidej strain) सजीव प्लेग के जीवाणुओं का टीका लगाकर क्षमता उत्पन्न करने में काफी सफलता मिली है।

लसिका—प्लेगपीड़ितों की चिकित्सा के लिए लसिका का उपयोग किया जाता है। इससे यद्यपि बहुत सफलता नहीं मिलती, फिर भी इसका उपयोग करके देखना चाहिये। प्रथम लसिका घोड़े से बनाई जाती थी। अब यह देखा गया है कि बछड़ों से बनायी गई लसिका घोड़े की लसिका की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम होती है। प्रथम दिन ६०

और दूसरे दिन १० सी० सी० की मात्रा में सिरा द्वारा इसका उपयोग किया जाता है। लसिका में मुख्यतया प्रतिकारक पदार्थ उपस्थित रहते हैं।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—यह कार्य बै० पेस्टिस की उपस्थिति सिद्ध करने पर निर्भर होता है। ग्रन्थिक में पै० ग्रन्थि में, तृणाणुदोषमय में रक्त में और फुफ्फुसगत प्रकार में थूक में उपस्थित रहते हैं और इनका परीक्षण निम्न पद्धतियों से किया जाता है। ग्रन्थिक में विशोधित सुई और पिचकारी से ग्रन्थि के भीतर का रस परीक्षणार्थ लिया जाता है।

(१) रञ्जन—ग्रन्थिरस का या रक्त का प्रलेप पटरी पर करके उसको ग्राम से तथा लीशमन से रंजित करें। यदि इससे प्रलेप में ग्रान्तरंजित भयङ्काकारी ग्रामत्यागी पै० दिखाई दे तो प्लेग समझना चाहिये। २० प्र० श० रोगियों में मृत्यु से पूर्व कुछ घंटे रक्त में तृणाणु दिखाई देते हैं।

(२) संवर्धन—इसके लिये लवणयुक्त अगर (पृष्ठ १६१) और घृतयुक्त मांसरस (पृष्ठ १९१) प्रयुक्त होता है और पश्चात् भपचयाकार और ध्यमोघी वृद्धि से की जाती है। पै० पेस्टिस का उपमरोपण २५ २७° सें० पर करना चाहिये, ३७° सें० पर नहीं।

(३) प्राणिरोपण—इसके लिये ग्रंथिरस या संवर्धन के सब काम में लाना चाहिये। प्रत्यभिज्ञान की दृष्टि से यही कसौटी (पृष्ठ ९६) सबसे महत्त्व की है।

आन्त्रवासी वर्ग (Intestinal Group)

सामान्य विवरण—इस वर्ग के तृणाणु मनुष्यों तथा प्राणियों के आन्त्रवासी होते हैं। इसके अतिरिक्त ये जमीन में और वृक्षों पर भी मिलते हैं। ये १ ३ म्यू लंबे और आधा म्यू चौड़े होते हैं। इनके चारों ओर तन्तुपिच्छ रहते हैं और चंचल होते हैं। अतिसारवर्ग के तृणाणु तन्तुपिच्छहीन और निश्चल होते हैं। ये न रुोर बनाते हैं न कोषयुक्त होते हैं। साधारण रंगों से ये जल्दी रञ्जित होते हैं और ग्रामत्यागी

हैं। सामान्य वर्धनकों में इनकी वृद्धि होती है, परन्तु अन्य जीवाणुओं से इनको पृथक् करने के लिये विशिष्ट वर्धनकों (पृष्ठ ५६, ६१) का उपयोग किया जाता है। इनमें विविध शर्कराओं में अम्लिर्यंत उत्पन्न करने की शक्ति भिन्न भिन्न (पृष्ठ ९५) हुआ करती है और इस भिन्नता के आधार पर इस वर्ग के तीन उपवर्ग किये गये हैं।

(१) इश्चेरिचिया उपवर्ग (Escherichia sub-group)—इसको कोलन (Colon) उपवर्ग भी कहते हैं। इसके बै० ल्याक्टोज में म्लिर्यंग उत्पन्न करते हैं। अपवाद मोर्गेनस पलमारिस। इस वर्ग के बैसीलाय—बै० कोलाय कम्यूनिस, ब० एसीडीलैक्टीसी, बै० ल्याक्टिस एरोजीनस, बै० क्लोएसी—बै० मोर्गनस।

(२) इबर्थेला—(Eberthella) उपवर्ग—इसको टैफाइड डीसेन्टरी उपवर्ग भी कहते हैं। इसके बै० ल्याक्टोज में अम्लिर्यंग नहीं कर सकते, परन्तु ग्लूकोज में केवल अम्ल उत्पन्न करते हैं। इस वर्ग के बैसीलाय—बै० टैफोसस, बै० डीसेन्टरी शिगा, फ्लेक्सनर, एकीमिटन्स और सोने।

(३) साल्मोनेल्ला (Salmonella) उपवर्ग—यह वर्ग भी इबर्थेल्ला वर्ग के समान ल्याक्टोज में अम्लिगंग नहीं उत्पन्न करता। परन्तु ग्लूकोज में इससे वायु और अम्ल दोनों उत्पन्न होते हैं। इस वर्ग के बसीलाय—बै० प्याराटैफोसस ए० बी० सी० बै० एन्टरीडिस, बै० गार्टनर नं० १ और बै० हर्टिके।

लसिका विषयक विशेषता—आन्त्रवासी वर्ग के विकारी जीवाणु का उपसर्ग होनेपर रक्त में पुंजकारक वस्तुएं उत्पन्न होती हैं जिनका उपयोग जीवाणुप्रत्यभिज्ञान (पृष्ठ ९२) तथा रोगविज्ञान में होता है।

विकारकारिता—कोलन टैफाइड वर्ग के जीवाणु साधारणतया मनुष्यों के सहवासी (पृष्ठ ९) होते हैं तथा प्रायः अविकारी होते हैं। अन्य दो वर्गों के जीवाणु विकारी होते हैं।

बै० कोलो कम्यूनिस ([illegible])

वासस्थान—यह मनुष्यों के तथा प्राणियों के आन्त्र में बहुत अधिक संख्या में सदैव रहता है और मल के साथ उत्सर्गित होता है। इसलिये मनुष्य तथा प्राणियों की बस्ती के आसपास भूमि में पानी में, मोरी परनाले में और सागसब्जी तरकारी घासफूस के ऊपर हमेशा मिलता है। इसके अतिरिक्त शरीर में विकृति करने पर विकृत स्थानों में और मूत्र में मिलता है।

शरीर और रंजन—यह २ ४ म्यू लंबा और आधा म्यू चौड़ा है। कभी कभी ८ १० म्यू तक लंबे या अंडाकारी बहुत छोटे आकार का भी यह दिखाई देता है। इसके चारों ओर ४ ८ तन्तुपिच्छ होते हैं, इसमें चपलता बहुत नहीं होती। यह कोषधारी और स्पोरजनक नहीं है। इसके कुछ प्रकार गतिहीन और कोषधारी भी दिखाई देते हैं। यह ग्रामत्यागी है।

जीवन व्यापार और संवर्धन—यह वातपी और संभाव्य वातमी है। पोषक तापक्रम ३७ सें० है। १० ४४° सें० तापक्रम तक इसकी वृद्धि हो सकती है। साधारण वर्धनकों पर इसकी प्रचुर वृद्धि होती है। अगर पर मोटे, आर्द्र, गोल, चमकीले और कुछ भूरापन लिये श्वेत संघ उत्पन्न होते हैं। मांसरस में वृद्धि के कारण कुछ मलिनता और दुर्गन्ध उत्पन्न होती हैं। इसका कारण यह है कि यह प्रोटीनों को गलाकर इन्डोल, फेनाल, हैड्रोजन सल्फाइड इत्यादि दुर्गंधित पदार्थ उत्पन्न करता है। म्याक्कोंकी के वर्धनक पर (पृष्ठ ६१) गुलाबी रंग के कोलरेडी के ऊपर थाल अपारदर्शी और बड़े तथा ब्रोम केसोलपर पीले रंग के संघ उत्पन्न होते हैं।

जीवन रासायनिक प्रतिक्रिया—यह सब शर्कराओं में का० डायोक्साइड, हैड्रोजन और ल्याक्टिक अम्ल उत्पन्न करता है, दूधको

जमाकर उसको पतला करता है पेप्टोन जल में इण्डोल बनाता है, न्यूट्रलरेड ग्लूकोमयुक्त मांसरस में हरितद्योत (Green fluorescence) उत्पन्न करता है, और यवक्षारों के नैट्रेट को नैट्राइट में परिणत करता है। ये प्रतिक्रियाएँ आन्त्रवासी दं० के द्वारा प्राप्त होती हैं। इनका स्मरण फ्लाजिनाक (Fl, ag, in, no) शब्द से आसानी से हो जाता है। जो जमीन घास-फूस में रहते हैं उनसे वोजेस प्रोस्कौर प्रतिक्रिया (Voges proskauer) कोसेर कसौटी (Koser's test) और युरिक एसिड टेस्ट मिलती हैं, जो आन्त्रवासियों से नहीं मिलतीं।

विषोत्पत्ति—इनसे कोई बहिर्विष नहीं बनता, अन्तर्विष ही बनता है। मूत्रमार्ग में विकार करनेवाले जीवाणुओं में रक्तद्रावण की भी कुछ शक्ति होती है।

विकारकारिता—दं० कोलाय केवल आन्त्रवासी नहीं, प्रत्युत शरीर के लिये उपकारी है जो आन्त्र में पचन में सहायता करके तथा आन्त्रस्थ अन्य जीवाणुओं का नाश करके या उनकी वृद्धि को रोक के मनुष्यों को लाभप्रद होता है। परन्तु जब शरीर कमजोर हो (पृष्ठ८७) जाता है या अन्य स्थान में इसका प्रवेश होता है तब ये विकार उत्पन्न करते हैं। अन्य स्थानों में ये सरल मार्ग से, रक्तमार्ग से या लसिका वाहिनियों से पहुँच जाते।

यह पूयजनक ये हैं इसीलिये जहाँ पर इसका उपसर्ग होता है वहाँ पर पूय (पृष्ठ १०१) उत्पन्न होता है और उस पूय में बहुत दुर्गन्ध (पृष्ठ १९९) आती है। इनके उपसर्ग में विषमयता के लक्षण प्रायः बहुत कम होते हैं। अन्य स्थानों की अपेक्षा मूत्र स्थान में इसका उपसर्ग अधिक हुआ करता है और वह पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक। इसका कारण यह है कि स्त्रियों में मूत्र और मल का द्वार बहुत नजदीक है, मूत्र मार्ग बहुत छोटा और गर्भावस्था तथा प्रसव के समय मूत्र और

पचन संस्थान में बहुत संबद्धन होता है। मूत्रसंस्थान में इनसे बस्तिशोथ, बस्तिम्द शोथ (Pyelitis) वृक्कालिम्द शोथ (Pylonephritis) वृक्कविद्रधि, परिवृक्कविद्रधि (Perinephrio) तृणाणु दोषमयता इत्यादि कष्टगामी उपसर्ग हो सकते हैं। इन विकारों में मूत्र गाढ़ा, मटियाला प्रायः अम्ल प्रतिक्रिया युक्त (बस्तिशोथ में क्षारीय) अल्ब्युमिन, पूय सेलें और प्रासरयागी संचक ये इनसे युक्त होता है।

मूत्रसंस्थान के अतिरिक्त इनसे आन्त्र पुच्छशोथ, गुदकुन्दरविद्रधि (echio rectal) पित्ताशयशोथ, मस्तशोथ, यकृत में छोटी मोटी विद्रधियाँ, उदरावरणशोथ, तृणाणुदोषमयता पूयमयता इत्यादि विकार भी उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—ये कोलाय के मूत्रसंस्थान के विकारों में तथा पित्ताशय शोथ में वैक्सीन से बहुत काम होता है। वैक्सीन स्वजनित होना चाहिये और उसकी मात्रा ५० लाख से प्रारम्भ करनी चाहिये। यदि कोलाय रक्तस्रावी हो तो फिर स्वजनित वैक्सीन बनाने की कोई आवश्यकता नहीं होती संचित वैक्सीन से काम चल जाता है, क्योंकि रक्तस्रावी कोलाय सब एक प्रकार के होते हैं।

ये कोलाय के वैक्सीन का उपयोग कोलाय उपसर्ग के अतिरिक्त जहाँ पर सामान्य प्रोटीनाघात चिकित्सा (Non specific proteintherapy) की आवश्यकता होती है वहाँ पर भी होता है। मात्रा १० करोड़ से प्रारम्भ करके उत्तरोत्तर बढ़ायी जाती है और प्रति सप्ताह सिरा में इंजेक्शन दिये जाते हैं।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—ये कोलाय मूत्रमार्ग के उपसर्ग में मूत्र में, तृणाणुदोषमयता में रक्त में और पूयमुक्त विकारों के स्रावों में मिलते हैं।

मूत्र विशोधित पात्र में विशोधित सलाई से ग्रहण करना चाहिये। पुरुषों में यदि सलाई प्रयोग करने में कठिनाई हो तो पृष्ठ १३८ पर बताई

हुई मूत्रपरीक्षण-विधि के अनुसार मूत्र ग्रहण करो। रक्त रोगी को सर्दी मालूम होने के समय लेना चाहिये और उसकी मात्रा १० सी सी होनी चाहिये। इसके बाद निम्न पद्धतियों से उसकी पहचान करनी चाहिये।

रजन—सपूय विकारों का पूय पटरी पर प्रक्षिप्त करके ग्राम रंग से रंजित करके देखना चाहिये। इससे पूयगत तृणाणुओं की कुछ कल्पना आ जाती है।

संवर्धन—स्राव में यदि अन्य जीवाणु हो तो उसको मोमकेलाव परपल में संवर्धित करें। मूत्र को म्याक्कोंकी के वर्धनक में संवर्धित करो। मूत्र में मिलनेवाले कोलाय में रक्तद्रावक शक्ति होती है, इसीलिये रक्त आगर में उनकी रक्त स्रावण की शक्ति को भी मालूम कर लेना चाहिये।

जीवन रासायनिक प्रतिक्रिया-कोलाय दो प्रकार के होते हैं आंत्र वासी और भूमि घास इत्यादिमें रहनेवाले पूत्युपजीवी—जीवन रासाय निक कसौटियों का उपयोग रोगी में मिलनेवाले कोलाय के पहचान में नहीं किया जाता। पानी में, मिलनेवाले कोलाय आन्त्रवासी है या पूत्युपजीवी से इसकी पहचान करने में किया जाता है। इसका कारण यह है कि कई बार पीने के पानी में ये कोलाय मिल जाते हैं जो पानी की दुष्टि के निदर्शक माने जाते हैं। परन्तु यदि यह सिद्ध किया जाय कि वे आन्त्रवासी नहीं हैं, पूत्युपजीवी हैं तो उनकी उपस्थिति हानिकारक नहीं मानी जा सकती। दोनों की प्रतिक्रियाएं भिन्न भिन्न होती हैं जो पीछे पृष्ठ १०० पर दी हुई हैं।

बे० प्रोटियस (Proteus vulgaris)

वासस्थान—यह बै मनुष्यों तथा प्राणियों के मल में, भूमि में और सड़नेवाले प्राणिज और वनस्पतिज वस्तुओं में मिलता है। इसके अतिरिक्त दूषित व्रणों में भी मिलता है।

शरीर और रञ्जन—यह डेढ़ से २ म्यू लंबा और आधा म्यू चौड़ा है। इसके चारों ओर तन्तुपिच्छ होकर यह चंचल होता है। मानत्यागी है।

संवर्धन—सामान्य वर्धनकों पर वृद्धि होती है। पोषक तापक्रम २५ सें होने पर भी ३०° सें पर इसकी वृद्धि हो सकती है। अगर पर रोपण करने से इसकी वृद्धि संपूर्ण पृष्ठ भाग पर फैल जाती है।

विकारकारिता—इससे कोई खास विकार नहीं होता। परन्तु बस्तिशोथ, मध्यकर्णशोथ तथा व्रणों की दुष्टि में यह अन्य पूयजनक जीवाणुओं के साथ मिलता है। यह स्वयं पूयजनक है। कभी कभी दूध या अन्य दूषित पदार्थों के साथ इसका सेवन करने से प्रवाहिका हो जाती है।

प्रायोगिक निदान—इससे कोई खास रोग न उत्पन्न होने के कारण इसके पहचान की कोई आवश्यकता नहीं होती। परन्तु इसका उपयोग तन्द्रिक ज्वर (Typhus) के निदान में होता है। इसका कारण यह है कि तन्द्रिक ज्वर पीड़ित रोगी की लसिका में इसके लिए पुंजकारक उपस्थित रहते हैं, यद्यपि उस रोग से इसका जरा सा भी सम्बन्ध नहीं है। इसको वीलफेलिक्स प्रतिक्रिया (Weil-felix reaction) कहते हैं।

ये० टैफोसस (Eberthella typhi)

वास स्थान—स्वस्थ मनुष्यों के आंत्र में यह कदापि नहीं मिलता। आंत्रिक ज्वर से पीड़ितों के तथा वाहकों के मलमूत्र में और मलमूत्र दूषित भूमि जल इत्यादि में पाया जाता है। आंत्रिक रोगियों के शरीर में यह रक्त, आंत्र, पित्ताशय, यकृत प्लीहा इत्यादि में भी पाया जाता है।

शरीर और रञ्जन—यह १.५ म्यू लंबा और आधा म्यू चौड़ा

है। इसके चारों ओर ८-१२ तन्तु पिच्छ-रूपी रहते हैं जो उससे भी अधिक लंबे (१८ म्यू) होते हैं। यह अत्यन्त चंचल, कोषरहित और स्पोर न बनानेवाला है। यह ग्रामस्थायी है।

जीवन व्यापार और संवर्धन— यह वायवी और संभाव्य वायवी है। पोषक तापक्रम ३७° सें० है। साधारण वर्धनकों में इसकी वृद्धि होती है। म्याक्कोनी के वर्धनक पर वर्णहीन, कोबरैड्री ड्रीगल्स्की के वर्धनक पर नीले और मोम क्रेमोस परपल वर्धनकपर काली लिए हुए नीरू संघ उत्पन्न होते हैं।

जीवन रासायनिक प्रतिक्रिया—दुग्ध में यह जरा सी अम्लता उत्पन्न करता है, उसको जमाता नहीं। यह इन्डोल नहीं उत्पन्न करता। ग्लूकोस मनाइट माल्टोस में केवल अम्ल उत्पन्न करता है, ल्याक्टोस पर कुछ भी परिणाम नहीं होता।

क्षमता और प्रतीकार—मनुष्यशरीर के बाहर यह अधिक काल तक नहीं रह सकता। ६०° सें. के तापक्रम से, प्रत्यक्ष सूर्यप्रकाश से और शुष्कीभवन से यह जल्दी मर जाता है। परन्तु विष्ठा में २-१४ दिन तक, पानी में ५-६ दिन तक बर्फ में कुछ हफ्तों तक यह जीवन क्षम रह सकता है। सीप, घोंघा (oyster) इत्यादि दूषित जल में रहनेवाली मछलियों में यह तीन सप्ताह तक रह सकता है। बै कोलाय या अन्य भूमिस्थ जीवाणुओं की उपस्थिति में इसकी वृद्धि रुक जाती है।

विषोत्पत्ति—इससे केवल अन्तर्विष बनता है।

विकारकारिता——यै टैफोसस से मनुष्यों में आन्त्रिक (Enteric, or typhoid) या मंथरक ज्वर उत्पन्न होता है। मनुष्येतर (वानरों के अतिरिक्त) प्राणियों में यह विकार इससे नहीं होता। गिनीपिग खरगोश इत्यादि प्राणियों की उदरगुहा या सिरा में इनका प्रवेश कराने से पूष्माणु शोफमयता उत्पन्न होकर उनकी मृत्यु होती है, परन्तु मनुष्यों के समान आन्त्रिक विकृतियां नहीं होतीं।

प्रसार और शरीर प्रवेश—रोग का प्रसार रोगी और वाहकों से (पृष्ठ १०७) होता है। इन दोनों के मलमूत्र में ये० उपस्थित रहते हैं। इसलिए मलमूत्र से दूषित जल, उससे बनाया हुआ बरफ तथा बरफयुक्त शरबत या अन्य पेय, मोरी परनाले के पानी से होनेवाली सागसब्जी तथा उनमें रहनेवाले जलचर, दूषित दूध तथा अन्य खाद्यपदार्थों के सेवन से शरीर में प्रविष्ट होते हैं। विकृति उत्पन्न करने के लिये मुख द्वारा इनका प्रवेश आवश्यक (पृष्ठ ८४) होता है। आमाशयिक अम्ल से ये प्रायः नष्ट होते हैं। परन्तु जब खाली पेट पर दूषित वस्तु सेवन की जाती है या भोजन के साथ बहुत पानी सेवन किया जाता है तब अम्ल की अनुपस्थिति या उसका अधिक पतलापन (Dilute) होने से ये बचकर आंत्र में पहुँचते हैं जहाँ की क्षारीय प्रतिक्रिया इनकी वृद्धि के लिये उपयुक्त होती है। इस प्रकार अनुकूलता मिलने पर ये आंत्र में बड़ी तेजी के साथ वर्धित होकर रोग उत्पन्न करते हैं जिसकी निम्न चार अवस्थाएँ होती हैं—

रोग की अवस्थाएं —(१) जीवाणुमयावस्था—आन्त्र की लसिकाम धातु में वृद्धि करके जीवाणु रक्त में प्रवेश करते हैं और संपूर्ण शरीर में सचार करते हैं। (२) स्थान समयावस्था—इसमें जीवाणु आन्त्र के लसिकापिण्डों में, आन्त्र नियन्त्रिनी की लसिका ग्रन्थियों में और प्लीहा में अवस्थान करके अपना विषैला असर दिखाने लगते हैं। (३) क्षमतावस्था और रोपणावस्था इस काल में शरीर में प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न होकर शरीर कुछ क्षम बनने लगता है और उसी के कारण आंत्रके व्रणों का रोपण प्रारम्भ होता है (४) रोगनिवृत्तावस्था—इसमें क्षमता पर्याप्त उत्पन्न होने के कारण ज्वरादि लक्षण नष्ट होते हैं। साधारणतया प्रत्येक अवस्था की काल मर्यादा १ सप्ताह की होती है।

विकृतियाँ (Lesions)—वे टैफोसस से जो अनेक विकृतियाँ होती हैं उनको भिन्न भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) प्रवेशस्थानिक—इनका विशेष आकर्षण शारीरगत लसिकाभ धातु (Lymphoid tissue) की ओर होता है। इसलिये क्षुद्रान्त्र के अन्तिम एक फुट में (अधिक से अधिक १ फुट) होनेवाली पेयर की ग्रन्थियों में (Peyer's Patches) तथा स्थूलान्त्र के प्रारंभिक भाग के लसिकाभ पिण्डों (Lymphoid follicles) में प्रवेश करके ये वृद्धि करना प्रारंभ करते हैं। इनकी उपस्थिति से वहाँ पर सेनानरण रक्ताधिक्य और धातुनाश प्रारंभ होता है। आन्त्रगत इन विकृतियों की चार अवस्थाएँ होती हैं जो स (S) अक्षर से प्रारंभ होती हैं और जिसके लिये एक-एक सप्ताह का काल लग जाता है—जैसे (१) सूजन (Swelling), (2) सड़न (Sloughing), (3) समस्ता (Seperation), (४) संशमन (Scarring)। इनसे आन्त्र में उत्पन्न होनेवाला व्रण गोल या दीर्घ गोल, आन्त्र की लम्बाई में लम्बाई लिया हुआ, आन्त्रनिर्बंधिनी के सामने अन्तःसुषिर किनारे का और गहराई में फैलने की प्रवृत्ति का होता है। इन व्रणों के अतिरिक्त आन्त्र बन्धिनी की लसिकाग्रन्थियाँ फूलती हैं और प्लीहा की आकार वृद्धि होती है।

(२) सार्वदैहिक—रक्त में प्रवेश करने के पश्चात् जीवाणु विशेष करके पित्ताशय, अस्थि मज्जा, त्वचा में विकृति करते हैं जिसके कारण पित्ताशयशोथ, अस्थिशोथ, अस्थ्यावरणशोथ, सन्धिशोथ, (जैसे Typhid Spine, Toe) त्वचा पर दाने (Rosespots) और फोड़े फुन्सियाँ इत्यादि उत्पन्न होते हैं।

(३) विषात्मक—आन्त्रिकविष का परिणाम मुख्यतया मस्तिष्क संस्थान, पेशीसंस्थान और हृदोत्पादकसंस्थान के ऊपर होता है। मस्तिष्क के परिणाम से प्रलाप तन्द्रा इत्यादि मानसिक लक्षण होते हैं जिनके कारण इस रोग को सन्निपात (Typhoid) ज्वर नाम दिया गया है। पेशियों में हृदय, वृक्क, श्वसन की पेशियों में अन्तःप्रसि

(Zenker's Degeneration) उत्पन्न होती है और इसीसे मास्कोम्युमोनिया, आध्मान, उदरक (Rectus) पेशी का विदीर्ण होना इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। रक्तोत्पादकसंस्थान के परिणाम से रक्तक्षय, श्वेतकणापकर्ष (Leucopenia) इत्यादि परिवर्तन होते हैं।

(४) मिश्रसंसर्गात्मक—कभी कभी इनके साथ अन्य पूयजनक-कोष्ठाणु मिल करके कर्णमूलिकग्रन्थिशोथ (Parotitis), मास्कोम्युमोनिया और फोड़े फुन्सियां इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

आन्त्रिकवाहक—(Typhoid-carriers)—साधारणतया यह देखा गया है कि १०–१२ प्र श रोगियों में रोगनिवृत्ति के पश्चात् ६–१२ सप्ताह तक मलमूत्र से आन्त्रिक वै उत्सर्गित होते रहते हैं और उसके पश्चात् बंद हो जाते हैं। परन्तु २–३ प्र श रोगियों में इनका उत्सर्ग महीनों तक होता रहता है और कभी कभी जीवनभर चलता है। ये वाहक कहलाते हैं। ये भिन्न दो प्रकार के होते हैं।

(१) आन्त्रीयवाहक (Intestinal carrier)—आन्त्र से या रक्त मार्ग से जब वै० पित्ताशय में पहुँचते हैं तब पित्त उत्तम साध होने के कारण ये वहाँ पर वर्धित होते हैं और धीरे धीरे उपश्लेष्मल त्वचा में अवस्थान करके उसका चिरकालीन शोथ पैदा करते हैं तथा समय समय पर पित्त के साथ आन्त्र में उत्सर्गित होकर मल के साथ बाहर आते हैं। आन्त्रिक वाहकों में आन्त्रीय वाहक ही अधिक (९५) होते हैं और ये मुख्यतया स्त्रियों में पाये जाते हैं।

(२) मूत्रीयवाहक (Urinary Carriers)—रक्तगत वै जब वृक्कों से उत्सर्गित होते हैं तब कभी कभी ये गविनीमुख के पास शोथ (Pyelo-nephritis) उत्पन्न करते हैं। ऐसी अवस्था में उनको वहाँ रहकर वर्धित होने का और समय समय पर मूत्र के साथ बाहर आने का अच्छा मौका मिलता है। ये मूत्रीयवाहक हैं। इनका प्रमाण बहुत कम (०५) होता है और इनमें स्त्री और पुरुष दोनों समप्रमाण में मिलते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आन्त्रिक ज्वर के रोगवाहक प्रायः नहीं होते। व्यावित वाहक ही हुआ करते हैं। इनके मल मूत्र से मैं का सम्पर्क होने के कारण इनके हाथ दूषित होने की सदैव सम्भावना होती है। और जब ये रसोइया या परोसैया का काम करते हैं तब इनके हाथों से खाद्यपेय दूषित होकर तद्वारा रोग का प्रसार हो जाता है।

चिकित्सा—आन्त्रिक ज्वर की चिकित्सा में सीरम या वैक्सीन का उपयोग नहीं होता। फेज का उपयोग (पृष्ठ ३७) किया जाता है और इससे कभी कभी लाभ होता है। मात्रा २ सी सी दिन में ४-५ बार ५-६ दिन तक दी जाती है।

प्रतिषेध—आन्त्रिक और उपान्त्रिक ज्वर प्रतिषेध के लिए वैक्सीन बहुत ही लाभप्रद प्रमाणित हुआ है। इस वैक्सीन में मै० टैफाइड, तथा मै प्यारा टैफाइड उपस्थित रहते हैं इसलिये इसको टी ए बी. (T A B) वैक्सीन कहते हैं। इसके एकसी सी में १०० करोड़ टैफाइड और प्यारा टैफाइड ए और बी के प्रत्येक ५० करोड़ जीवाणु होते हैं। इसके तीन इन्जेक्शन प्रत्येक ८-१० दिन के बाद देते हैं। प्रथम इन्जेक्शन ½ सी सी का और शेष दोनों एक एक सी सी के होते हैं। इन्जेक्शन देने से ८ दिन के बाद क्षमता उत्पन्न होने लगती है और १ वर्ष भर टिकती है।

सावधानी—प्रथम इन्जेक्शन देने के पश्चात् ५-७ दिन तक शरीर में क्षमता नहीं उत्पन्न होती। प्रत्युत शरीर की स्वाभाविक क्षमता भी कम हो जाती है। इसलिये इसको ऋणावस्था (Negative phase) कहते हैं। इसके पश्चात् धीरे धीरे क्षमता उत्पन्न होने लगती है जो प्रत्येक इन्जेक्शन के साथ बढ़ती जाती है। इसको धनावस्था (Positive phase) कहते हैं। इस ऋणावस्था के कारण ही प्रथम इन्जेक्शन किसी दुर्बल व्यक्ति को या जिनमें रोग होने की आशंका हो रही

है उसको देना उचित नहीं होता। वैसे ही दूसरा इन्जेक्शन भी ८ दिन के भीतर देना इसी कारण से हानिकर हो सकता है।

बिली वैक्सीन (Bili vaccine)—बेसरेड्का (Besredka) नामक शास्त्रज्ञ का कथन है कि आन्त्रिक ये का उपसर्ग होने का मुख्य कारण आन्त्रिक श्लेष्मल त्वचा की कमजोरी है। यदि उसको किसी तरह आन्त्रिक ये० के लिये प्रतिकारक बनाया जाए तो रोग नहीं हो सकता। इस उपपत्ति के आधार पर उसने रोग प्रतिषेध के लिये मुख द्वारा देने का वैक्सीन बनाया है। इसमें पित्त (Bile) मिलाया गया है। यह पित्त आन्त्रिक शक्ति बढ़ाने में सहायता करता है। बाइल (पित्त) के साथ संयुक्त होने के कारण इसको बिली वैक्सीन कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—आन्त्रिक ज्वर से पीड़ित रोगी की त्वचा के विस्फोटों, मस्तिष्क सुषुम्ना जल पित्त, मल, मूत्र और रक्त में ये उपस्थित रहते हैं। परीक्षार्थ रक्त, मल और मूत्र का ही उपयोग किया जाता है।

रक्तपरीक्षण—प्रथम सप्ताह में रोगी के रक्त में ये रहते हैं और उसके पश्चात् प्रतियोगी पदार्थों की उत्पत्ति होने के कारण वे कम होने लगते हैं। इसलिये रक्तपरीक्षा प्रथम सप्ताह में ही करना आवश्यक है। इस सप्ताह में ९५ प्र० श०, दूसरे सप्ताह में ७० प्र श; तीसरे में ३५ प्र श, चौथे में १० प्र० श० और पाँचवें में ९ प्र. श जीवाणु मिलने का प्रमाण होता है।

रोगी के कूर्परसन्धि के सामनेवाली सिरा से विशोधित पिचकारी से १० मी मी करीब रक्त लेकर उसको १ प्र श स्ट्रकोजयुक्त १०० सी सी पोषक मांसरस में प्रविष्ट कर दिया जाता है। उसके पश्चात् उसको १-१ दिन तक उष्मपोषक यन्त्र में रख देते हैं। यदि इस अवधि में वृद्धि न हो तो ५-७ दिन तक यह कार्य जारी रखना चाहिये। तिस पर भी यदि वृद्धि न हो तो रक्त में जीवाणुओं की

अनुपस्थिति समझना चाहिये । वृद्धि होने पर उनको सूक्ष्मदर्शक से देख सकते हैं । ये काफी गतियुक्त दिखाई देते हैं । इसके पश्चात् यदि आवश्यक मालूम हो तो म्याककोनी के वर्धनक पर उनकी फिर से वृद्धि करके सम्यों के द्वारा या क्षमतासिका द्वारा (पृष्ठ ९१) उनकी पहचान कर सकते हैं ।

मलपरीक्षण—रोगी के मल में यै की उपस्थिति दूसरे (१५ प्र श) और तीसरे (८५ प्र० श०) सप्ताहमें अधिक होती है । इसलिये इस काल में ही मल का परीक्षण करना उचित है । इसके पहले और इसके पश्चात् उनके मिलने की आशा बहुत कम होती है । मल-परीक्षण के लिये मल बहुत ताजा होना चाहिये । अधिक विलंब होने पर यै० कोलाय तथा अन्य जीवाणु तेजी से बढ़कर यै० टैफाइड का नाश कर देते हैं । इस ताजे मल का एक बूंद लेकर उसको मिलियंट ग्रीन, टैट्रथ्रियोनिक एसिड युक्त पैप्टोनजल में रोपित करना चाहिये । मि० ग्रीन और टैट्रथ्रियोनिक एसिड यै० टैफीके अतिरिक्त अन्य जीवाणुओं की वृद्धि रोकते हैं । एक दिन उसको ऊष्मपोषित करके पश्चात् उसमें से ऊपर का कुछ द्रव लेकर उसको म्याककोनी के वर्धनक में रोपित करते हैं । एक दिन उसको ऊष्मपोषित करके उसपर उत्पन्न हुए संघों का परीक्षण सूक्ष्मदर्शक, अभिर्यंग क्षमतासिका इत्यादि के द्वारा किया जाता है । यदि एक बार किये हुए परीक्षण में यै टैफी न मिले तो १, २ रोज के बाद फिर से दूसरा परीक्षण करें क्योंकि संयोगवश एकाध बार मल में जीवाणु अनुपस्थित रहते हैं ।

मूत्रपरीक्षण—स्त्रियों में मूत्र सलाई से निकालें । पुरुषों में प्रारंभिक मूत्र-त्याग करके पश्चान्मूत्र को ग्रहण करें । मूत्र में यै० का उत्सर्ग निरन्तर नहीं होता उनके मिलने का समय द्वितीय और तृतीय सप्ताह होता है । इस प्रकार विशोधित पात्र में इकट्ठे किये हुए मूत्र को उससे दोगुने मिलियण्ट ग्रीन पैप्टोन जल के साथ मिला करके २४ घंटे

Carbol thio nine ...
(... २११)

तक उत्पादित कर। उसके पश्चात् म्याककोंकी के मर्यमक में उसको रोपित करें। अन्त में उनको उपर्युक्त पद्धतियों के अनुसार पहचान लें। बै टैकी अन्य बै के समान केवल रंजन से नहीं पहचाना जा सकता। अत रक्त मल मूत्र में मिलनेवाले बै की वृद्धि (Culture) करके संघ, अभिरंग (पृष्ठ २०७) और क्षमतालसिका से उनकी पहचान करने की आवश्यकता होती है।

लसिका कसौटी—बै० टैकी का उपसर्ग होने पर रक्त में जो अनेक प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें पुंजकारक (Agglutinins) विशेष महत्व के हैं। ये पुंजकारक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के यै के शरीर की प्रतिक्रिया से और दूसरे उनके तन्तुपिच्छों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं। प्रथम प्रकार के शारीरिक (Somatic संक्षेप में O) कहलाते हैं। ये उष्णग्राही हैं और क्षमता उत्पन्न करने की दृष्टि से महत्व के होते हैं, क्योंकि इनसे यै का नाश होने में बहुत सहायता मिलती है। परंतु ये विशिष्ट नहीं होते। ये यै टैफोसस के संबंधी अन्य यै के साथ पुंजीकरण का कार्य कर सकते हैं। दूसरे प्रकार के पुंजकारक अनुष्णसाही हैं और क्षमता उत्पन्न करने में उपयोगी नहीं होते। परन्तु ये विशिष्ट (Specific) होते हैं, अर्थात् केवल यै टैफोसस से मिलने पर ही उसका पुंजीकरण कर सकते हैं, अन्यों का नहीं। इनको तन्तुपुच्छज (Flagellar संक्षेप में H) कहते हैं। रोगनिदान में यद्यपि दोनों की उपस्थिति सहायक होती है, फिर भी टीका न लगाये हुए व्यक्ति में एच की उपस्थिति और टीका लगाये हुए व्यक्ति में ओ की उपस्थिति अधिक विश्वसनीय होती है। पुंजकारक यद्यपि क्षमताजनक पदार्थ हैं, तथापि उनकी उपस्थिति रोगी की क्षमता की निदर्शक नहीं मानी जा सकती। इनकी अनुपस्थिति मात्र क्षमता के अभाव की निदर्शक होती है। पुंजकारक पदार्थ रोगी के रक्त में प्रथम सप्ताह में नहीं मिलते हैं। प्रथम सप्ताह के बाद उनको

मात्रा अधिकाधिक होने लगती है जो तृतीय सप्ताह के अन्त में याने २१वें दिन सबसे अधिक होती है। इसके बाद यह धीरे-धीरे कम होने लगती है और अल्प मात्रा में वर्षों तक रह सकती है। इसलिए पुञ्जी करण कसौटी के लिये सर्वोत्तम काल १० २१वें दिन तक का होता है।

पुंजीकरण कसौटी—इसका उपयोग अनेक रोगों के निदान के लिये (पृष्ठ ९८) किया जाता है। इसीको ही विडाल की कसौटी (Widal's Test) भी कहते हैं। इसकी विधि दो प्रकार की होती है—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म में पुञ्जीकरण सूक्ष्मदर्शक से देखा जाता है और स्थूल में आँखों से देखा जाता है। इस कसौटी के लिये रोगी की लसिका, बै. टैफाइड का इमल्शन और लवणजल, ड्रॉपर की नलिकाएँ और रेक, पिपेट, मलावगाह इत्यादि की आवश्यकता होती है।

प्रथम कोहनी के सामनेवाली सिरासे विशोधित पिचकारी द्वारा ३ सी. सी. रक्त निकालकर उसको विशोधित नलिका में रखना चाहिए। लसिका पृथक् होने के पश्चात् उसका उपयोग करना चाहिए।

स्थूलपद्धति—प्रथम लसिका के १० बूँद लेकर उसके साथ ९० बूँद लवण जल मिलाया जाता है। इस प्रकार १ : १० लसिका का मिश्रण बनता है और इसका उपयोग रेक में रक्खी हुई पाँच नलिकाओं में निम्न कोष्टक के अनुसार किया जाता है।

नलिका की संख्या	१	२	३	४	५
लवणजल मिश्रलसिका के बूँद	१०	५	२	१	०
लवणजल के बूँद	०	५	८	९	१०
टैफाइड इमल्शन के बूँद	१५	१५	१५	१५	१५
अन्तिम मिश्रण	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	मिश्रण

इस प्रकार नलिकाओं का मिश्रण बनाने के पश्चात् उस रेक को ५५° में मलावगाह में २ घंटे तक रक्खा जाता है। इसके पश्चात् उसको निकाल कर और नलिकाओं का पानी पोंछकर १५ मिनिट तक उनको

रख देते हैं और उसके पश्चात् पुञ्जीकरण के लिये देखा जाता है। जब प्रतिक्रिया व्यक्त होती है तब मक्षिका के तरल में सफेद गुच्छे (Clumps) भीतर छटके हुए या तली में बैठे हुए दिखाई देते हैं। जब प्रतिक्रिया अव्यक्त होती है तब कुछ धुंधलापन (Haziness) आ जाता है परन्तु गुच्छ नहीं मिलते। स्थूल परीक्षा के लिये सूक्ष्मदर्शक की और सजीव जीवाणुओं की यद्यपि आवश्यकता नहीं होती तथापि इसके लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है।

सूक्ष्मपद्धति—(Microscopic Method)—उपर्युक्त पद्धति के अनुसार मात्र लसिका को लेकर उसके तीन मिश्रण किये जाते हैं १ १०, १: २०, १: ५०। इसके लिये गड्ढेदार थाली होती है। प्रथम एक बूंद लसिका लेकर उसके साथ ९ बूंद लवणजल प्रथम गड्ढे में मिलाया जाता है। यह १ १० मिश्रण हो गया। फिर दूसरे गड्ढे में १ बूंद और तीसरे में १ बूंद प्रथम मिश्रण का रक्खा जाता है और दूसरे में और तीसरे में लवणजल के एक और चार बूंद क्रम से मिलाये जाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त तीन मिश्रण बनते हैं। फिर गड्ढेदार पटरी के ऊपर प्रत्येक गड्ढे का एक बूंद लेकर उसके साथ एक बूंद टैफाइड इमल्शन का मिलाया जाता है। इस परीक्षा के लिये सजीव जीवाणुओं का इमल्शन अधिक फलदायी होती है। इस प्रकार १: २०, १: ४०, १ १०० के मिश्रण पटरी पर बन जाते हैं। तदनन्तर इनके ऊपर ढक्कन रखकर ये सब पटरियाँ उष्मपोषक में ३७ सें० पर ½ से १ घंटे तक रक्खी जाती हैं। इसके बाद सूक्ष्मदर्शक से प्रत्येक का परीक्षण किया जाता है। प्रतिक्रिया व्यक्त होने पर बै० इकट्ठे हुए और निश्चल दिखाई देते हैं, अव्यक्त होने पर संपूर्ण तरल में फैले हुए और गतियुक्त होते हैं।

प्रत्येक परीक्षा में एक नियन्त्रण मक्षिका या पटरी रक्खी जाती है जिसमें रोगी की लसिका के बदले लवण जल मिलाया जाता है। इस

नियन्त्रण (Control) पट्टी या नलिका में पुञ्जीकरण न दिखाई देना चाहिये।

विड़ाल की कसौटी के समय बै० टैफाइड के समान में० पैरा टैफा इड ए और बी दोनों का भी पुञ्जीकरण देखा जाता है। पुञ्जीकरण नीचे दिये हुए मिश्रण से अधिक मिश्रण में मिलना चाहिये। इससे कम मिश्रण में मिले हुए पुञ्जीकरण का कोई भी मुख्य निदान की दृष्टि से नहीं होता, क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति के रक्त में बै० टैफाइड तथा तत्संबंधी अन्य जीवाणुओं के लिये पुञ्जकारक पदार्थ उपस्थित रहते हैं। बै० टै० १ ६० बै० पैराटैफाइड १ १०, बै० पैराटैफाइड बी १ : १२० ।

विड़ाल कसौटी के अर्थ—जब किसी रोगी या व्यक्ति की नलिका में विड़ाल कसौटी व्यक्त होती है तब उसके चार अर्थ होते हैं:—(१) यह रोगी आन्त्रिक ज्वर से पीड़ित है। (२) यह व्यक्ति आन्त्रिक ज्वर से पीड़ित होकर कुछ समय पहले रोगमुक्त हो चुका है। (३) इस व्यक्ति ने आन्त्रिक टीका लगवाया है। (४) यह व्यक्ति आन्त्रिकवाहक है। जब यह कसौटी किसी व्यक्ति या रोगी में अव्यक्त होती है तब उसके निम्न अर्थ होते हैं —

(१) यह रोगी आन्त्रिक ज्वर से पीड़ित नहीं है। (२) यह रोगी आन्त्रिक ज्वर से पीड़ित होगा परन्तु पुञ्जकारक पदार्थ उत्पन्न होने से पहले यानी प्रथम सप्ताह में परीक्षा की गयी है। (३) अथवा रोगी की प्रतिकार शक्ति अत्यन्त क्षीण है। यह अवस्था असाध्यतादर्शक होती है और रोगी के लक्षणों को देखकर इसका प्रत्यय आ जाता है। (४) अथवा उपसर्गकारी बै० गतिहीन प्रकार का है। टीका लगाये हुए व्यक्ति में कई बार एक कसौटी से रोगनिदान करना कठिन होता है उस समय निम्न दो नियमों के आधार पर रोग का निदान किया जा सकता है। (१) क्रमिक कसौटियों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक मिश्रण में पुञ्जीकरण मिलना। (२) १:१०० मिश्रण में भी पुञ्जकारकों का मिलना (१६:११)।

पाहकों की पहचान—इनके मल, मूत्र और पित्त का परीक्षण (पृष्ठ २१०) करके और विडाल कसौटी के द्वारा इनकी पहचान की जाती है। मल-परीक्षण के लिये पहले इनको केलोमल और ग्लाबर सल्फ का विरेचन देकर उससे होनेवाले प्रथम दस्त को छोड़कर दूसरे या तीसरे दस्त का मल ग्रहण करना चाहिये। विडाल कसौटी के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसकी अभ्यक्ति पाहकावस्था को निपेधक नहीं होती। आजकल आंत्रिक ज्वर निदान के लिए विडाल कसौटी का उपयोग प्रथम किया जाता है। जब लक्षणों से रोग आंत्रिक मालूम होता है और दस दिन के पश्चात् भी विडाल व्यक्त नहीं होती तब मल और मूत्र का परीक्षण पै० टैफाइड के लिए उपर्युक्त पद्धतियों (पृष्ठ२१०) के द्वारा करके देखना चाहिए। आंत्रिक के अतिरिक्त क्वचित विडाल कसौटी विपमज्वर, न्युमोनिया तीव्र सार्वदैहिक राजयक्ष्मा और पुष्ट हृदन्तशोथ इत्यादि विकारों में व्यक्त हो जाती है। परन्तु उत्तरोत्तर अधिकाधिक मिश्रण में कसौटी की व्यक्ति इनमें भी नहीं मिलती।

संशयित आन्त्रिक में निदानक्रम—काल दस दिन से कम होने पर रक्तगत पै० की वृद्धि करके देखना चाहिये। यदि रक्त-परीक्षण अव्यक्त हो और रोग का काल १० दिन से अधिक हो तो बै० टैफाइड के साथ विडाल कसौटी करके देखना चाहिये। यदि अव्यक्त हो तो १४ दिन के पश्चात् फिर से विडाल कसौटी करो और मलमूत्रगत जीवाणुओं की जांच करो। फिर भी यदि विडाल और मलमूत्र परीक्षण अव्यक्त हो तो फिर सतीन दिन के पश्चात् विडाल और मलमूत्र की जाँच करो। इस समय यदि अव्यक्त मिले तो रोग आंत्रिक नहीं है ऐसा समझ सकते हैं।

अतिसार वर्ग के बैसीलाय (Dysentery bacilli)

अतिसार उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के बैसीलाय का यह वर्ग है। इस वर्ग के सब बैसीलाय में निम्न बातों में समानता होती है:—

(१) ये सब इयर्येहा वर्ग के हैं। (२) कम्पुष्प रहित अतएव स्थिर हैं। (३) सब मामस्यागी हैं। (४) स्याक्टोस में अभिर्पण नहीं उत्पन्न करते। (५) ग्लूकोस में केवल अम्ल उत्पन्न करते हैं।

भेद—(Varities)—यद्यपि इस वर्ग में अनेक प्रकार के पेसी लाप होते हैं, तथापि व्यवहारिक दृष्टि से इनके मुख्य दो भेद किये जाते हैं;—(१) शिगा क्रूस भेद (Shiga kruse type)—इस भेद के बै०मनाइट में अभिर्पण नहीं उत्पन्न करते तथा इन्डोल भी नहीं बनाते हैं। इस भेद का मुख्य पैसीलस डीसेंटरी शिगा (Ebrthella Dysenteriae) है। इसके अतिरिक्त पै० डीसेन्टरी स्मीटस (B D Schmitze) भी इस भेद में समाविष्ट किया जाता है। (२) फ्लेक्सनर भेद (Flexner type)—इस भेद के बै० मनाइट में अभिर्पण उत्पन्न करते हैं और इन्डोल बनाते हैं। इस भेद का मुख्य पै० डीसेन्टरी फ्लेक्सनर (E. Paradysenteriae) है। इसके अतिरिक्त पै० डीसेन्टरी सोने (B D Sonne) भी इसमें समाविष्ट किया जाता है।

वासस्थान—अतिसार पीड़ित रोगियों के मल में प्रारंभ में ये बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। धीरे धीरे इनकी संख्या कम होने लगती है और आखिर में ये मल में नहीं के बराबर होते हैं। रोगी के समान वाहकों के मल में भी उपस्थित रहते हैं, परन्तु इनका उत्सर्ग लगातार न होकर बीच बीच में हुआ करता है।

सहचर (Concomitants)—अतिसार जब अच्छा होने लगता है तब पै० अतीसार की संख्या कम होने लगती है परन्तु उनके साथ कुछ दूसरे पै० मिलने लगते हैं और अन्त में अतीसार के पै० पूर्णतया नष्ट होकर केवल ये ही रा[illegible] ये सहचर [illegible] हैं। इनमें निम्न मुख्य हैं:—पै० मा[illegible] प० पराकोलन, पै० फीक्यालिस [illegible]

शरीर और रंजन—ये १ ॰ म्यू लंबे और आधा म्यु चौड़े हैं। ये तन्तु पिच्छ हीन और निश्चल होते हैं। मामस्यागी हैं।

जीवन व्यापार और सवर्धन—ये वातपी और समाम्य वातमी हैं। पोषक तापक्रम ३७° सें॰ है। इनकी वृद्धि जरा सी अम्ल प्रतिक्रिया से रुक जाती है। क्षारीय प्रतिक्रिया वृद्धि पोषक होती है। सामान्य तथा विशेष वर्धनकों के ऊपर इनकी वृद्धि आसानी से होती है। इनके संघ ये॰ टैफोसस के समान परन्तु कुछ सुकुमार होते हैं।

जायम रासायनिक प्रतिक्रिया—इनसे शकराओं में वायु नहीं उत्पन्न होती (पृष्ठ ९४ देखो)। पेप्टोन जल में इन्डोल बनाने की शक्ति फ्लेक्सनर में है, शिगा में नहीं है। इसके अतिरिक्त पेप्टोन जल में इनसे एसेटिक, ल्यूटिक, फार्मिक इत्यादि अम्ल भी बनते हैं।

जीवन क्षमता और प्रतिकार—अन्य तृणाणुओं के समान इनमें उष्णता, प्रकाश इत्यादि के साथ प्रतिकार करने की साधारण शक्ति होती है। परन्तु भूमि जल, दूषित वस्त्रादि में ये अनुकूलता मिलने पर अधिक काल तक जीवनक्षम और उपसर्गकारी रह सकते हैं।

विपोत्पत्ति—शिगा और फ्लेक्सनर में विपोत्पत्ति की दृष्टि से बड़ा भारी फर्क है। शिगा अतिसार के ये॰ बहिर्विष उत्पन्न (पृष्ठ ३॰) करते हैं। इस विष का परिणाम मस्तिष्क संस्थान के ऊपर होकर पेशियों का घात होता है। इसको घातजनक (Parietic) कहते हैं। बहिर्विष के अतिरिक्त इनसे अन्तर्विष भी बनता है जिसका परिणाम आंत्र के ऊपर होकर अतिसार, शरीर शोष (Marasmus) और शरीर का ताप कम करना इत्यादि लक्षण होते हैं। बहिर्विष के लिये प्रतिविष होता है, परन्तु अन्तर्विष के लिये नहीं होता।

फ्लेक्सनर ये॰ से केवल अन्तर्विष बनता है जो अत्यन्त सौम्य होता है। शिगा विष इससे २॰ गुना अधिक उग्र होता है।

अतिसार के बै० से आंत्र में अनेक सेन्द्रिय अम्ल बनाते हैं जो शरीर पर कुछ विषैला परिणाम करते हैं।

विकारकारिता—इससे अतीसार (Dysentery) नामक रोग होता है। इसमें स्थूलान्त्र में तीव्र शोथ उत्पन्न होकर कुथन (Tenesmus) और मरोड़ के साथ आँव और रक्त मिले हुए दस्त होते हैं। इस रोग की प्रधान विकृति स्थूलान्त्र के अन्तिम हिस्से में और क्वचित सूक्ष्मान्त्र के अन्तिम १ २ फुट में होती है। बै० आन्त्र में ही रहकर वृद्धि करते हैं और उनका विष इकट्ठा होकर स्थानिक तथा सार्वदैहिक विकृतियाँ होती हैं। इसमें आंत्रिक ज्वर के समान बै० रक्त में नहीं पहुँचते, अधिक से अधिक आंत्र निर्यमिनी की ग्रन्थियों तक जा सकते हैं। अर्थात् इसमें पूणाणुमयता नहीं होती। विष का स्थानिक परिणाम श्लेष्मल त्वचा पर सबसे अधिक और उपश्लेष्मल त्वचा पर कम होता है और बाकी दो स्तर बच जाते हैं। विष के कारण श्लेष्मलत्वचा तथा उसके नीचे रक्ताधिक्य, सेलमरण होकर उससे उसके ऊपर फ़ैब्रिनयुक्त शोथज स्राव की तह बन जाती है और धीरे धीरे श्लेष्मल त्वचा का नाश होने लगता है और व्रण बनने लगते हैं। कुछ विष आन्त्र से शोषित होकर संधिशोथ, नाड़ीशोथ, नेत्र विकार इत्यादि उपद्रव उत्पन्न करता है। संक्षेप में इस रोग में विषमयता ही मुख्य है जो शिगा में अधिक और फ्लेक्स्नर में बहुत कम हुआ करता है। इस लिये फ्लेक्स्नर अतीसार की अपेक्षा शिगातीसार अधिक तीव्र स्वरूप का और संधिशोथादि उपद्रवों से युक्त होता है।

रोग का प्रसार—रोगी के मल में अतीसार के बै० उपस्थित रहते हैं। इसलिये मलदूषित खाद्यपेय पदार्थों के सेवन से अतीसार स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होता है। खाद्यपेय पदार्थों की दुष्टि मलदूषित हाथों से और मक्खियों से प्रायः हुआ करती है। इसमें वाहक बड़ा भारी भाग लेते हैं।

अतीसार वाहक—रोग जब पुराना होता है तब आन्त्रगत सब वर्णों का शोषण अच्छी तरह नहीं होता। कहीं कहीं सान्तव धातु बनती है जो आगे चलकर सिकुड़ जाती है। इसके कारण कहीं-कहीं झुरियाँ, कोष्ठ, अवकाश (Pockets, cysts, sacculations) बन जाते हैं जिनमें बै० की वृद्धि होती रहती है और वे समय समय पर मल के साथ उत्सर्गित होते रहते हैं। वाहक दोनों प्रकार के होते हैं। इसका कारण यह है कि शिगा में आन्त्रस्थ विकृति अधिक तीव्र स्वरूप की होती है जिससे अवकाशादि की उत्पत्ति होने की संभावना अधिक रहती है। शिगा के वाहक कुछ दुबले पतले और सदैव रोगी से दिखाई देते हैं और फ्लेक्स्नर के वाहक देखने में प्रायः स्वस्थ होते हैं।

चिकित्सा—शिगातीसार में लसिका का बहुत उपयोग होता है। मध्यम रोग में पेशी में और तीव्र रोग में शिरा में ५० १०० सी सी की मात्रा दी जाती है। यदि आवश्यकता मालूम हो तो १२-२४ घंटे में फिर से लसिका का प्रयोग कर सकते हैं।

अतिसार में फेज भी उपयोग में लाया (पृष्ठ ३७) जाता है। मात्रा २ ३ सी सी दिन में ३-४ बार दी जाती है। उसके साथ थोड़ा सोडा मिलाना अच्छा होता है। उसके पहले तथा पश्चात् एक घंटे के भीतर रोगी को खाने के लिये कुछ भी न देना चाहिये।

प्रतिषेध के लिये वैक्सीन का उपयोग किया जाता है। इसके दो खोराक होते हैं जो १० दिन के अन्तर पर प्रयुक्त होते हैं। यह वैक्सीन अत्यन्त विषैला होने के कारण इसके साथ लसिका का (Sero-vaccine) उपयोग किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—अतिसार में रक्त और मूत्र में कारणभूत जीवाणु नहीं होते, केवल मल में होते हैं। परीक्षण के लिये मल ताजा होना चाहिये। जिसमें आँव और रक्त मिला रहता है वह भाग अच्छा रहता है। परीक्षण निम्न पद्धतियों से किया जाता है।

आँखों से और सूक्ष्मदर्शन से निरीक्षण—बैसीलरी अतीसार

में मल गुलाबी रंग का, दुर्गन्धिरहित, रक्त और आँव से अच्छी तरह मिला हुआ और प्रतिक्रिया में क्षारीय होता है। सूक्ष्मदर्शक से देखने पर इसमें सेलों की भरमार होती है। इन सेलों में बहुकेन्द्रीय श्वेतकण और बृहद्भक्षककण (Macrophages) बहुत होते हैं। दण्डाणु बहुत कम होते हैं। लाल कण पृथक् पृथक् रहते हैं। अमीबिक में मल का रंग भूरा, दुर्गन्ध, परिवर्तित रक्त, प्रतिक्रिया अम्ल होती है। सूक्ष्मदर्शक से देखने पर इसमें सेलों की संख्याल्पता होती है। श्वेतकण विरल, बृहत्कणों का अभाव, लाल कण गुच्छे में या एक दूसरे के ऊपर पंक्ति में गिरे हुए (Rouleaux) होते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें चेतन तृणाणु अमीबा उनके सिस्ट या शार्कोलेडन स्फटिक मिलते हैं।

(२) संवर्धन—ताजे मल को म्याकोंकी में या अन्य उचित माध्यम में रोपित करके २४ घंटे तक ३७° सें पर उसको उष्मपोषित करें। तदनंतर अभिषवण कसौटी से, प्रलंबबिंदुपद्धति (Hanging drop Method) के द्वारा गतियुक्तता या गतिहीनता को देखकर, और पुञ्जीकरणपद्धति से उनकी पहचान करें। अतीसार के ये म्याकोंकी में अनभिषवणी, ग्लूकोस में केवल अम्लजनक, गतिहीन और शिगा या फ्लेक्सनर की क्षमलसिका से इकट्ठे होनेवाले होते हैं।

(३) पुञ्जीकरण कसौटी—अतीसार में का उपसर्ग होने पर रोगी के रक्त में आन्त्रिक ज्वर के समान ८ दिन के बाद पुञ्जकारक उत्पन्न होते हैं। इनमें समुद्रूप न होने के कारण केवल दो प्रकार के (पृष्ठ १११) पुञ्जकारक बनते हैं। शिगावर्ग के ये चाहे जितने प्रकार के हों लसिकाविषयक दृष्टि से ये एक विध (Homogeneous) होते हैं जिससे किसी प्रकार के शिगा दं से उत्पन्न की हुई क्षमलसिका शिगावर्ग के सब दं को इकट्ठा करने में समर्थ होती है। फ्लेक्सनरवर्ग के दं इस लसिका विषयक दृष्टि से देखे जायें तो ये अनेक विध (Heterogeneous) मालूम होते हैं क्योंकि एक फ्लेक्सनर दं से

बनायी हुई क्षमलसिका सब फ्लेक्समरवर्ग के यै को इकट्ठा करने में असमर्थ होती है। इस आधार पर फ्लेक्सनर यै के भी कम्यु एक्स, वाय, झेड् करके कई भेद किये गये हैं। इनमें वाय प्रकार अधिकव्यापी होने के कारण क्षमलसिका इसीके लिये बनायी जाती है।

अतीसार तीव्र और अल्पकालीन रोग होने के कारण ८ दिन के पश्चात् मिलनेवाली पुञ्जीकरण कसौटी से रोग निदान करना निरुपयोगी हो जाता है। इसलिये तीव्र रोग में इसका उपयोग नहीं किया जाता। चिरकालीन (Chronic) रोग में और वाहकों में निदान के लिए इसका उपयोग कर सकते हैं। विडाक कसौटी के समान यह कसौटी की जाती है। शिगा के लिये १: ५० में और फ्लेक्स्नर के लिये १ २५ में पुञ्जीकरण मिलना चाहिये। इसमें मक्खियाँ ५५ सें पर २ घंटे रखनी पड़ती हैं।

(४) रक्तकणगणना—तीव्र रोग में श्वेतकणोत्कर्ष होता है जिसमें बहुकेन्द्रीय कणों की अधिकता होती है। रोग पुराना पड़ने पर कुछ रक्त क्षय हो जाता है।

यैमोलस पैराटैफोसस (Salmonella Paratyphi)

भेद—ये पैराटैफाइड के तीन प्रकार होते हैं—(१) यै पै ए (S Paratyphi) (२) यै पै बी (S Schottmulleri) (३) यै पै सी (S Hirschfeldi)

वासस्थान—ये मनुष्यों और प्राणियों के आन्त्र में, भूमि, पानी इत्यादि में पाये जाते हैं।

शारीर और रंजन—ये १ ३ म्यु लंबे और आधा म्यु चौड़े होते हैं। ये वस्नुपुच्छयुक्त और चंचल होते हैं। ग्रामत्यागी हैं।

संवर्धन और जीवनरासायनिक प्रतिक्रिया—ये सामान्य वर्धनकों पर वर्धित होते हैं। म्याकोंकी के ऊपर इनके संघ रंगहीन होते हैं। जीवनरासायनिक प्रतिक्रिया के लिये पृष्ठ ९५ देखो।

जीवनक्षमता और प्रतिकार—यें टैफाइड या कोलायफर्म के वैसे ये अधिक प्रतिकारक होते हैं। मल सूखने पर भी ये अनेक दिनों तक और पानी में महीनों तक ये जीवनक्षम रह सकते हैं। आमाशायिक रस से तथा ६०° सें की आर्द्र उष्णता से ये कुछ मिनिटों में मर जाते हैं। ७.८ प्र श नमक से इनकी वृद्धि रुक जाती है।

विकारकारिता—इनसे आन्त्रिक के समान परान्त्रिक (Paratyphoid) ज्वर उत्पन्न होता है। यह ज्वर बी और सी की अपेक्षा ए से अधिक होता है। ये रोगी के मल में उपस्थित रहते हैं। ए से होनेवाले ज्वर में ११वें दिन से और बी के ज्वर में दूसरे सप्ताह के अन्त से ये मिलने लगते हैं। आन्त्रिक के समान मलदूषित खाद्य पेयों से इसका प्रसार होता है। आन्त्रिक के समान इनके भी वाहक होते हैं जो रोग प्रसार में सहायता करते हैं। परान्त्रिक की सब विकृतियाँ आन्त्रिक के समान परन्तु सौम्यस्वरूप की होती हैं। इसलिये इस ज्वर में आन्त्रभेद रक्तस्राव आदि भयानक उपद्रव नहीं उत्पन्न होते।

चिकित्सा और प्रतिषेध—आन्त्रिक के समान ( )

निदान—आन्त्रिक के समान रक्त, मल का परीक्षण और विडाल की कसौटी से किया जाता है। विडाल में ए के लिये १:१२५ का और बी के लिये १:५० का मिश्रण पुञ्जीकरण के लिये पर्याप्त माना जाता है।

बैसीलस एन्टरीटीडस (S Enteritidis)

सामान्य विवरण—यह रोगियों के मल मूत्र में, मल दूषित सागसब्जी तरकारी फल दूध इत्यादि में, बैल सुअर इत्यादि के मांस में, मक्खियों में पाया जाता है। शारीररचनादि बातों में यह पैरा टैफाइड बी के समान होता है और केवल पुञ्जीकरणपद्धति से इससे पृथक किया जा सकता है। इससे उत्पन्न होनेवाला विष उष्णसाही है जो १००° सें पर आधा घंटा पकाने पर भी नष्ट नहीं होता। इसलिये

इसस दूषित मांस पकाने के बाद भी भक्षणयोग्य नहीं होता।

विकारकारिता—इससे दूषित खाद्य पेयों के सेवन से आमाशयान्त्र शोथ उत्पन्न होकर पेट में पेंठन, मितली, वमन आँव और क्वचित रक्तयुक्त पतले दस्त इत्यादि पचन संस्थान के और ज्वर तृषा, हाथ पैरों में पेंठन, मूर्च्छा इत्यादि विषजन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोग की अवधि एक सप्ताह की होती है। इसके बाद रोगी धीरे-धीरे ठीक होने लगता है। इस रोग को साल्मोनेला अन्नदोष (Salmonella food poisoning) कहते हैं। यह दोष बे० एन्टरीटीडस के अति रिक्त अनेक दण्डाणुओं के द्वारा भी होता है।

निदान—इसके लिये दूषित अन्न वमन तथा मल की परीक्षा आन्त्रिक के समान कारणभूत जीवाणुओं के लिये तथा रक्तलसिका की परीक्षा पुंजीकरण कसौटी के लिये की जाती है। निदान के समय हुए विषमज्वर और विसूचिका का ध्यान रखकर रक्त का परीक्षण विषम ज्वर कीटाणु के लिये और मल का परीक्षण विसूचिका वक्राणु के लिये भी करना चाहिए।

दूषित अन्न रोग का पार्थक्य

बे० एन्टरीटीडिस	बे० बोटूलिनस (पृष्ठ १६१)
१ भारतवर्ष में साधारणतया प्राप्त	१ डिब्बे का मांस खाने की प्रथा कम होने से असाधारण।
२ कारणभूत जीवाणु वातपी, अस्पोर जनक मांसत्यागी।	२ कारणभूत जीवाणु वातमी, स्पोरजनक और मांसग्राही।
३ पचन संस्थान में जीवाणुओं की वृद्धि होने से लक्षणों की उत्पत्ति अर्थात् उपसर्ग जनित।	३ पचन संस्थान में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर रोग नहीं हो सकता, अर्थात् रोग उपसर्ग जनित नहीं है। शरीर में प्रवेश होने से पूर्व उत्पन्न हुए विष के

	सेवन से रोगोत्पत्ति होती है। अर्थात् अन्तर्विषता।
४ रोगी से दूसरे पर रोग का संक्रमण।	४ रोगी से दूसरे पर रोग का संक्रमण असंभव।
५ एकाएक आक्रमण, पचन संस्थान के लक्षण ज्वर, अल्पावधि और मृत्यु का प्रमाण १ २ प्र० श०।	५ धीरे धीरे आक्रमण, मस्तिष्क संस्थान के लक्षण बेलाडोना के विष के समान, निर्ज्वर, दीर्घावधि और ६०-७० प्र० श० मृत्यु का प्रमाण।
६ चिकित्सा तात्कालिक।	६ शक्तिशाली प्रतिविष से।

रंगजनक तृणाणु (Chromogenicgroup)

स्यू० पायोसैनीअस (Pseudomonas Aeruginosa)

वासस्थान—यह जमीन मोरी परनाला, पानी इत्यादि में पाया जाता है। मनुष्यों तथा पशुओं के आंत्र में त्वचा पर और श्वसन संस्थान में सहवासी के तौर पर रहता है।

शरीर और रंजन—यह आधा म्यू चौड़ा और १·५ से ३ म्यू लंबा होता है। इसके एक से तीन अन्तिम तन्तुपिच्छ होकर यह बहुत गतियुक्त होता है। यह ग्रामत्यागी है।

संवर्धन - यह वातपी और संभाव्य वातमी है। पोषक तापक्रम ३७·५° सें० है। साधारण वर्धनकों में इसकी वृद्धि होती है। वृद्धि के साथ साथ हरे और नीले वर्ण का रंग (नीलपूयक, Pyocyanin) उत्पन्न होता है जिसके लिये प्राणवायु की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त फ्लोरेसिन (Fluorescin) नामक दूसरा भी रंग इससे बनता है। ये रंग वर्धनकों में भी फैलते हैं।

विषोत्पत्ति—इससे बाह्य और अन्तर्विष उत्पन्न होता है। वृद्धि के साथ साथ इससे पायोसायनेज (Pyocynase) नामक फर्मेन्ट बनता है जिसमें बै० ऐन्थ्राक्स, बै० डिफ्थीरिया इत्यादि तृणाणुओं को गलाने की शक्ति होती है। इसलिये इसका गाढ़ा घोल ऐन्थ्राक्स के उपसर्ग से रक्षा करने के लिये जानवरों में और रोगनिवृत्तों के गले से रोहिणी के बैसीलाय को नष्ट करने के लिये किया जाता है।

विकारकारिता—प्रयोगशाला के प्राणियों के लिये यह विकारी है, परन्तु मनुष्यों के लिये नहीं। अन्य पूयोत्पादक तृणाणुओं के साथ यह पूययुक्त विकृतियों में नीला पूय उत्पन्न करता है। क्वचित् दुर्बल बालकों में इससे प्रवाहिका और मध्यकर्णशोथ भी होता है। इसके अतिरिक्त आंको न्यूमोनिया तथा फुफ्फुसावरण शोथ इत्यादि दूषित विकारों में यह अन्यपूयजनक जीवाणुओं के साथ मिलता है।

बै० प्राडिजिओसस (Serratia marcescens)

यह एक अत्यन्त छोटा मिश्रवर्णी तृणाणु है जो जल, भूमि तथा दूषित अन्न में मिलता है। सामान्य वर्धनकों में यह बढ़ता है और इसके सब काल होते हैं। यह निर्विकारी है। इसका महत्त्व निम्न बातों में होता है। (१) बर्केफील्ड निस्यन्दक के छिद्रों की सूक्ष्मता जानने के लिये। (२) वातमी संवमन के लिये (पृष्ठ ६६)। (३) सार्कोमा की चिकित्सा के लिये। इसके लिये इसके साथ स्ट्रप्टो कोकाय मिलाये जाते हैं। इस वैक्सीनको कोलि का द्रव (Coley's fluid) कहते हैं। मात्रा ०५ सी सी।

तीसरा अध्याय

विब्रियो कोमा (Vibrio cholerae)

वासस्थान—यह पूर्ण परोपजीवी जीवाणु है। यह विसूचिका रोगियों के तथा वाहकों के आन्त्र में रहकर वमन और मल के साथ उत्सर्गित होता है तथा उससे दूषित खाद्यपेयों में कुछ काल तक रहता है।

शरीर और रंजन—यह दो म्यू लंबा और ½ म्यू चौड़ा है। यह बीच में किंचित् टेढ़ा होने से अल्पविराम (,) के समान दिखाई देता है। इसलिये इसको कोमा बैसीलस कहते हैं। ये दो आपस में लंबाई में मिलने पर एस् (S) के समान और दो से अधिक मिलने पर ये चक्रकाणु के समान दिखाई देते हैं। इसके एक तरफ एक तन्तु पुच्छ रहता है और इसके कारण यह बड़ी फुर्ती से गति करता हुआ दिखाई देता है। इसलिये इसको विब्रियो नाम दिया गया है। पतरियों पर रंजन करने से ये असंख्य जीवाणु पानी में 'तैरनेवाली मछलियों के समान (Fish in-stream) समान्तर पंक्तियों में फँसे हुए दिखाई देते हैं। यह अस्पोरजनक और कोषरहित है। पुराने वर्धनक में इसके अपक्रमाकार दिखाई देते हैं।

यह ग्रामऋणी है। तन्तुपिण्ड के लिये विशेष रंग की आवश्यकता होती है। इसको देखने के लिए उत्तम रंग १० १५ गुना पतला किया हुआ कार्बोल फुक्सीन है।

जीवन व्यापार और संवर्धन—यह वातजी और संभाव्य वातजी है। पोषक तापक्रम ३० सें० है। सामान्य वर्धनकों में इसकी वृद्धि होती है। वृद्धि के लिये क्षारीय प्रतिक्रिया पोषक और अम्ल प्रतिक्रिया

विरोधी होती है। इस आधार पर इसके लिए विशिष्ट वर्धनक (पृष्ठ ५८ नं० ६, ७, ८) बनाये गये हैं। जिल्याटिन में वेधन रोपण करने पर प्रथम वेधन के स्थान में पृद्धि की एक श्वेत रेखा बनती है और धीरे धीरे ऊपर व नीचे की ओर जिल्याटिन तरल होने लगता है। परंतु ऊपर प्राणवायु अधिक होने के कारण तरल भाग बड़ा और नीचे नोकीला होता जाता है, जिससे जिल्याटिन का तरल भाग चोंगे के समान (Funnel-shaped) दिखाई देता है। बटर्रैम के वर्धनक पर १ घण्टे में इसकी प्रचुरवृद्धि होती है जो इसके पृष्ठ भाग पर एक पतली तह के रूप में फैल जाती है। बयूडोमे के वर्धनक पर आम्ल्रत्य सब जीवाणुओं की वृद्धि रुककर केवल इसकी वृद्धि छोटे छोटे स्वतन्त्र, पारदर्शी और आर्द्र संघों के रूपमें होती है। टारोकोसेट भगरपर मोतीसम लिए पारदर्शी आर्द्र संघ उत्पन्न होते हैं।

ओधन रासायनिक प्रतिक्रिया—विब्रिओ कोमा में प्रोटीन-द्रावक शक्ति है। इसके लिये क्षारीय प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है। आम्ल प्रतिक्रिया इसको रोकती है। इसी के कारण यह जिल्याटिन और जमी हुई लसिका को तरल बना देता है। यह क्षारीय पेप्टोनजल में इन्डोल भी बनता है। इसी के आधार पर कौलरा रेड या नैट्रोसोइन्डोल (Cholera red, nitroso indol) प्रतिक्रिया मिलती है। इसके लिए कौलरा जीवाणुयुक्त पेप्टोनजल में गंधक का तेजाब डाला जाता है। इससे इसमें लाल रंग का नैट्रोसो इन्डोल बन जाता है। वास्तविक कोलेरा विब्रिओं में रक्तद्रावण की शक्ति नहीं है। परन्तु विसूचिका सम अन्य विब्रिओं में यह शक्ति होती है।

ओधन क्षमता और प्रतीकार—साधारणतया यह उष्णता, शुष्कीकरण, अम्ल, जीवाणुनाशक घोल इनके साथ अधिक प्रतिकार नहीं कर सकता। शुष्कीकरण से यह २ १ घण्टे में, सूर्यप्रकाश से १ १ घण्टे में ५५° सं० की उष्णता से ½ घण्टे में और ½ प्र० प्र० कार्बोलिक

मीक से कुछ ही मिनिटों में यह मर जाता है। तिक्त पाचित रसमें भी यह अधिक काल तक नहीं रह सकता। अम्ल से यह जल्दी मर जाता है। हैड्रोक्लोरिक एसिड $\frac{1}{10}$ म० श० प्रमाण में इसका नाश कर सकता है। इसलिये स्वस्थ व्यक्ति का आमाशयिक रस इसका नाश करने में समर्थ होता है और इसी के कारण दूषित अन्नपेय सेवन करने पर भी अनेकों की रक्षा इसके उपसर्ग से हो जाती है।

यद्यपि उपर्युक्त बातों में यह बहुत कमजोर मालूम पड़ता है, तथापि अन्य कुछ बातों में इसके पास प्रतिकार करने की अधिक शक्ति होती है जिसके कारण इसका उपसर्ग लोगों को पहुँच सकता है। बरफ या बरफ से भी अधिक शीत तापक्रम को यह सह सकता है। कपड़ों में यदि कुछ तरी रहे तो उनमें तथा साग सब्जी तरकारी फल इनके ऊपर भी यह अनेक दिनों तक जीवनक्षम और उपसर्गकारी रह सकता है। कूप तालाब इत्यादि के पीने के पानी में भी कुछ दिनों तक रहने की भी इसमें शक्ति होती है।

विषोत्पत्ति—इससे केवल अन्तर्विष बनता है। कुछ वैज्ञानिकों की राय है कि इससे घुलनशील बहिर्विष भी बनता है।

विकारकारिता—इससे विषूचिका (Cholera Asiatica) नामक रोग होता है। मनुष्येतर प्राणियों में यह रोग नहीं होता। जीवाणु क्षुद्रान्त्र में पहुँचने पर वृद्धि करते हैं और उसके साथ साथ उनसे विष भी बनता जाता है। इसके परिणाम से आन्त्र में प्रसेकी शोथ (Catarrhal) श्लेष्मलत्वचा का नाश, रक्तयुक्त या रक्तहीन लसिका का स्राव इत्यादि स्थानिक विकृतियाँ होती हैं। इनके कारण रोगी को पानी के समान पतले दस्त होने लगते हैं। जीवाणु आंत्र की श्लेष्मल त्वचा से अधिक गहराई में नहीं पहुँचते। क्वचित् उपश्लेष्मल त्वचा में पहुँचते हैं। रक्त में इनका प्रवेश कदापि भी नहीं होता। परंतु इनका विष रक्त में शोषित होकर शरीर के विविध अंगों पर विशेष

करके यकृत और वृक्कों पर विषैला असर करता है। यकृत पर परिणाम होने से पित्त का उत्सर्ग मन्द होता है। प्रारंभिक एक दो दस्तों में कुछ पित्त का अंश रहता है, परन्तु आगे चलकर विष के परिणाम से आन्त्र में पित्त का आना मन्द होने के कारण दस्तों का रंग चावल के माँड के समान सफेद (Rice water stool) होता है। विष का परिणाम वृक्कों पर होने से मूत्रोत्पादन का कार्य प्राय मन्द हो जाता है। इसी के कारण मूत्राघात विसूचिका का एक प्रधान तथा सूचक लक्षण होता है। विसूचिकाविष से वृक्कों में क्षेत्रीय (Organic) विकृति न होकर केवल गुणकर्मीय (Functional) होती है जो रोग निवृत्त होने पर ठीक हो जाती है।

विसूचिका में शरीर से जलांश का नाश अत्यधिक राशि में होने के कारण रक्त गाढ़ा होता है, उसकी गुरुता बढ़ती है, उसका क्षार संचय (Alkali reserve) कम होता है, लवण की राशि कम होती है रक्त का भार कम हो जाता है और रक्त में अम्लोत्कर्ष (Acidosis) होता है। रोगी की मृत्यु विषमयता, अम्लोत्कर्ष और जलापहरण (Dehydration) से होती है।

रोग का प्रसार—रोगी के मल और वमन में असंख्य जीवाणु उपस्थित रहते हैं। मल और वमन से दूषित खाद्यपेय पदार्थों के द्वारा रोग का प्रसार होता है। विसूचिका जीवाणु बरफ में भी जीवनक्षम रहने के कारण और विसूचिका का प्रकोप गरमी में होने के कारण बरफ, शरबत आइसक्रीम तथा बरफ की अन्य खाने की चीजों के द्वारा रोग का प्रसार होता है। खाद्यपेय जलादि की दुष्टि मक्खियों और चाहकों द्वारा भी होती है।

विसूचिका वाहक—आन्त्र से कुछ जीवाणु पित्तवाहिनी मार्ग से पित्ताशय में पहुँचकर वहाँ पर शोथ उत्पन्न करते हैं और वर्धित होकर समय समय पर पित्त के साथ आंत्र में आकर मल के साथ उत्सर्गित

होते हैं। जिन रोगियों में इस प्रकार की विकृति होती है वे रोग निवृत्त होने पर वाहक बन जाते हैं। ये वाहक २ हफ्तों से ९ महीनों तक जीवाणुओं का संवहन करते हैं, इससे अधिक नहीं। इन व्याधित वाहकों के अतिरिक्त मरक के समय कुछ संपर्कवाहक भी बनते हैं। ये संपर्कवाहक एक हफ्ते से अधिक वाहकों का कार्य नहीं करते, परन्तु रोग प्रसार की दृष्टि से व्याधित वाहकों की अपेक्षा ये वाहक अधिक महत्त्व के होते हैं।

चिकित्सा—विसूचिका की चिकित्सा में लसिका या वैक्सीन का उपयोग नहीं होता। प्रतिषेध के लिये वैक्सीन का उत्तम उपयोग होता है। इसके १ सी० सी० में ८०० करोड़ जीवाणु होते हैं। प्रथम आधे सी० सी० की मात्रा और १० दिन के बाद १ सी० सी० की मात्रा त्वचा के नीचे दी जाती है। इससे ६ महीनों तक क्षमता शरीर में रहती है। आन्त्रिक और उपान्त्रिक ज्वर तथा विसूचिका से दूषित खाद्य-पेयों के द्वारा होनेवाले बहुत साधारण परन्तु भयानक रोग होने के कारण सबके लिये एक वैक्सीन भी बनाया जाता है। इसका टीका लगाने से सबके लिये क्षमता होती है। इसका उपयोग अधिकतर सैनिकों में किया जाता है।

कालरा फेज—इसका उपयोग प्रतिषेध तथा चिकित्सा दोनों के लिये किया जाता है और दोनों में इससे लाभ होता है। चिकित्सा के लिये इसका उपयोग १ ड्राम की मात्रा में प्रत्येक आधे घंटे पर किया जाता है। इसका उपयोग रोग के प्रारम्भ में और खाली पेट करने से सफलता की आशा बढ़ती है।

बिली वैक्सीन—इसका उपयोग प्रतिषेध के लिये किया जाता है। खाली पेट पर पहले पित्त की एक वटिका दी जाती है जो इसकी कार्य क्षमता को बढ़ाती है। इसके बाद १५ मिनिट में इसकी १ गोली दी जाती है। इस प्रकार ५-६ दिन इसका सेवन करवाया जाता है। इससे

मावदैहिक क्षमता उत्पन्न न होकर स्थानिक (आन्त्रिक) क्षमता उत्पन्न होती है जिससे कौलेरा वक्राणु आंत्र में पहुँचने पर भी कुछ कर नहीं सकते।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—रोगी के मल और वमन में कौलेरा वक्राणु रहते हैं। अत प्रत्यभिज्ञान और रोगनिदान के लिये उसका विशेषतया मलका उपयोग किया जाता है।

(१) लेपन—मल में से एक सफेद श्लेष्मक टुकड़ा लेकर उसको पटरी पर प्रलेप के रूप में फैलाना चाहिए। उसके बाद हवा में सुखाकर और ज्वाला पर दृढ़ करके पतले कार्बोल फुक्सीन से (पृष्ठ १९) उसको एक दो मिनिट रंजित करना चाहिये। अनन्तर पानी से धोकर और सुखाकर सूक्ष्मदर्शक के तैलमग्नाही कांच से देखना चाहिये। पृष्ठ ९० और देखो। साधारणतया यह देखा गया है कि विसूचिका में वक्राणु के साथ एक चक्राणु भी (Spirochaeta erygyratus पृष्ठ ३११) मिलता है।

(२) संवर्धन—मलके सफेद श्लेष्मा का टुकड़ा डनहैम के पेप्टोन जल में रोपित करके उस ८-१० घंटे तक उष्मपोषक यन्त्र में रखें। तदनन्तर उसमें से थोड़ा सा द्रव लेकर उसको ग्रारोकोलेट अगर या ट्यूडोने के वधनक में रोपित करें। इस प्रकार संवर्धित जीवाणुओं की पहचान सेर्पों के स्वरूप से, ग्रहवि बिंदु पद्धति से रंजन से, जिपवाजिन पैप कापे उसके तरलीकरण से कौलेरा रेड प्रतिक्रिया से, रक्तद्रावण के अभाव से, समलमिका के द्वारा पुञ्जीकरण से करना चाहिये।

विसूचिका सदृश अन्य वक्राणु (Cholera like vibrios)

ये पानी में और मनुष्यों के मल में मिलते हैं। विसूचिका पीड़ितों के मल में भी साथ साथ मिल सकते हैं। इनमें निम्न मुख्य हैं—एल टोर विब्रिओ, पैरा कौलेरा विब्रिओ, विब्रिओ मेचनीकोवी, विब्रिओ फीरस इत्यादि। इनमें पैरा कौलेरा विसूचिका के समान लक्षण उत्पन्न

कर सकता है। शेष प्राय अविकारी होते हैं। कश्चित् प्रवाहिका उत्पन्न कर सकते हैं। ये सब कोसेरा बकाणु के समान टेढ़े, चंचल, विस्यादिस में सरलता उत्पन्न करनेवाले, इन्डोल प्रतिक्रिया देनेवाले, और प्राय त्यागी होते हैं। वास्तविक विसूचिका बकाणु का इनसे पार्थक्य मुख्य दो साधर्मों से हो हो सकता है (१) विसूचिका सम लसिका के साथ संयोग होने पर पुञ्जीकरण का होना और (२) रक्तद्रावण शक्ति का अभाव। (पृष्ठ २१०)

स्पैरीलम मायनस (S morsus muris)

सामान्य विवरण—यह सैरीला (पृष्ठ ११२) मूषकों तथा तत्सदृश अन्य प्राणियों (Rodents) के रक्त में रहता है। यह ३ ५ म्यू लंबा, पेचदार जीवाणु है। इसका मध्य कुछ मोटा और दोनों सिरे नोकीले होते हैं। यहाँ पर कुछ तन्तु विष्व होते हैं और उसी के कारण यह बहुत चंचल रहता है। इसके शरीर में केवल १ २ घुमाव होते हैं। लीश मन के रंग से यह भलीभाँति रंजित होता है। इसकी वृद्धि नोगुची (पृष्ठ ५०) के वर्धनक पर की जाती है।

विकारकारिता—इससे मूषिक दंशज्वर उत्पन्न होता है। यह रोग उपसृष्ट चूहे के काटने से होता है। काटने के १०-२० दिन के पश्चात परिवर्ति स्वरूप का—ज्वर प्रारंभ होता है। दश के स्थान में प्राय घाव बनता है और तत्संबंधित लसिका ग्रन्थियाँ बढ़ती हैं। जीवाणु घाव में, लसिका ग्रन्थियों में और रोगी के रक्त में उपस्थित रहते हैं।

निदान—रोगी के रक्त का परीक्षण करने से निदान हो सकता है। परंतु कई बार रक्त में जीवाणु नहीं मिलते। ऐसी अवस्था में चूहे में रोगी का रक्त प्रविष्ट करके (पृष्ठ ९८) कुछ दिनों के पश्चात चूहे के रक्त की जाँच की जाती है। इस विधि में प्राय सफलता मिलती है। रक्त हमेशा ज्वरावेग के समय लेना चाहिए। चूहे में प्रविष्ट करने के लिये ग्रन्थियों का रस भी ले सकते हैं।

चक्राणु (Spirochaetes)

[स्था]पस्या और सजीवसृष्टि में स्थान—लंबे नोकीले पेचदार, [ज]िनके चंचल स्वरूप के सब जीवाणु चक्राणु कहलाते हैं। कशकोले-[ं]द्र अभाव और तन्तुपिच्छों की उपस्थिति से स्पैरीला इनसे पृथक् हैं। ये तृणाणु हैं या कीटाणु हैं इसके संबंध में वैज्ञानिकों मतभेद [है।] केन्द्रका अभाव, विभाजन से संख्यावृद्धि (पृष्ठ १२) और रोगो के [प्रति] में समता उत्पन्न करने की शक्ति ये तीन बातें इनको तृणाणु [होने] के पक्ष की हैं। शरीर पर तरंगी आवरण का होना (Undu[lati]ng membrane), तन्तुपिच्छ न होनेपर भी गति, शरीर का [संकु]चन, कीटकों के भीतर का जीवनक्रम, ये बातें इनको कीटाणु [होने] के पक्ष की हैं।

वर्गीकरण—शरीर रचना के अनुसार इनके भिन्न ४ विभाग [किये] गये हैं।

(१) स्पैरोकीट (Spirocheta)—इसके बीच में एक [अक्षत]न्तु (Axial fibre) होता है और उसके ऊपर घुमावदार सीढ़ी [के स]मान इसका शरीर घुमाव लेता है। बीच-बीच में कुछ कण भी [होते] हैं।

(२) सैप्रोस्पेरा (Saprospira)—इसमें अक्षतन्तु नहीं [है]। शरीर आड़ी रेखाओं से कई भागों में विभक्त होता है।

(३) क्रिस्टीस्पेरा (Cristispira)—इसमें भी सैप्रोस्पैरा के [समा]न शरीर आड़ी रेखाओं से कई भागो में विभक्त रहता है। परन्तु [इसक]ी पता यह है कि ऊपर एकतरंगी आवरण लगा रहता है।

(४) ट्रेपोनेमा (Treponema)—इसमें न अक्षतन्तु है न [तरंग]ी आवरण है। शरीर में कई घुमाव समीप या दूरी पर होते हैं। [दोनो]ं सिरे नोकीले होते हैं। गति के समय ये घुमाव न बदलते हैं न

मोटे होते हैं सम्पूर्ण शरीर सख्त रहता है। इसका प्रधान उदाहरण—ट्रिपोनेमा पाळीडा।

(४) बोरलिया, स्पैरोनेमा (Borrelia or Spironema)—ये ट्रेपोनेमा के समान ही होते हैं, परन्तु इनके घुमाव कुछ दूर-दूर होने के कारण गति के समय या दबाव पड़ने पर कुछ सीधे हो जाते हैं। प्रधान उदाहरण—बोरेलिया रिकरन्टिस।

(६) लेप्टोस्पैरा (Leptospira)—इनके घुमाव बहुत समीप एक दूसरे से सटे हुए रस्सी के समान होकर इनके सिरे अङ्कुश के समान मुड़े रहते हैं। प्रधान उदाहरण —लेप्टोस्पैरा इक्टेरोहीमोरागी।

गति—इनमें कशतुषिका न होने पर भी (पृष्ठ १३) गति होती है। यह गति तीन प्रकार की होती है—शरीर को मोड़ने की, संवाह पर परिभ्रमा करने की तथा स्थानान्तर करने की।

रञ्जन—ये सब ग्रामत्यागी होते हैं। ये आसानी से रंग ग्रहण नहीं करते। इनके लिये फान्टाना की रजतरंजन (Silver staining) पद्धति का उपयोग किया जाता है। इससे चक्राणुओं के ऊपर चाँदी का कुछ अंश चिपककर वे स्वाभाविक से अधिक मोटे और काले दिखाई देते हैं। फौन्टाना के लिये निम्न तीन द्रवों की आवश्यकता होती है।

द्रव नं०—१	ग्लेशियल एसिड	१ सी० सी
	फार्मेलिन	२ सी० सी०
	तियक् पातित जल	१०० सी० सी०
द्रव नं०—२	कार्बोलिक एसिड	१ सी० सी०
	टयानिक एसिड	५ सी० सी०
	तियर्क् पातित जल	१ सी० सी०
द्रव नं०—३	सिल्वर नैट्रेट	२५ ग्राम
	तियक् पातित जल	१०० सी० सी०

सिल्वर नैट्रेट के द्रव में नलिका द्वारा अमोनिया किंचित् अनुपात

(Turbidity) स्पष्ट होने तक धीरे धीरे डालना चाहिए। अधिक डालने से कलुषता नष्ट होकर द्रव बेकार हो जाता है।

रंजन की विधि—हवा में सुखाये हुए पटरी के प्रलेप के ऊपर नं० १ का द्रव डाला जाता है। आधे मिनट के पश्चात् इसको फेंककर दूसरी बार इसी को डालते हैं। आधे मिनिट के पश्चात् इसको फेंककर तीसरी बार इसको पटरी पर डालते हैं। आधे मिनिट के बाद पानी से प्रलेप को अच्छी तरह धोकर इसपर नं० २ का द्रव डाला जाता है और भाप निकलने के समय तक इसको बत्ती से गरम किया जाता है। आधे मिनिट के पश्चात् प्रलेप को पानी से धोकर इसपर अमोनियायुक्त नं० ३ का द्रव छोड़ा जाता है। तदनंतर फिर से बत्ती से इसको भाप निकलने के समय तक गरम करके आधे मिनिट तक रक्खा जाता है। अन्त में वि० जल से धोकर सुखाकर सूक्ष्मदर्शक से देखा जाता है।

संवर्धन—इनकी वृद्धि के लिये रक्त लसिका या जलोदर का जल इत्यादि प्राणिज प्रोटीनें, प्राणवायु की कमी या अनुपस्थिति, तरल या अधतरलवर्धनक, क्षारीय प्रतिक्रिया और शर्करा इनकी आवश्यकता होती है। प्राणवायु की आवश्यकता के अनुसार दण्डाणुओं के समान इनके भी दो भेद किये गये हैं —वातप्री—लेप्टोस्पैराबर्ग वातभी—ट्रेपोनेमा बोरेलिया तथा अन्य पूसुपजीवीवग। वातभी की वृद्धि नोगूची के वधनक (पृष्ठ १०) पर की जाती है।

लसिका विषयक प्रतिक्रिया—इस विषय में ये दण्डाणुओं के समान होते हैं। इनका उपसर्ग होने पर रोगी के रक्त में पुञ्जकारक, चक्राणुनाशक (Spirochaetocidins) चक्राणुद्रावक (Spirochaetolysins), पूरक बंधक (Compliment fixing) तथा अन्य प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इनका उपयोग रोग निदान में (पृष्ठ ९१) किया जाता है।

जीवनक्षमता और प्रतिकार—शरीर के बाहर रहने पर इनमें

प्रतिकारशक्ति बहुत कम होती है। ५० से ताप क्रम से और शुष्को करण से ये बहुत जल्दी मर जाते हैं। प्रकाश और सर्दी के साथ ये भली भाँति प्रतिकार कर सकते हैं।

वासस्थान और विकारकारिता—स्पैरोकीटा, ट्रैप्रोस्पैरा और क्रिस्टी स्पैरा मनुष्यों तथा प्राणियों में अविकारी हैं। इनमें प्रथम दो पानी में रहते हैं और तीसरे वर्ग के घोंघा सीप इत्यादि जलचरों के पचनसंस्थान में रहते हैं। दूसरे जो तीन वर्ग हैं इनमें कुछ पृत्युपजीवी या सहवासी और कुछ विकारकारी होते हैं।

(१) पृत्युपजीवी या सहवासी—जो बुक्कालिस, ट्रे मैक्रो डेन्टीयम, ट्रे म्याक्रोडैन्टोमम मुख में, यो ब्रोंकायलिस श्वसनसंस्थान में, जो युरीगैरेटस पचनसंस्था में (पृष्ठ २३१), ट्रे रिफ्रिन्जन्स और ट्रे बलान्टीडिस मूत्रप्रजननसंस्थान में मिलते हैं।

(२) परोपजीवी या विकारी—जो रिकरन्टिस, ट्रे पालीडा, ट्रे पर्टेनीयु, जो विन्सेन्टी और ले० इक्टेरोहीमोराजी ये विकारी हैं।

चिकित्सा—इनके उपसर्ग से यद्यपि शरीर में क्षमता उत्पन्न होती है यद्यपि कृत्रिम तौर पर बनायी हुई क्षमलसिका से औपसर्गिक क्षमता को छोड़कर अन्य रोगों की चिकित्सा में काम नहीं होता। वैक्सीन से भी इनमें काम नहीं होता। चक्राणुजन्य रोगों की चिकित्सा में पारा, सोमल, बिस्मथ इत्यादि रसौषधियाँ बहुत सफलता से काम करती हैं।

स्पैरोचीटा पालीडा (T Pallida)

वासस्थान—यह परोपजीवी है। केवल फिरंग की विकृतियों में पाया जाता है।

शरीर और रंजन—यह पतला चक्राणु है। इसकी मोटाई ¼ म्यु और लंबाई ६–१५ म्यु है। इसमें औसत १० घुमाव होते हैं और

प्रत्येक घुमाव एक म्यू के अन्तर पर होता है। दोनों छोर नोकीले होकर अन्त में सूत्रसम होते हैं। इसके तन्तुपिच्छ नहीं होते। यह बहुत चंचल है परन्तु इसमें स्थानान्तर करने की शक्ति नहीं होती जो इसके साथ कभी-कभी फिरंग की विकृतियों में मिलनेवाले अन्य चक्राणुओं में दिखाई देती है। यह साधारण रंगों से नहीं रंजित होता। इसलिये इसको पाण्डिका (Pallid पाण्डुर) नाम दिया है। इसको फोन्टाना के रंग से रंजित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जीम्सा और डीशामन का भी उपयोग (पृष्ठ ११) कर सकते हैं। यह मामत्यागी है। जीम्सा का रंग १०–१५ गुना पतला करने पर २४ घंटे और दो गुना पतला करने पर २ घंटे तक पतरी रंग में रखनी चाहिये।

संवर्धन—यह पूर्ण घातसी है। पोषक तापक्रम ३० सें° है। कृत्रिम पद्धति से इसकी वृद्धि करने में बहुत कठिनाई होती है। नोगूची की पद्धति से इसमें कुछ सफलता मिलती है।

विकारकारिता—इससे फिरंग (Syphilis) नामक रोग उत्पन्न होता है। चिंपान्जी को छोड़कर अन्य मनुष्येतर प्राणियों में यह रोग नहीं हो सकता। यह चिरकालीन, सांसर्गिक, मैथुनी (Venereal) रोग है जिसकी चार अवस्थाएँ होती हैं।

(१) प्राथमिक (Primary) अवस्था—इस अवस्था में प्रवेश के स्थान में, जो प्रायः जननेन्द्रिय पर होता है, कठिन घाव (Hard chancre) उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् धीरे धीरे तत्स्थान संबंधित ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं जिनको बद (Bubo) कहते हैं।

(२) द्वितीयावस्था (Secondary)—इसमें त्वचा, श्लेष्मल त्वचा, गला इत्यादि में घाव उत्पन्न होकर संपूर्ण शरीर की ग्रन्थियाँ बढ़ती हैं।

(३) तृतीयावस्था (Tertiary)—इसमें शरीर के भीतरी विविध अंगों में तथा त्वचा में गाँठें (Gumma) उत्पन्न होती हैं।

(४) मस्तुर्यावस्था या वातिक फिरंग—(Quartornary, neuro-syphilis)—इसमें मस्तिष्क संस्थान पर परिणाम होकर पागलपन तथा अन्य विकार उत्पन्न होते हैं। इन अवस्थाओं के बीच में कुछ सुप्त (Quiescent) काल होता है जिसमें पूर्वावस्था के लक्षण तथा स्थानिक व्रण ठीक हो जाते हैं और फिर उत्तर अवस्था के लक्षण यकायक उत्पन्न होने लगते हैं।

संक्रमण—फिरंगोपसृष्ट स्त्री या पुरुष के साथ मैथुन करने से इसका संक्रमण स्वस्थ मनुष्य पर होता है। मैथुन की रगड़ से जननेन्द्रिय की श्लेष्मल त्वचा पर जो सूक्ष्मक्षत बनते हैं, उनसे ये भीतर प्रवेश करते हैं। परन्तु यह अक्षुण्णत्वचा से भी प्रवेश (पृष्ठ ८१) कर सकता है। *संक्रमण का प्रधान मार्ग मैथुन है इसलिये इसको मैथुनी रोग* (Venereal) कहते हैं। ५० ९५ प्र० श० रोगियों में इसी प्रकार से संक्रमण होता है। फिरंग दूषित स्थानों से जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य अवयवों का संबंध होने से भी उनमें इसका उपसर्ग पेंच, डाक्टर, नर्स दाई इत्यादि में कभी कभी दिखाई देता है। इसको बहिर्जननेन्द्रिय (Extra genetal) मार्ग कहते हैं। गर्भावस्था में माता के द्वारा गर्भ में फिरंग का उपसर्ग हो जाता है। इसको सहज (Congenital) कहते हैं। सहज प्रकार में प्राथमिक अवस्था न होकर द्वितीय और तृतीय अवस्था के लक्षण मिश्र रूप में दिखाई देते हैं।

शारीरिक विकृतियाँ—जहाँ पर इनका प्रवेश होता है वहाँ पर प्रतिक्रिया के तौर पर लसिकाकण, इन्वो थेलियम सेल्स इत्यादि की भरमार होकर एक छोटा सा अर्बुद बनता है। इसको फिरंगार्बुद (Syphiloma) कहते हैं। इसके बीच में जीवाणु होते हैं। धीरे धीरे यह अर्बुद बढ़ता जाता है, परन्तु उसके बीच के जीवाणु कम होते जाते हैं। प्रारंभ में इस अर्बुद के बीच में बहुत रक्त वाहिनियाँ बनती

हैं, परन्तु धीरे धीरे इनके अन्तर स्तर में शोथ उत्पन्न होकर इनके भीतरी रक्त प्रवाह में बाधा होने लगती है और अन्त में रक्तप्रवाह पूर्णतया बन्द हो जाता है। इसको अवरोधक अन्तधमनीशोथ (Endarteritis obliterans) कहते हैं। इससे अर्बुद को रक्त न मिलने के कारण उसमें मेदनाश, कोष तान्तव धातु की उत्पत्ति इत्यादि खराबियाँ होती हैं। तृतीयावस्था में जब ये अर्बुद गहराई में स्थित होकर काफी बड़े होते हैं तब इसके कारण इनका मध्यभाग गलकर गोंद के समान (Gum) चिपचिपा बन जाता है। इसलिये ये गोंदार्बुद (Gumma) कहलाते हैं। इस प्रकार अवरोधक शोथ और तान्तवी भवन के कारण फिरंग की अनेक शारीरिक विकृतियाँ हुआ करती हैं।

चिकित्सा—फिरंग की चिकित्सा में पारद, सोमल और बिस्मथ के योग प्रयुक्त होते हैं। इनमें चक्राणुनाशक गुण है। तृतीयावस्था में पो आयोडाइड का भी उपयोग होता है। इसका कारण यह है कि गोंदार्बुद के मध्य में जो चक्राणु सुरक्षित रहते हैं, वे इनके प्रयोग से अरक्षित हो जाते हैं क्योंकि आयोडाइड में गोंदार्बुद का मज्जा हटाने की शक्ति होती है। चतुर्थावस्था में विषम ज्वर उत्पन्न करने से लाभ होता है। इसके लिये तृतीयक ज्वर के कीटाणु रक्त में प्रविष्ट करके उसके १० दौरे रोगी में उत्पन्न किये जाते हैं। उसके बाद किनीन से ज्वर बंद किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—फिरंग की प्रथमावस्था में चक्राणु जननेन्द्रिय के घाव में अधिक संख्या में तथा घाव संबंधित लसिका ग्रन्थियों में (वद) भी होते हैं। घाव जब भरने लगता है तब इनकी संख्या कम होने लगती है। द्वितीयावस्था में त्वचा और श्लेष्मल त्वचा के व्रणों में, मस्सों (Condylomata) में और संबंधित रक्त में भी ये पाये जाते हैं। तृतीयावस्था में इनकी

संख्या बहुत ही कम हो जाती है, परन्तु कभी कभी गोलाणु इनके बीच में मिलते हैं। चतुर्थावस्था में इनकी संख्या और भी कम हो जाती है। क्वचित् ये मस्तिष्क में मिलते हैं। जीवाणु दर्शन की दृष्टि से प्रथम दो अवस्था ही योग्य हैं। इन अवस्थाओं में प्राथमिक घाव से, चाहे जननेन्द्रियक हो चाहे बहिर्जननेन्द्रियक हो, बद से और त्वचा के या श्लेष्मल त्वचा के घावों से परीक्ष्य द्रव्य ग्रहण किया जाता है।

प्राथमिक घाव से ग्रहण—ग्रहण करने से पहले फिरंगनाशक औषध का उपयोग न करना चाहिये। प्रथम लवण जल से घाव को साफ करके उसको स्वच्छ जाली (Gauze) से या धोये कपड़े से रगड़ना चाहिये। इसके पश्चात् जो लसिका निकलती है उसको ग्रहण करना चाहिये। यदि रगड़ से रक्त निकले तो उसको जाली से पोंछकर पश्चात् निकलने वाली लसिका को ग्रहण करें। इस प्रकार लसिका ग्रहण करने से घाव भाग के ऊपर रहनेवाले सूक्ष्मजीवी चक्राणु परीक्ष्य लसिका में नहीं आते। लसिका में रक्त मिलने से चक्राणु भलीभाँति नहीं दिखाई देते।

बदसे—विशोधित सुई और पिचकारी से बद के भीतर का रस चूसकर परीक्षा के लिये उसका उपयोग करना चाहिये।

(१) जीवाणुदर्शन—उपयुक्त विधि से प्राप्त लसिका या रस में मिलनेवाले चक्राणुओं को सजीवावस्था में देखना यह जीवाणुदर्शन की सर्वोत्तम पद्धति है। इसके लिये सूक्ष्मदर्शक में श्याम कारणार्थ प्रकाशन (Dark groud illumination) की विशिष्ट व्यवस्था करनी होने की आवश्यकता होती है। इसमें एक देदीप्यमान विद्युद्दीप के किरण संचायक द्वारा परीक्ष्य वस्तु पर तिर्यक् दिशा से छोड़े जाते हैं और प्रकाश के अन्य सब किरण बन्द किये जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सूक्ष्मदर्शक की नली में केवल चक्राणु परिवर्तित किरण आकर देखनेवाले के नेत्रों में प्रवेश करते हैं। इस पद्धति से

(2) Silver impreg...
(3) - Staining

देखने पर फिरंग चक्राणु रजतवर्ण, अत्यन्त पतले समान घुमाव के और चंचल परन्तु स्थानान्तर करने में असमर्थ दिखाई देते हैं। अन्य पूत्युपजीवी चक्राणु इससे देखने पर चमकीले, प्रकाशपरावर्तक मोटे, चंचल तथा स्थानान्तर करनेवाले दिखाई देते हैं। यदि इस पद्धति से ये न दिखाई दें तो स्राव का पटरी पर प्रलेप बनाकर और सुखाकर जीम्सा के रंग से देखें। फिरंग के चक्राणु इससे फीके परन्तु पूत्युपजीवी गहरे नीले रंग के दिखाई देते हैं।

(२) लसिका विषयक कसौटियाँ—इनके लिये पूरक बंधक और अवक्षेपक दोनों का उपयोग किया जाता है। वासरमन में पहले का और कहन में दूसरे का उपयोग किया जाता है। ये कसौटियाँ प्राथमिक अवस्था में नहीं मिल सकतीं, क्योंकि भिन्न प्रतियोगी पदार्थों के अस्तित्व के ऊपर वे निर्भर होती हैं वे पदार्थ प्राथमिक व्रण उत्पन्न होने के २ ३ सप्ताह के पश्चात् और कभी कभी ६ सप्ताह के पश्चात् उत्पन्न होने लगते हैं। इस काल के पश्चात् ये कसौटियाँ अचिकित्सित रोगियों में बराबर मिलती रहती हैं। ये कसौटियाँ यद्यपि विशिष्ट (Specific) सी मालूम होती हैं, तथापि कसौटी के प्रयोग में जो प्रतियोगी जनक (Antigen) प्रयुक्त होता है उसके आधार पर ये अविशिष्ट ही समझना चाहिये। वासरमन की प्रतिक्रिया फिरंग के अतिरिक्त विषमज्वर, कुष्ठ, तीव्र सार्वदैहिक क्षय, कनार, निद्रारोग इत्यादि रोगों में भी मिलती है। कहन कसौटी में यह दोष बहुत कम होता है। वासरमन कहन की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है, परन्तु कहन उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्मवेदी (Sensitive) होती है। इसलिये चिकित्सा के कारण वासरमन मिलना बंद होने पर भी कुछ काल तक कहन मिलती रहती है। रोग की सुप्तावस्था में लसिका कसौटियाँ अव्यक्त हो सकती हैं। ऐसी अवस्था में °३५ ग्राम का नीओसाल्वर्सन का इन्जेक्शन देने से उद्दीपन होकर ये व्यक्त हो सकती

है। इसको उद्दीपक (Provocative) पद्धति कहते हैं। इसके इन्जेक्शन के ५-७ दिन के भीतर रोगी का रक्त परीक्षणार्थ लेना चाहिये।

फिरंग निदान में वासरमन और कहन की कसौटियाँ बहुत ही उपयोगी होती हैं। परन्तु दोनों में कुछ दोष होने के कारण निदान के लिए दोनों का उपयोग करके भिन्न नियमों के अनुसार निदान निश्चय करना चाहिये। (१) यदि दोनों व्यक्त हों तो फिरंग की निश्चिति। (२) यदि दोनों अव्यक्त हों तो फिरंग का निषेध। (३) यदि दोनों संदिग्ध हों तो उद्दीपक इन्जेक्शन देकर उसके पश्चात् निर्णय। (४) यदि दोनों में भिन्नता हो तो वासरमन के अनुसार मार्गदर्शन।

कहन की अवक्षेपण कसौटी (Kahn's flocculation test)—इसके लिये भिन्न सामग्री की आवश्यकता होती है—प्रतियोगीजनक कहन की नलिकाएँ, मापने की नलिकाएं स्वच्छ जल, जलावगाह और यदि मिल सके तो हिलाने का यन्त्र, यदि न हो तो हाथों से काम चल जाता है। प्रथम विशोधित पिचकारी से रोगी का ५ सी० सी० के करीब रक्त लेकर विशोधित नलिका में रक्खा जाता है। लसिका पृथक् होने पर नलिका से उसको दूसरी नलिका में लिया जाता है। लसिका निर्मल होनी चाहिये। यदि कुछ मलिनता हो तो सेंट्रीफ्यूज से उसको निर्मल करके लेना चाहिये। परीक्षण तुरन्त करने की आवश्यकता होने पर रोगी का रक्त सेंट्रीफ्यूज की छोटी नलिका में लेकर तुरन्त उसको सेंट्रीफ्यूज में घुमाकर लसिका निकाल सकते हैं। रोगी के रक्त का परीक्षण ४८ घंटे के अन्दर होना आवश्यक होता है। इस प्रकार लसिका को दूसरी नलिका में स्वतन्त्र करने के पश्चात् उसको ५६° सें० तापक्रम के जलावगाह में ३० मिनिट तक रक्खा जाता है। इससे लसिका की कार्यक्षमता अधिक से अधिक हो जाती है।

प्रतियोगीजनक बना बनाया मिलता है। उसको काम में लाने से

पहले स्वाभाविक (Normal) लवण जल के साथ मिलाना पड़ता है। इस मिश्रण की राशि प्रतियोगीजनक की कूपी के ऊपर लिखी रहती है। साधारण १ सी० सी० प्रतियोगीजनक लेकर दूसरी नलिका में स्वा० ल० जल मात्रा के अनुसार लिया जाता है। फिर दोनों को ५।६ बार अच्छी तरह मिलाया जाता है। मिलाने के १० मिनिट के पश्चात् और १० मिनिट के पूर्व इसका उपयोग कसौटी के लिये करना आवश्यक है। १ सी० सी० मिश्र प्रतियोगीजनक में ११ रोगियों की लसिका की कसौटी हो सकती है। यदि संख्या कम हो तो ½ सी० सी० प्रतियोगी जनक लेकर आधी मात्रा में स्वा० ल० जल का मिश्रण कर सकते हैं। परन्तु आधी सी० सी से कम प्रतियोगीजनक न लेना चाहिये।

इसके पश्चात् निम्नरीति से लसिका, प्रतियोगीजनक और स्वा० ल० जल का मिश्रण किया जाता है।

नलिका नं०	१	२	३
प्रतियोगीजनकमिश्रण	०·०५ सी सी	०·०२५ सी सी	०·०१२५सी सी
रोगी लसिका	१५	१५	१५
	तीस मिनिट	हिलाने के पश्चात्	
स्वा० लवण जल	१	५	५

इन नलिकाओं के साथ नियन्त्रण (Control) के लिये नलिकाएँ रक्खी जाती हैं। एक तीन नलिकाओं का नियन्त्रण प्रतियोगीजनक के लिये होता है। इसमें लसिका के बदले १५ सी० सी० लवण जल मिलाया जाता है। दूसरा तीन नलिकाओं का नियन्त्रण ज्ञात फिरंगी की लसिका का होता है। इसमें परीक्ष्य लसिका के बदले फिरंगी की लसिका छोड़ी जाती है। तीसरा तीन नलिकाओं का नियन्त्रण अफिरंगी लसिका का होता है। इसमें परीक्ष्य लसिका के बदले ज्ञात अफिरंगी की लसिका छोड़ी जाती है। इस प्रकार प्रतियोगीजनक और लसिका

मिलाने के पश्चात् हाथों से या यन्त्र से नलिकाएँ १ मिनिट तक खूब हिलायी जाती हैं। हिलाने की गति प्रतिमिनिट १७५-२८० तक होनी चाहिये। इसके पश्चात् कोष्ठक में बताई हुई मात्रा के अनुसार स्वाभ्लवण जल नलिकाओं में मिलाया जाता है। तदनन्तर थोड़ी देर तक खूब हिलाकर फल देखा जाता है। इसके लिये प्रकाश के सामने या सूक्ष्मदर्शक के निम्न शक्ति शाहुने के सामने नलिकाएँ देखी जाती हैं। जिसमें प्रतिक्रिया व्यक्त होती है उनमें तरल के भीतर सूक्ष्मकण दिखाई देते हैं। यह फल अधिक चिन्हों से प्रदर्शित किया जाता है।

(१) + + + + कण बहुत आसानी से दिखाई देते हैं और तरल निर्मल रहता है।

(२) + + + कण आसानी से दिखाई देते हैं परन्तु देखने के लिये नलिकाओं को उठाकर देखना पड़ता है।

(३) + + कण प्रयत्न करने पर दिखाई देते हैं और तरल कुछ धुँधला सा रहता है।

(४) + कण बहुत ही सूक्ष्म होते हैं।

(५) ± कण बहुत ही कठिनता से प्रत्यक्ष होते हैं।

(६) — कण बिलकुल नहीं होते।

इनमें प्रथम तीन फल व्यक्त, द्वितीय दो संशयास्पद और छठां अव्यक्त या निषेधार्थी समझा जाता है। कभी कभी एक ही रोगी की तीन नलिकाओं में प्रतिक्रिया भिन्न भिन्न होती है। ऐसी अवस्था में तीनों का औसत निकालकर वह ग्रहण किया जाता है।

वासरमन की कसौटी (Wasseramann test)—इस कसौटी की जो वास्तविक प्रतिक्रिया होती है और जिसके आधार पर निदान किया जाता है उसका फल कहन कसौटी के समान दृश्य नहीं होता। अतः इसको दृश्य करने के लिये एक दूसरी निदर्शक (Indicator) प्रतिक्रिया प्रथम के साथ रक्खी रहती है। इसमें

लाकण और उसके द्रावक प्रयुक्त होते हैं। वासरमन प्रतिक्रिया के तथा मित्‍शाक प्रतिक्रिया के प्रतियोगी पदार्थ तृतीय श्रेणी (अधिक विवरण के लिये आगे रोगक्षमता अध्याय देखो) के होने के कारण इनको पूरक की आवश्यकता होती है। इसलिये वासरमन कसौटी के लिये कहन कसौटी की सामग्री के अतिरिक्त गिनीपिग की लसिका पूरक के लिये, बकरी के लालकण और उन कणों का द्रावण करने की शक्ति उत्पन्न की हुई शशक की लसिका की जरूरत होती है। इस कारण से वासरमन की कसौटी कहन की अपेक्षा अधिक लंबी और अधिक कठिन होती है। यहाँ पर केवल उसको सामान्य परिपाटी बतायी जाती है। प्रथम रोगी की लसिका, प्रतियोगीजनक और पूरक के लिये गिनी पिग की लसिका उचित मात्रा में मिलाकर १० १५ मिनिट तक उसको उष्मपोषक में ३७ सें० पर रख देते हैं। उसके पश्चात् उसमें बकरी के कण और उनके द्रावक पदार्थ मिलाकर फिर ३७° सें० पर उष्मपोषक में ३० मि० तक रखते हैं। इन नलिकाओं के अतिरिक्त कहन के समान नियन्त्रण के लिये फिरंगी और अफिरंगी की लसिकाओं का भी उपयोग किया जाता है।

यदि रोगी फिरंग पीड़ित हो तो प्रथम बार उष्मपोषण करने पर तीनों चीजें आपस में मिल जायेंगी और पूरक दूसरी प्रतिक्रिया के लिये स्वतन्त्र नहीं मिलेगा। इसलिये नलिका में रक्त द्रावण नहीं होगा। जब रोगी फिरंग पीड़ित न होगा तब ये चीजें आपस में नहीं मिलेंगी और पूरक दूसरी प्रतिक्रिया के लिये स्वतन्त्र मिलेगा जिससे नलिका में रक्तद्रावण होकर तरल लाल हो जायगा। रक्तद्रावण के अनुसार फल अधिक + चिन्हों से (पीछे कहन देखो) बताया जाता है। लसिका के समान म० सु० जल के साथ यह तथा कहन की कसौटी की जाती है।

संक्षेप में फिरंग निदान—१ सहज फिरंग—माता या बालक की लसिका का वासरमन कसौटी के द्वारा परीक्षण। मूत्रबस्ति में उसके

यकृत, प्लीहा, वृक्कों में जरूकाणु की उपस्थिति।

(२) प्रथमावस्था—प्राथमिक भाव या उसके स्राव में सोवकार पार्श्व प्रकाशन से या रंजन से जीवाणुओं की उपस्थिति।

(३) द्वितीयावस्था—त्वचा तथा श्लष्मल त्वचा के घावों में जरू-काणुओं की उपस्थिति तथा वासरमन और कहन की व्यक्त कसौटी।

(४) तृतीयावस्था—वासरमन और कहन की व्यक्त कसौटी। आवश्यक होने पर सदीपक इन्जेक्शन का उपयोग।

(५) चतुर्थावस्था या नाड़ी फिरंग—वासरमन और कहन की कसौटियों की छलिका में तथा मस्तिष्क सुषुम्ना जल में व्यक्तता। तथा मस्तिष्कसुषुम्ना जलगत अन्य परिवर्तन। औपसर्गिक रोग में फिरंग निदान देखो। इस अवस्था के टैबीज डार्सालिस नामक रोग में छलिका गत वासरमन ७० प्र० श० और म० सु० जल गत वासरमन १०० प्र० श० व्यक्त होती है। जनरल पारालिसिस आफ दी इनसेन (G P I) में प्राय छलिका और म० सु० जलगत वासरमन १०० प्र० श० व्यक्त होती है।

ट्रेपोनेमा पर्टेन्यू (T Pertenene)

यह जरूकाणु ट्रे० पा० के समान, परन्तु उससे कुछ अधिक लंबा (१८ २० म्यू) और अधिक पतला होता है। कभी कभी इसके दोनों छोर समीप आने से यह गोलाकार दिखाई देता है। इससे परंगी (yaws, framboesi[illegible]) नामक [illegible] है। यह रोग भारतवर्ष के पूर्वत[illegible] पाए [illegible] भारत में क्वचित् मद्रास के दक्षि[illegible] लंका [illegible] ते । परंगी शब्द फिरंग के समान [illegible] के में प्रचलित [illegible] बीमारियाँ

विभक्त, वासरमन और कहन की कसौटियाँ देनेवाली और बिस्मथ तथा साल्वर्सन के योगों से साध्यस्वरूप की होती हैं। इसलिये परगी की, वामारी फिरंग की बहन मानी जाती है। यह सब कुछ साम्य होने पर भी दोनों में बहुत भेद भी होते हैं। परंगी कदापि भी सहज न होकर सदैव जन्मोत्तर होता है तथा मैथुनजन्य न होकर सांसर्गिक होता है। इसका प्राथमिक व्रण जननेन्द्रिय पर न होकर अन्य स्थान में होता है। इसका आक्रमण अच्छे लोगों की अपेक्षा गरीबों पर, और जवानों की अपेक्षा बच्चों पर होता है, द्वितीय तथा तृतीयावस्था में भी श्लेष्मल त्वचा, अभ्यन्तरीय अंग, मस्तिष्क संस्थान इत्यादि में इससे विकार उत्पन्न नहीं होते, इसका परिणाम केवल बाह्य त्वचा और ग्रन्थियों में ही सीमित रहता है और इसमें पारद के प्रयोग से काम नहीं होता।

इसका निदान फिरंग के समान घाव के स्राव के परीक्षण से और वासरमन कसौटी से किया जाता है।

स्पारेलिया ओबरमायरी (Spironema recurrentis)

वासस्थान—यह पूर्ण परोपजीवी होने से रोगी के रक्त में तथा किल्ली और जूँ के शरीर में मिलता है।

शरीर और रंजन—यह १०-३ म्यू लंबा होता है। चक्राणुओं में यह सबसे लंबा है। कई बार दो या तीन लंबाई में मिले हुए दिखाई देते हैं। इसके घुमाव बहुत नजदीक नहीं होते। ताजे रक्त में यह बहुत गतियुक्त दिखाई देता है और गति के समय इसके घुमाव कुछ सीधे हो जाते हैं। ज्वरावेग के अन्त में रोगी का रक्त देखने पर प्रतियोगी पदार्थों की उत्पत्ति के कारण यह गुच्छों में इकट्ठा हुआ दिखाई देता है। बहुत पतला और लचकीला होने के कारण साधारण जीवाणु जिन निस्यन्दकों में से बाहर नहीं जा सकते उनमें से यह जा सकता है।

संवर्धन—२ ५ सी० सी० रोगी का रक्त लेकर उसको नोगुची के वर्धमक में रोपित करके वर्धन किया जाता है। यद्यपि यह वातमी नहीं है तथापि प्राणवायु की कमी इसके लिये पोषक होती है।

क्रसिका विषयक प्रतिक्रिया—इसके उपसर्ग से रोगी के रक्त में पुंजकारक और म्रावक प्रतियोगी उत्पन्न होते हैं जिनके कारण इनका नाश हो जाता है। परन्तु कभी कभी कुछ जीवाणु बच जाते हैं या प्रतिकारक स्वरूप (Resisting forms) के होते हैं। इनकी संख्या वृद्धि होने से दूसरी बार ज्वर आ जाता है। अब की बार प्राप्त प्रति योगी पदार्थों के कारण सब जीवाणुओं का नाश होता है परन्तु यदि पहले की भांति कुछ प्रतिकारक बनकर बच गये तो दूसरी बार फिर से ज्वर आ जाता है। इस प्रकार इसमें ज्वर के परिवर्तन (Relapses) होते रहते हैं। दौरे के समय जीवाणु रक्त में मिलते हैं और अल्पकाल में यकृत प्लीहादि भीतरी अंगों में छिप जाते हैं।

विकारकारिता—इससे परिवर्ति ज्वर (Relapsing fever) उत्पन्न होता है। परिवर्तनकाल (Disease period) ११-१६ दिन का होता है जिसमें सज्वर और निर्ज्वर दो भाग होते हैं। प्रथम आक्रमण के समय ये दोनों भाग समान होते हैं, परन्तु आगे चलकर प्रत्येक परिवर्तन के समय सज्वर काल कम होकर निर्ज्वर काल बढ़ता है। परन्तु परिवर्तन काल की अवधि उतनी ही रहती है। प्राय: १०-५० प्र० श० रोगियों में परिवर्तन होता ही नहीं अर्थात् दूसरी बार ज्वर नहीं आता। १५ १५ प्र० श० रोगियों में एक बार परिवर्तन होता है। अर्थात् दो बार ज्वर आता है। प्राय: १० प्र श० रोगियों में २ परिवर्तन होते हैं, अर्थात् ३ बार ज्वर आता है। १-२ प्र० श० रोगियों में इससे अधिक परिवर्तन होते हैं।

रोग का प्रसार—इसका प्रसार जूँ (Louse) और किल्ली (Tick) के द्वारा होता है। जब ये कोई परिवर्तित ज्वरी को काटते हैं

तब दंश के समय कुछ चक्रकाणु इनके आमाशय में प्रविष्ट होते हैं। वहां पर २४ घंटे तक इनकी संख्या वृद्धि होती है। पश्चात् ये इनके शरीर के भीतर पहुँचते हैं। वहां पर १५ दिन तक इनमें विशेष प्रकार का परिवर्तन होता है। इसके पश्चात् ये वहां से शरीर रस में प्रविष्ट होकर तद्वारा संपूर्ण शरीर में फैलते हैं। इसके बाद इनमें रोग उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न होती है। संक्षेप में ये कीड़े १५ दिन के बाद उपसर्गकारी होते हैं इसके पहले नहीं। इस प्रकार एक बार उपसृष्ट जूं या किल्ली जीवन भर उपसर्ग का प्रसार कर सकती है और यह उपसर्ग इनकी संतान में भी संक्रान्त होता है।

शरीर में प्रवेश—जूँ की लाला ग्रन्थियों में चक्रकाणु नहीं पहुँचते परन्तु किल्ली की लाला ग्रन्थियों में पहुँचते हैं। इसलिये उपसृष्ट जूँ का दंश उपसर्गकारी नहीं होता, किल्ली का होता है। दंश के अतिरिक्त शरीर में पहुँचने का और एक मार्ग है। जब ये उपसृष्ट कीड़े स्वस्थ व्यक्ति को काटते हैं तब काटते समय इनकी विष्ठा त्वचा पर गिरती है जिसमें चक्रकाणु होते हैं या कई बार ये शरीर के दबाव से या खुजाने से कुचल जाते हैं और इनके शरीरगत चक्रकाणु स्वतन्त्र हो जाते हैं। ये मल के या शरीर के चक्रकाणु दंशस्थानसे या कण्डूस उत्पन्न हुए दरारोंसे शरीर में प्रवेश करते हैं।

भारतवर्षमें जूँ के द्वारा फैलनेवाला ही रोग होता है परन्तु पंजाब और वायव्य विभाग में किल्लीसे फैलनेवाला कभी कभी मिलता है।

चिकित्सा—इसके लिये सीरम या वैक्सीन से काम नहीं होता। सालवर्सनादि के योग बहुत लाभ करते हैं।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—रोगी के रक्त में ज्वरावेग की अधिकता के समय चक्रकाणु उपस्थित रहते हैं। अतः इस समय रक्त लेकर उसका परीक्षण सीधकर पार्श्व प्रकाशन से, लीशमन या फाल्डाका की रंजन विधि से या चूहे में रोपण करके कर सकते (पृष्ठ ९८) हैं।

स्पैरोनेमा विन्सेन्टी (B Vincenti)

यह १० २० म्यू लंबा, पतला और अनियमित घुमाव का चक्राणु है। यह सदैव बै० फ्युसीफार्मिस के (पृष्ठ १००) साथ, विन्सेंटके अंजायना नामक गले के रोग में तथा नागाव्रण (Naga sore) और उष्ण कटिबंध क व्रणों (Tropical sore) में पाया जाता है। जहाँ पर इसका स्पर्श होता है वहाँ पर पूय, गभीर धातुओं में फैलने की प्रवृत्ति, पंक (Slough) की उत्पत्ति इत्यादि विशेषताएं होती हैं।

लेप्टोस्पैरा इक्टेरोहीमोरार्जी
(L. Icterohaemorrhagiae)

स्वरूप—यह चक्राणु ६-१२ म्यू लंबा और २५ म्यू चौड़ा (पीछे पृष्ठ २१७ देखो) होता है। इसके घुमाव या पेंच बहुत नजदीक होने क कारण साथ बार पारदमकाशम के बिना अन्य रंजन की पद्धतियों स ये नहीं दिखाई देते हैं। इसके एक या दोनों टोंक टेढ़ होने के कारण यह C S B L के समान दिखाई देता है। अन्य चक्राणुओं से पृथक् करने की दृष्टि से इसका यह स्वरूप विशेष महत्त्व का है। फोंटाना की रजतरंजन पद्धतिसे इसका रंजन होता है।

संवर्धन—यह वातपी है। २५° ३० सें० के बीच में इसकी वृद्धि होती है। इसक संवर्धन के लिये विशेष साधनद्रव्यों की आवश्य कता नहीं होती। पानी में कुछ लवण (जैसे सैट्रेट, नैट्रेट) मिलाने मे इसकी वृद्धि होती है। यदि इसमें शशक का कलिका मिलायी जाय तो और अच्छी वृद्धि होती है।

प्रतिकार—अम्ल और पित्तसे इसका जल्दी नाश होता है। तर या आर्द्र भूमि में तथा खराब पानी में यह महीनों तक रह सकता है।

विकारकारिता—इससे पीत[illegible] Weil's disease) होता है। इसको औपसर्गिक [illegible] भी कहते हैं।

भारतवर्ष में यह रोग कलकत्ते में क्वचित मिलता है। इसमें प्रारंभ में तीव्र ज्वर शरीर में पीड़ा इत्यादि लक्षण होते हैं। चार पाँच दिन के बाद तीव्र कामला उत्पन्न होकर रक्तस्राव भी होने लगता है। यह कामला की अवस्था ५-६ दिन तक रहती है। इसमें मृत्यु भी हो सकती है।

रोग का प्रसार—यह चक्राणु चूहों और सुर्गों में हमेशा रहता है और उनके मूत्र के साथ उत्सर्गित होता है। शरीर में इसका प्रवेश स्वस्थ जल संयुक्त (Water sodden) या व्रणित त्वचा से तथा नासा या नेत्र की श्लेष्मक त्वचा से होता है। चूहों के मूत्र से दूषित भूमि और जल रोग प्रसार का मुख्य साधन है। दूषित खाद्यपेयों के द्वारा भी मनुष्यों पर इसका संक्रमण हो सकता है परन्तु आमाशयिक अम्ल और आन्त्रिक पित्त से इनका नाश होने के कारण इस प्रकार की संभवनीयता बहुत कम होती है।

चिकित्सा—जिनमें इनका उपसर्ग होता है उनके रक्तरस में पुञ्जकारक द्रावक इत्यादि प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न होते हैं। घोड़े के शरीर की लसिका इसलिये चिकित्सा में उपयोगी होती है। इसकी ६०-७० सी० सी० की मात्रा प्रथम दिन त्वचा के नीचे दी जाती है और २-३ दिन तक २० सी० सी० की मात्रा जारी रक्खी जाती है। आत्ययिक अवस्था में सिरा द्वारा भी इसका उपयोग कर सकते हैं। यही एक ऐसा चक्राणु रोग है जिसमें सोमल के योगों का उपयोग नहीं होता।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—रोगी के रक्त में प्रथम सप्ताह में चक्राणु उपस्थित रहते हैं। उसके पश्चात् ये रक्त से कम होकर मूत्र में मिलने लगते हैं। चतुर्थ सप्ताह के पश्चात् ये मूत्र से भी कम हो जाते हैं। परन्तु कभी कभी १०० दिन तक भी मिल सकते हैं। इस लिये प्रथम सप्ताह में रक्त के और २-३ सप्ताह में मूत्र के परीक्षण से निदान किया जाता है।

रक्त—इसका परीक्षण सोपकार पार्श्व प्रकाशन से, संवर्धन से या प्राणिरोपण (पृष्ठ ९७) से किया जाता है। प्राणिरोपण के लिये ५ सी० सी० सैंट्रीफ्युज्ड रक्त का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त लसिका से पुञ्जीकरण प्रतिक्रिया के द्वारा भी निदान किया जाता है।

मूत्र—मूत्र का उपयोग सेंट्रीफ्यूज करके करना चाहिए। मूत्र में अम्ल और पित्त उपस्थित होने के कारण इनका आकार कुछ खराब हो जाता है तथा प्राणिरोपण करने पर भी सफलता नहीं मिलती। सेन्ट्रीफ्यूज मूत्र को तुरन्त सोपकार पार्श्व प्रकाशन से देखने पर निदान में सहायता हो जाती है।

चौथा अध्याय

उच्च तृणाणु, छत्रकाणु, किण्वाणु इत्यादि

उच्च तृणाणु का संक्षिप्त विवरण पीछे (पृष्ठ ३) हो चुका है। इनमें निम्न मुख्य हैं।

एक्टिनोमाइस बोविस (Actinomyces bovis)

वासस्थान—यह मृतोपजीवी जीवाणु है जो भूमि में, घास फूस पर तथा एकदल धान्यों के ऊपर रहता है। इसके अतिरिक्त मनुष्यों और प्राणियों के मुख और आन्त्र में सहवासी के तौर पर भी कभी कभी पाया जाता है। मुख में इसका स्थान दाँतों के गढ़े, दाँतों की जड़ों के पास जमी हुई शर्करा (Tarter) तथा टौन्सिल के दरार (Crypts) इत्यादि में होता है।

शरीर और रंजन—इसका शरीर दो भागों का बनता है। मध्यभाग शाखाप्रशाखा से युक्त तन्तुओं के आपस में मिलने से जालीदार संघ (Mycelial colony) के समान होता है। परिणाह का भाग मध्यभाग से किरण की भाँति मुद्गर के समान एक सिरे में फूले हुए तन्तुओं से बनता है। किरण सदृश इस रचना के कारण ही इसको एक्टिनोमाइस (एक्टिन–किरण माइस छत्रक, किरण छत्रकाणु) नाम दिया गया है। मुद्गर सदृश भाग शरीर रक्षा का साधन माना जाता है। प्राणियों के शरीर में प्राप्त यह तृणाणु मुख्यतया इसी भाग का बना हुआ दिखाई देता है मध्य भाग के तन्तु गलकर एक निराकारी वस्तु बन जाती है। मनुष्य शरीर में प्राप्त इसमें मुद्गरी भाग बहुत ही कम होता है।

साधारण रंगों से यह अच्छी तरह रंजित नहीं होता। ग्राम के

रंग से तन्तुभाग प्रामग्राही और मुद्गरी भाग ग्रामत्यागी होता है। मुद्गरी भाग में कुछ अंश तक (१ प्र० श० सल्फ्यूरिक अम्ल के लिये) अम्लसाही गुण भी होता है।

जीवन व्यापार और संवर्धन—प्राणवायु की आवश्यकता की दृष्टि से यह दोनों प्रकार का होता है। अविकारी (Bostrom's strain) वातजीवी और विकारी (Israel and wolff's type) वातमी होता है। अविकारी २०° श० सें० के बीच में वृद्धि कर सकता है। पोषक तापक्रम दोनों के लिये ३७° सें० है परन्तु विकारी उससे कम तापक्रम पर वृद्धि नहीं कर सकता। यह सब वर्धनकों में वृद्धि कर सकता है, परन्तु ग्लिसरीन, ग्लूकोज या मसिका उपयोग करने से इसकी वृद्धि प्रचुरता से हो जाती है। यद्यपि विकारी प्रकार वातमी होता है तथापि सूक्ष्मांश में प्राणवायु की उपस्थिति वृद्धि के लिये पोषक होती है।

ग्लूकोज मांसरस में जब इसके कण (Grains) प्रविष्ट किये जाते हैं तब ५-७ दिन में वे धीरे धीरे बढ़ने लगते हैं और अन्त में शहतूत के ऊपर मिलनेवाले कणों के समान बड़े हो जाते हैं। मांसरस कलुषित नहीं होता। घन वर्धनक के पृष्ठ भाग पर ५–८ दिन में इसके मोम के समान श्वेतवर्ण अनेक आकार और प्रकार के संघ उत्पन्न होते हैं। स्फारकारी काँच (Magnifying lens) से देखने पर ये संघ गोभी के छोटे फूल के समान मध्य में उभरे हुए और परिसर में तरङ्गाकार दिखाई देते हैं। इनमें पृष्ठ भाग पर फैलने की प्रवृत्ति न होकर गहराई में फैलने की प्रवृत्ति होती है। संवर्धन में इनका तन्तुओं का बनाया हुआ जालीदार भाग मुख्यतया मिलता है। इसके अतिरिक्त शाखाप्रशाखा उत्पन्न करने की प्रवृत्ति कम होती है। संवर्धन में यह बैसीलाय के समान अधिक दिखाई देने लगता है। इससे तथा अम्लग्राही गुण के कारण यह अम्लसाही वर्ग के दण्डाणुओं का संबंधी

समझा जाता है। संवर्धित तृणाणुओं में मुद्गरी भाग बहुत कम दिखाई देता है। यदि वर्धनक में प्राणिज प्रोटीन डाला जाय तो यह भाग मिल सकता है।

विषोत्पत्ति—इसके संबंध में कुछ भी ज्ञान नहीं है।

विकारकारिता—इससे गौ बैल इत्यादि प्राणियों में एक्टिनो मैकोसिस नामक रोग होता है। यह रोग मनुष्यों में भी होता है। धान्य और घास फूस खाने से यह रोग होता है इस प्रकार की कल्पना है, परन्तु इसके संबंध में मतभेद है। यह रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर भी संक्रान्त नहीं होता।

इससे मनुष्यों में कान के नीचे हनुग्रीवा संधि में, वृक्क और आन्त्र पुच्छ में, फुफ्फुस में और क्वचित मस्तिष्क और रक्त में विकृति होती है। रोग का प्रसार लसिकावाहिनियों द्वारा न होकर सलग्न (Continuous) और समीप (Contiguous) अंगों में प्रसर्पण की पद्धति से फैलता है। इसलिए लसिका ग्रन्थियाँ बच जाती हैं। रोग जब बहुत बढ़ता है तब रक्त द्वारा इसका फैलाव यकृत वृक्क इत्यादि अभ्यन्तरीय अंगों में होता है। प्रायः मुख से ही शरीर में प्रवेश होने के कारण इसकी मुख्य और प्रारंभिक विकृति हनुग्रीवा संधि पर ही दिखाई देती है।

जहाँ पर इससे विकृति होती है वहाँ पर गाँठदार सूजन पूयजनन और नाड़ी व्रणोत्पादन (Sinus formation) होता है। पूयजनन के चारों ओर तान्तव धातु उत्पन्न होती है जिसके कारण विकृत स्थान या अंग का छेद मधुकरंडक (Honeycombed) के समान दिखाई देता है। रोग धीरे धीरे आगे बढ़ता जाता है और पीछे के भाग में कुछ रोपण होता है। परन्तु तान्तव धातु की अधिकता होने के कारण इसमें बहुत संकोच होकर यह भाग टेढ़ा हो जाता है।

इसकी विकृति से हमेशा पूय बहता है। इस पूय में कुछ कण

उपस्थित रहते हैं। इनकी तुलना गंधक के दानों के, पोस्ते के बीजों के या साबूदानों के बराबर की जाती है। रोग के कीटाणु पूय में न होकर इन कणों में होते हैं। अतः निदानार्थ इन कणों का परीक्षण और संवर्धन करना चाहिये।

चिकित्सा—इसमें कभी कभी स्वचलित वैक्सीन का उपयोग होता है, परन्तु उत्तम औषधि पो० आयोडाइड है जिसकी मात्रा धीरे धीरे रोगी की सहनशीलता की मर्यादा तक बढ़ाई जाती है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—इसके लिये पूय में मिलनेवाले कणों का उपयोग करना आवश्यक है। पूय का इतर भाग बेकार होता है। कणों को प्राप्त करने के दो उपाय हैं। (१) पटरी पर पूय को फैलाकर और गौर से उसका निरीक्षण करके कणों का पृथक् करना। (२) एक नलिका में पूय लेकर उसमें थोड़ा सा पानी या लवणजल मिलाकर उसको अच्छी तरह हिलाना चाहिये। इससे पूय पानी में घुलकर कण तली में बैठ जाते हैं। इसके बाद उनको उठाकर भिन्न पद्धतियों से उनकी पहचान की जाती है।

(१) सूक्ष्मदर्शक से—एक पटरी पर थोड़ा सा पचास प्रतिशत ग्लिसरीन लेकर उसमें कण रक्खा जाता है। पश्चात् ढक्कन से उसको जरा कुचलकर सूक्ष्मदर्शक से देखा जाता है। अथवा उसी पटरी को ग्राम से रंजित करके पश्चात् देख सकते हैं। इसमें विरोधी रंग पक्का कार्बोल फुक्सीन प्रयुक्त करना अच्छा है। इससे तंतुभाग ग्रामग्राही और मुद्गरी भाग ग्रामत्यागी दिखाई देता है।

(२) संवर्धन से—इसके लिये कणों को अच्छी तरह प्रथम जल में दो या तीन बार धोकर इसके बाद अबसोल्यूट अल्कोहोल से एक बार धोना चाहिये। इससे इनके साथ कोई दूसरा उपसर्ग हो तो नष्ट हो जाता है। इसके पश्चात् ग्लूकोज मांस रस या ग्लिसरीन अगर या माल्टोज अगर में इन कणों को रोपित करके मामूली पद्धति से (पृ०११)

शरीर तापक्रम पर ५-८ दिन तक इसका सम्पोषण करना चाहिये। इससे इनके विशिष्ट प्रकार के संघ स्पष्ट हो जाते हैं।

एक्टिनोमाइस मदूरी (A. maudrae)

सामान्य विवरण—शरीर और रंजन में यह ए० बी० के समान होता है। परन्तु इसमें मुद्गर कम दिखाई देते हैं। सब वर्धनकों पर इसकी वृद्धि होती है, परन्तु इसको प्राणवायु की जरूरत (वायवी) होती है। इसकी वृद्धि ३० सें० पर भी हो सकती है। मांस रस में इसकी वृद्धि छोटे-छोटे रुई के गेंदों (Puff balls) के समान होकर वे नली में बैठ जाते हैं और मांस रस निर्मल रहता है। घन वर्धनक पर इसकी वृद्धि केंचवों की कॅचुली के ढेर के समान (Earth worm casts) उभरी हुई दिखाई देती है। इसका रंग श्वेत, लाल या काला इसके प्रकार के अनुसार दिखाई देता है। ये प्रकार रंगजनक गुणों की भिन्नता के कारण होते हैं।

विकारकारिता—इससे ए० बो० के समान विकृति होती है। परन्तु यह विकृति मुख्यतया पैरों में और क्वचित् हाथों में दिखाई देती है। इसमें रक्त द्वारा फैलकर अन्य गम्भीर स्थानों में विकृति उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती।

इससे जो रोग उत्पन्न होता है उसको मदूरा पाद (Madura foot, mycetoma) कहते हैं। इसका कारण यह है कि यह रोग मदूरा शहर तथा उसके समीपवर्ति मद्रास के दक्षिण भाग में मिलता है। जो नंगे पैर चलते हैं उनमें पैरों के घावों से व्रणों से, दरारों से या कांटों से इसका उपसर्ग होता है। शहरों की अपेक्षा देहातों में इसका प्रसार अधिक दिखाई देता है।

निदान और चिकित्सा—इसमें भी व्रणों से जो पूय निकलता है उसमें कण रहते हैं जिनको उपर्युक्त पद्धति से (पृष्ठ २४९) देखकर निदान किया जाता है। इसकी चिकित्सा में पो० आयोडाइड से काम नहीं होता।

छत्रकाणु (Fungus)

इनका संक्षिप्त विवरण पीछे दिया गया (पृष्ठ १) है। यद्यपि य अन्य विकारी जीवाणुओं की अपेक्षा अधिक संख्या में हवा में पाये जाते हैं तथापि इनसे बहुत कम और क्षुद्र स्वस्थ में त्वचा के और रोमकूपों के विकार उत्पन्न होते हैं। इनमें भिन्न मुख्य हैं —

(१) मैक्रोस्पोरान औडुमुनी (Microsporon audouini)—
दाद या दद्रु (Ringworm)

(२) ,, फुरफुर (M. furfur) सिध्म (Pityriasis versicolor)

(३) एपिडर्मिफैटन क्रूरिस (Epidermophyton cruris)—
धोबी की खुजली (Dhobies itch)

(४) ट्रैकोफैटन एण्डोथ्रिक्स (Trichophyton endothrix)
,, एक्टोथ्रिक्स (,, (ectothrix)

शीर्षक, दाढ़ी तथा शरीर के अन्य स्थानों के बालों का रोग उत्पन्न करते हैं। पहला बाल के भीतरी भाग में और दूसरा बाहरी भाग में।

अकोरियोन शोनलीनी (Achorion schonleinii)—इनसे रोमकूपों के पास त्वचा में तथा बालों में विकृति होती है। इसको फेवस (favus) कहते हैं।

निदान—विकृत बाल या त्वचा के खुरण्डों को लेकर पटरी पर दस प्र० श० कास्टिक पोटाश के साथ मिलाकर थोड़ी देर तक गरम करना चाहिये। क्षार और उष्णता से बाल तथा त्वचा की ऊपरी सेलें गल जाती हैं और छत्रकाणु साफ-साफ सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देते हैं। इस प्रत्यक्ष पद्धति के अतिरिक्त संवर्धन, प्राणिरोपण इत्यादि अन्य पद्धतियों के द्वारा भी निदान किया जाता है। ये तन्तु हमेशा तन्तु जाल के स्वरूप में दिखाई देते हैं। क्वचित् स्पोर भी दिखाई देते हैं। मैक्रोस्पोरा के स्पोर छोटे होते हैं और ट्रैकोफैटा के बड़े होते हैं। इनके जाल केशों के भीतर घुसकर ऊपर और नीचे की ओर बढ़ते हैं।

ओडियम अल्बिकन्स (Odium albicans)

यह किण्वाणु सदृश तृणाणु है। यह जिह्वा, मुख, तालु, आमाशय, योनि इत्यादि अंगों की श्लेष्मल त्वचा में विकृति उत्पन्न करता है। यह श्लेष्मल त्वचा के ऊपर के स्तर में वृद्धि करता है। जहाँ पर इसकी वृद्धि होती है वहाँ पर छाले पड़ते हैं। इससे मुख्यतया बच्चों में मुखपाक (thrush) होता है। कुछ लोगों की यह राय है कि संग्रहणी (sprue) में भी इसी जाति का तृणाणु पाया जाता है जिसको मोनिलिया सायलोसिस (Monilia psilosis) कहते हैं और यही संग्रहणी का कारण होता है। परन्तु सर्वलोक इसस सहमत नहीं हैं।

निदान के लिये मुख या योनि में जो छाले होते हैं उनको खरोंच कर देखना चाहिये। इससे शाखाप्रशाखवान् जालीदार स्पोरयुक्त तृणाणु दिखाई देंगे। संग्रहणी में मल का परीक्षण इन्हीं के लिये करना चाहिये।

पाँचवाँ अध्याय

कीटाणु सम्बन्धी सामान्य विवरण

वास स्थान—तृणाणुओं के समान ये भी सर्वव्यापी होते हैं। इनमें कुछ स्वतन्त्रतया जीवन व्यतीत करते हैं, कुछ प्राणियों में सह वासो के तौर पर रहते हैं और कुछ परोपजीवी या विकारी होते हैं।

शरीर—तृणाणुओं के समान इनका भी शरीर एक ही सेल का बनता है। चिद्रस (Proto plasm) केन्द्ररस (Nucleoplasm) और शरीर रस (cytoplasm) करके दो भागों में विभक्त रहता है। केन्द्ररस में रंग ग्रहण की शक्ति अधिक होती है। इसलिये इसको क्रोमाटिन (chromatin) कहते हैं। केन्द्र शरीर का प्रधान अंश होता है। इस केन्द्र में और एक अन्तः केन्द्र (Nucleoli or karyosome) होता है। कुछ कीटाणुओं में दो केन्द्र होते हैं, एक वृद्धि के लिये और दूसरा गति के लिये। शरीर रस में कई बार रिक्तगोल (vacuoles) होते हैं जो संकोचविकासशील होने के कारण भक्ष्य संग्रहण या मलोत्सर्जन के काम में आते हैं। इनमें तृणाणु, वालकण, अन्नकण, टूटी फूटी सेलें इत्यादि पदार्थ दिखाई देते हैं। गति के लिये इनमें मिथ्यापाद (Pseudo podia), लोम (cilia) या तन्तुपिच्छ होते हैं। इनके शरीर पर आवरण होता है, परन्तु अमीबा जैसे कुछ कीटाणु आवरण रहित भी होते हैं। इस कारण से अमीबा की कोई भी निश्चित आकृति नहीं होती। ये अपने भक्ष्य को पकड़ (Engulf) उसको रिक्तगोल में रखते हैं और वहाँ पर उसको हजम करते हैं। संक्षेप में कीटाणु शारीरिक दृष्ट्या पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं।

रंजन—इनके लिये मुख्यतया लीशमन या जीम्सा का रंग

(पृष्ठ १२) प्रयुक्त होता है। इससे इनके केन्द्र या केन्द्ररस के क
अच्छी तरह रंजित होते हैं। दूसरा रंग भायरन हीमाटोक्सिलिन है
छीशमन से केन्द्र लाल और हीमोटोक्सिलिन से काले हो जाते हैं।

सख्यावृद्धि (Multiplication)—इनमें संख्यावृद्धि के प्रय
तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) द्वैध विभजन—(पृष्ठ १४)—इस प्रकार की वृद्धि आंत्र
में, तमुपित्थ एक कीटाणु और छीशमन टोनोवन बाड़ी में होती है
(२) अनेकधा विभजन (Multiple division)—इसमें प्रथम केन्द्र
रस अनेक भागों में विभक्त होकर पश्चात् शरीर रस भी उतने भागों
बँटता है। अन्त में प्रत्येक केन्द्र भाग के साथ एक शरीर का भा
मिलकर प्रत्येक अंश स्वतन्त्र हो जाता है। इस पद्धति को खायम्होगनी
(Schizogony) कहते हैं। विषमज्वर कीटाणु के अमैथुनी च
में यह पद्धति दिखाई देती है। (३) मैथुनी प्रजनन (Sporogony)-
वास्तव में यह संख्या वृद्धि की पद्धति नहीं है। यह पद्धति विषम ज्व
कीटाणु में मच्छर के शरीर में दिखाई देती है। मनुष्य शरीर में इनक
संख्यावृद्धि अनेकधा भजन से होती है, परन्तु यह कार्य अविच्छिन्न रू
से चिरकाल तक नहीं चल सकता। उस समय अपनी जाति रक्षा
लिये इनमें से कुछ कीटाणु व्यवायधर्मी बन जाते हैं। इनका ना
व्यवायक (Gametocytes) होता है। ये स्त्री और पुरुष करके
प्रकार के होते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्री व्यवायकों की संख्या अधि
होती है। साधारण कीटाणुओं की अपेक्षा ये व्यवायक अधिक प्रति
कारक (Resistant) होते हैं। ये स्त्री और पुरुष व्यवायक आप
में मिलकर एक मेल बनाते हैं जो झायगोट (Zygote) कहलात
है। यह झायगोट धीरे धीरे बढ़कर अन्त में अनेकधा विभजन से अने
कीटाणुओं में विभक्त होता है। ये कीटाणु स्पोरोझाइट (Sporozoite
-कहलाते हैं।

प्रतिकारकशक्ति—विकारी कीटाणु शरीर के बाहर अधिक काल तक जीवनक्षम या उपसर्गकारी नहीं रह सकते। अतः जाति रक्षा की दृष्टि से प्रपादी और प्रतोदी कीटाणुओं में सिस्ट (Cyst) नामक एक प्रतिकारक अवस्था होती है जो प्रतिकूल परिस्थिति में उत्पन्न होती है। विषमज्वर के कीटाणुओं की व्यवायकावस्था भी जाति रक्षा की दृष्टि से अधिक प्रतिकारक बनायी गयी है।

वर्गीकरण—कीटाणुओं के मुख्य चार वर्ग किये गये हैं

(१) प्रपादी कीटाणु (Sarcodina)—इस वर्ग के कीटाणुओं का शरीर आवरण रहित होता है। निश्चल अवस्था में आकार गोल या दीर्घवृत्त होता है, परन्तु गति युक्त अवस्था में विक्रम से पैर के रूपमें अंग निकलते हैं जिनका नाम प्रपाद या मिथ्यापाद (Pseudopodia) है और इसीके कारण इस वर्ग को रायजोपोडा (Rhizopoda) भी कहते हैं। इस अवयव की सहायता से कीटाणु गति करता है तथा अपने भक्ष्य को घेर कर भक्षण करता है। इस वर्ग के उदाहरण–विविध अमीबा।

(२) प्रतोदी कीटाणु (Mastigophora)—इनके शरीर पर कोड़े के समान तन्तु चिपके रहते हैं इसलिये प्रतोदी (Mastix प्रतोद) या तन्तु विषी (Flagellates) कहलाते हैं। इनका कार्य गति प्रवर्तन है। कुछ कीटाणुओं के प्रतोद के साथ तरंगी आवरण भी (Undulating membrane) लगा रहता है। तन्तुविषी एक या अनेक होते हैं। प्रतोदी कीटाणुओं के दो उपवर्ग होते हैं —१ आन्त्रस्थ प्रतोदी (Intestinal) (२) रक्तस्थप्रतोदी। (Haemoflagellates) इस वर्ग के प्रधान उदाहरण—कालाजार, निद्रारोग के कीटाणु हैं।

(३) स्पोरजनक कीटाणु (Sporozoa)—इस वर्ग के कीटाणुओं में स्थानांतर करने की या भक्ष्य ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। ये पूर्ण परावलंबी अतएव पूरा परोपजीवी होते हैं। ये स्पोरोत्पत्ति से संख्या वृद्धि करते हैं इसलिए स्पोरजनक कहलाते हैं। ये शरीर की

किसी न किसी धातु में अवस्थान करते हैं और इसके अनुसार इनका वर्गीकरण किया गया है। जैसे रक्तस्थ कीटाणु हीमोस्पोरीडिया (Haemosporidia) मांसस्थ सार्कोस्पोरीडिया (Sarcosporidia) नासास्थ ह्रायनोस्पोरीडिया (Rhinosporidia) इत्यादि । इनमें रक्तस्थ विभाग विशेष महत्त्व का है और इसीमें विषमज्वर का कीटाणु आता है

(४) लोमशकीटाणु (Ciliata)—इस वर्ग के कीटाणु के शरीर पर लोम (Cilia) होते हैं। इसलिये ये लोमश कहलाते हैं। इस वर्ग का केवल एक ही कीटाणु महत्त्व का है—बैलण्टिडियम कोली ।

संक्रमण—विकारी तृणाणुओं के समान विकारी कीटाणुओं का *संक्रमण दूषित खाद्यपेय, मक्खियाँ वाहक तथा कीटक* (पृष्ठ ८०) इनके द्वारा होता है। परन्तु इनमें दंशक कीटक संक्रमण की दृष्टि से विशेष महत्त्व के होते हैं। जैसे, मच्छर द्वारा विषमज्वर के कीटाणुओं का, सटसीमक्खिका के द्वारा निद्रा रोग के कीटाणुओं का, भुनगे के द्वारा काला अजार के कीटाणुओं का इत्यादि। इनमें कुछ कीटक ऐसे होते हैं कि जो केवल संक्रमण के लिये नहीं, कीटाणु जीवन के लिये आवश्यक होते हैं। जैसे—विषमज्वर में मच्छर

वाहक—तृणाणुजनित रोगों के समान इनके भी वाहक होते हैं। परंतु विशेषता यह होती है कि ये वाहक चिरकालीन स्वरूप के अर्थात् बरसों तक शरीर में कीटाणुओं का संग्रहण करनेवाले होते हैं। इस कारण से तथा इनके संक्रामक कीटक सदैव रहने के कारण कीटाणुजनित रोग बारहो मास न्यूनाधिक संख्या में होते रहते हैं। महामारी के स्वरूप में प्राय: नहीं होते ।

विकारकारिता—विकारी कीटाणुओं की संख्या विकारी तृणाणुओं की अपेक्षा बहुत कम होने के कारण इनसे उत्पन्न होनेवाले रोग संख्या में बहुत कम हैं। तृणाणुओं के समान इनसे तीव्र और शीघ्रघातक

स्वरूप के रोग न होकर चिरकालीन रोग ही प्रायः अधिक हुआ करते हैं। इसके अतिरिक्त कीटाणु जनित रोगों में रोगी का पिण्ड जल्दी न छोड़ने की भी प्रवृत्ति होती है क्योंकि इनसे रोगियों के शरीर में वास्तविक क्षमता (आगे विषमज्वर में क्षमता देखो) उत्पन्न नहीं होती। जीवाणुजनित रोगों के समान कीटाणु जनित रोगों का अधिकार क्षेत्र संपूर्ण पृथ्वी पर न होकर केवल समशीतोष्ण और उष्ण कटिबंध (Sub-tropical and Tropical) में ही सीमित रहता है क्योंकि स्वयं कीटाणु तथा उनके संवाहक कीटक शीत को अच्छी तरह सह नहीं सकते।

चिकित्सा—जीवाणुजनित रोगों के समान इनके विकारों के लिये वैक्सीन या सीरम का उपयोग नहीं होता। इनमें रस चिकित्सा (Chemotherapy) से बहुत फायदा होता है। जैसे, विषमज्वर के लिये क्विनीन, अटेब्रिन, प्लाज्मोक्विन। अमीबिक अतीसार के लिये एमिटिन, यात्रेन, कार्बार्सन, एन्टरोवायोफार्म। कालाआजार के लिये यूरिया स्टिबामिन, न्यूस्टिबोसन इत्यादि।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—कीटाणु मुख्यतया रक्त और मल में मिलने के कारण इसके लिये दोनों का परीक्षण किया जाता है। परीक्षण में मुख्यतया कीटाणु दर्शन के ऊपर ध्यान दिया जाता है और इसके लिये लीशमन या आयरन हीमोटोक्सिलीन का उपयोग किया जाता है। संवर्धन का भी उपयोग कर सकते हैं, परन्तु प्रत्यभिज्ञान में परिपाटी (Routine) के तौर पर इनका उपयोग नहीं किया जाता। प्रतिकाय कसौटियाँ और प्राणिरोपण इनका उपयोग कीटाणु प्रत्यभिज्ञान में बहुत कम होता है। काला आजार में जो प्रतिकाय कसौटियाँ होती हैं व जीवाणु विषयक कसौटियों के समान (पृष्ठ ९१) विशिष्ट स्वरूप की नहीं होतीं, सामान्य स्वरूपकी होती हैं।

प्रपादी कीटाणु (Sarcodina-Rhizo poda)

इस वर्ग में केवल अमीबा विशेष महत्त्व के हैं। ये जलाशयों में स्वतन्त्र रूप में, प्राणियों में अविकारी सहवासी के स्वरूप में तथा विकारी परोपजीवी के स्वरूप में पाये जाते हैं। परोपजीवी अमीबा एन्टामीबा (Entamoebae—आन्त्रामीबा) कहलाते हैं। ये बहुव्यापी होते हैं तथा मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों के आन्त्र में परोपजीवी के तौर पर रहते हैं। इनकी विशेषता यह है कि एक प्रकार का अमीबा एक ही प्राणि में उपसर्ग पहुँचा सकता है, दूसरे प्राणि में नहीं। जैसे, मनुष्यों का अमीबा मेंढकों में नहीं रह सकता, न मेंढकों का मनुष्यों को उपसर्ग पहुँचा सकता। इनमें भिन्न मुख्य हैं —

१ एन्टामीबा हिस्टोलिटिका		४ एन्डोलीमाक्स नाना
२ ,,	कोली	५ आयडोमीबा बटशली
३ ,,	जिन्जिवालिस	६ डायेन्टमीबा फ्रजालिस

एन्टामीबा हिस्टोलिटिका (E. histolytica)

वासस्थान—ये अमीबिक अतीसार पीड़ित रोगियों के पतले मल में और आन्त्र की श्लेष्मल त्वचा में रहते हैं। इसके अतिरिक्त ये रोगियों की या वाहकों की यकृत विद्रधि की प्राचीर में (पूय में नहीं) भी मिलते हैं। शरीर के बाहर आते ही घंटे दो घंटे के भीतर ये मर जाते हैं। अतः भूमि जल इत्यादि में ये नहीं पाये जाते।

शारीर—अमीबा दो अवस्थाओं में पाया जाता है —(१) रोग की तीव्रावस्था में चंचल औद्भिदावस्था में। (२) रोग की जीर्णावस्था में रोग की निवृत्ति में तथा वाहकों में सिस्टिकावस्था में।

(१) चंचल औद्भिदावस्था (Motile vegetative stage)—इस अवस्था में अमीबा की मोटाई २० ३० म्यू होती है। शरीर केवल

विद्रस से मनता है। इसके आवरण नहीं होता। अथात् शरीर एक तरल के समान बहता रहता है और इसी के कारण यह कीटाणु अमीबा (बहनेवाला) कहलाता है। इसका शरीर बाह्य और अन्तःस्तरीय दो भागों में स्पष्टतया विभक्त हुआ दिखाई देता है। बाह्य भाग (Ectoplasm) स्वच्छ काचसम (Hyaline) प्रकाश परावतक और परिमाण में संपूर्ण शरीर की तिहाई के बराबर होता है। अन्तर्भाग (Endoplasm) सूक्ष्मकणमय होता है। इस अन्तर्भाग में केन्द्र अरंजितावस्था में अस्पष्ट, परन्तु रंजन करने पर स्पष्ट दिखाई देता है। केन्द्रावरण के पास मोचर स क्रोमाटिन के कण होते हैं जिनके कारण आवरण मालासम (Beaded) दिखाई देता है। केन्द्र के ठीक मध्य में अन्तःकेन्द्र होता है। यह हिस्टोलिटिका के केन्द्र की विशेषता होती है। केन्द्र आकार में गोल और मोटाई में ४० म्यू होता है। केन्द्र के अतिरिक्त अन्तर्भाग में रक्त के कोई कण होते हैं। यह भी हिस्टोलिटिका की विशेषता है। अन्न के कण, अन्य गुणाणु या मलस्थित अन्य पदार्थ इसमें जीवितावस्था में कदापि नहीं होते। जब यह मरने को होता है तब उसके अन्तभाग में अन्न के कण, अन्य गुणाणु तथा रिक्त गोल दिखाई देने लगते हैं। ये गुणाणु अमीबा में भक्षित होने के कारण उसमें नहीं होते हैं, परन्तु अमीबा दुबमाय होने के कारण उसके भक्षण के लिये वहां पर आये हुए होते हैं। इसकी गति प्रवहण (Streaming movement) में होती है और यह कार्य बाह्य भाग से प्रसाद निकलकर होती है। ये प्रसाद लंबे होकर आकार में अंगुलि के समान और देखने में काँच के समान (Hyaline, glasslike) होते हैं। जिस दिशा में गति की आवश्यकता होती है उसी दिशा में बाह्य भाग से प्रसार निकलता है और उसमें अन्तर्भाग भी थोड़ा थोड़ा घूमने लगता है। फिर प्रसार और बढ़ता है और अन्तर्भाग भी फिर उसमें और घुसता है। इस प्रकार

कुछ सेकन्डों के अन्तर पर अमीबा प्रपाद को और उसके साथ अन्तर्भाग को बढ़ाकर एक दिशा में गति करता हुआ दिखाई देता है। सदैव गतियुक्त होने के कारण अमीबा की कोई निश्चित आकृति नहीं होती। जिन प्रपादों के द्वारा अमीबा गति करता है वे मिथ्यापाद (Pseudo podia) कहलाते हैं। गति के अतिरिक्त भक्ष्य को घेर लेने का तथा किसी अंग के भीतर सेलों में से प्रवेश करने का कार्य अमीबा इन्हीं के द्वारा करता है। जब यह मरने को होता है तब गतिहीन तथा गोल हो जाता है। ताजे मल में गतियुक्त, विषमाकारी और लोहकण युक्त अमीबा मिलना इस रोग की खास पहचान है। प्राणियों के शरीर के बाहर आने के पश्चात् थोड़े समय में ये मर जाते। इसलिये हमेशा ताजे मल की परीक्षा करनी चाहिये।

सिस्टिक अवस्था—रोग की तीव्रता कम होने पर तथा आन्त्रस्थ व्रणों का रोपण शुरू होने पर याने प्रतिकूल परिस्थिति में अमीबा सिस्ट (Cyst) में परिवर्तित होते हैं। परन्तु अमीबा और उनके सिस्ट इनके बीच में सिस्टपूर्व ((Precystic) अवस्था होती है जिसमें अमीबा स्वाभाविक आकार से कुछ छोटे, कम चंचल, गोल तथा सेल, रक्तकण इत्यादि से विरहित होते हैं। ये आन्त्र की श्लेष्मक कला में प्रवेश नहीं कर सकते, आन्त्रस्थ मल में ही निवास करते हैं और मल के साथ शरीर से बाहर आते हैं। इन्हीं से आगे चाकर सिस्ट बनते हैं। बनते समय इनका आकार और भी छोटा (१०-१५ म्यू) होता है तथा इनके ऊपर एक प्रतिरोधक पतला आवरण बनता है। इनकी उत्पत्ति स्थूलान्त्र के प्रारंभिक हिस्से में, जहाँ पर द्रवांश अधिक होता है, होती है।। इनमें १-४ (मात्र चार) केन्द्र होते हैं, आकार गोल होता है और इनके भीतर दण्ड सदृश क्रोमीडियल वस्तुएँ (Chromidial bodies) होती हैं। ये वस्तुएँ एक प्रकार से संग्रह पदार्थ (Reserve) हैं। ये सब सिस्टों में नहीं होतीं। दो केन्द्रवाले सिस्टों में अधिक

मिलती हैं। भरमित सिस्टों में ये भली भाँति दिखाई देती हैं, रंजित सिस्टों में नहीं। सिस्टों में ग्लैकोजन भी बहुत होता है। आयोडिन से रंजन करने पर सिस्ट के केन्द्र तथा ग्लैकोजन अच्छी तरह दिखाई देते हैं। अमीबा से सिस्ट बनने का कार्य कुछ घंटों में होता है। सिस्ट बनने का कार्य आन्त्रावकाश में (Lumen) हो जाता है। यह कार्य कदापि भी शरीर के बाहर नहीं हो सकता। सिस्ट आन्त्र के अतिरिक्त यकृतादि अन्य अंगों में अमीबा के समान नहीं पाये जाते, केवल बँधे हुए मल में मिलते हैं।

सिस्ट और अमीबा में भेद—सिस्ट विश्रामावस्था है। इसका तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में प्राप्त हुए अमीबा विभजन द्वारा संख्या मोत्पत्ति का कार्य नहीं कर सकते अर्थात् जिस रोगी के शरीर में ये सिस्ट बनते हैं उसी के शरीर में ये आगे बढ़ नहीं सकते। प्रतीकारका वस्था का तात्पर्य यह है कि अमीबा की भाँति इनके सिस्ट शरीर के बाहर आते ही नहीं मर जाते। पानी में सिस्ट १५० दिनों तक शरीर के बाहर सजीव रह सकते हैं। इनका घातक तापक्रम ५० से है। (२) अमीबा के समान ये शरीर की धातुओं के सेलों में नहीं मिलते, केवल आन्त्रस्थ मल में होते हैं और मल के साथ बाहर निकलते रहते हैं। (३) अमीबा तीव्र या नवीन अवस्था में मिलते हैं, सिस्ट जीर्ण या चिरकालीन अवस्था में मिलते हैं। (४) अमीबा के समान इनमें धातुओं के भीतर प्रवेश करके विकार उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती (५) ये आन्त्र में महीनों या वर्षों तक, अधिक जीवन भर मिल सकते हैं। (६) रोग का संक्रमण अमीबा से न होकर सिस्टों के द्वारा होता है, क्योंकि अमीबा आमाशयिक अम्ल से मर जाते हैं।

संक्रमण—मल में उपस्थित सिस्टों से दूषित आग्नेय पदार्थों के सेवन से स्वस्थ मनुष्यों पर इस रोग का संक्रमण होता है। अर्थात् रोग का संक्रमण तीव्रातिसारी के द्वारा न होकर जीर्णातिसारी से होता है

क्योंकि तीव्रातिसारी के मल में अमीबा और जीर्णातिसारी के मल में सिस्ट रहते हैं। मल, दूध तथा अन्य खाद्यपेय पदार्थों की दुष्टि भिन्न मार्गों से होती है। (१) सिस्ट युक्त मल का खाद्यादि पदार्थों से प्रत्यक्ष संबंध होने से। (२) मल दूषित हाथों का सम्बन्ध या मल दूषित पात्रों का सम्बन्ध खाद्यपेय पदार्थों के साथ होने से। (३) मक्खियों से। जब मक्खी मल को खाती है तब मलस्थित जीवाणु उसके पेट में आकर उसकी विष्ठा से निकलते हैं तथा उसके टाँगों, परों और सूँड में लगे रहते हैं। ऐसी मक्खी टाँगों, परों तथा विष्ठा द्वारा खाद्यपेय पदार्थों को दूषित करती है। (४) अमीबावाहकों से—अन्य आन्त्रस्थ विकारों की भाँति इस विकार के भी वाहक होते हैं। ये स्वस्थ या संसर्ग वाहक और व्याधित वाहक करके दो प्रकार के होते हैं। इन वाहकों के मल के साथ सिस्ट उत्सर्गित होते हैं और ये अपने हाथों द्वारा खाद्यपेय पदार्थों को दूषित करते हैं। यह वाहकावस्था चिकित्सा न करने पर १०-१५ साल तक रह सकती है।

विकारकारिता—इससे मनुष्यों में अमीबिक अतीसार (Amoebic dysentery) उत्पन्न होता है। यह रोग जब स्वस्थ मनुष्य सिस्टों का सेवन करता है तब उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।

ये सिस्ट दूषित खाद्यपेय पदार्थों के साथ आमाशय में चले जाते हैं आमाशयिक रसका परिणाम उनके ऊपर कुछ भी नहीं होता। वहाँ से क्षुद्रान्त्र में आने पर अग्न्याशय के रस से उनके ऊपर का आवरण घुल जाता है और ये स्थूलान्त्र में स्वतन्त्र हो जाते हैं। इसके पश्चात् प्रत्येक सिस्ट से एक चतुष्केन्द्रीय अमीबा प्रथम बनता है और तदनन्तर उससे चार स्वतन्त्र पूर्ण अमीबा बनते हैं। ये अमीबा अपने मिथ्यापादों से स्थूलान्त्र की प्राचीर में प्रवेश करके वृद्धि करते हैं और वृद्धि के साथ साथ सायटोलैसीन (Cytolysin) नामक विष भी उत्पन्न करते हैं जिसके कारण सेलों का नाश होकर व्रण बनते हैं। इसी कार्य को ध्यान

मिलती हैं। परंभिन्न सिस्टों में ये भली भाँति दिखाई देती हैं, रंजित सिस्टों में नहीं। सिस्टों में ग्लैकोजन भी बहुत होता है। आयोडिन से रंजन करने पर सिस्ट के केन्द्र तथा ग्लैकोजन अच्छी तरह दिखाई देते हैं। अमीबा से सिस्ट बनने का कार्य कुछ घंटों में होता है। सिस्ट बनने का कार्य आन्त्रावकाश में (Lumen) हो जाता है। यह कार्य कदापि भी शरीर के बाहर नहीं हो सकता। सिस्ट आन्त्र के अतिरिक्त यकृतादि अन्य अंगों में अमीबा के समान नहीं पाये जाते, केवल बँधे हुए मल में मिलते हैं।

सिस्ट और अमीबा में भेद—सिस्ट विश्रामावस्था है। इसका तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में प्राप्त हुए अमीबा विभजन द्वारा संतानोत्पत्ति का कार्य नहीं कर सकते अर्थात् जिस रोगी के शरीर में ये सिस्ट बनते हैं उसी के शरीर में ये आगे बढ़ नहीं सकते। प्रतीकारकावस्था का तात्पर्य यह है कि अमीबा की भाँति इसके सिस्ट शरीर के बाहर आते ही नहीं मर जाते। पानी में सिस्ट १५० दिनों तक शरीर के बाहर सजीव रह सकते हैं। इनका घातक तापक्रम ५० सें. है। (२) अमीबा के समान ये शरीर की धातुओं के सेलों में नहीं मिलते, केवल आन्त्रस्थ मल में होते हैं और मल के साथ बाहर निकलते रहते हैं। (३) अमीबा तीव्र या नवीन अवस्था में मिलते हैं, सिस्ट जीर्ण या चिरकालीन अवस्था में मिलते हैं। (४) अमीबा के समान इनमें धातुओं के भीतर प्रवेश करके विकार उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती (५) ये आन्त्र में महीनों या बरसों तक, क्वचित् जीवन भर मिल सकते हैं। (६) रोग का संक्रमण अमीबा से न होकर सिस्टों के द्वारा होता है, क्योंकि अमीबा आमाशयिक अम्ल से मर जाते हैं।

संक्रमण—मल में उपस्थित सिस्टों से दूषित खाद्यपेय पदार्थों के सेवन से स्वस्थ मनुष्यों पर इस रोग का संक्रमण होता है। अर्थात् रोग का संक्रमण तीव्रातिसारी के द्वारा न होकर जीर्णातिसारी से होता है

क्योंकि शीमातिसारी के मल में अमीबा और जीर्णातिसारी के मल में सिस्ट रहते हैं। जल, दूध तथा अन्य खाद्यपेय पदार्थों की दूषि निम्न मार्गों से होती है। (१) सिस्ट युक्त मल का खाद्यादि पदार्थों से प्रत्यक्ष संबंध होने से। (२) मल दूषित हाथों का सम्बन्ध या मल दूषित पात्रों का सम्बन्ध खाद्यपेय पदार्थों के साथ होने से। (३) मक्खियों से। जब मक्खी मल को खाती है तब मलस्थित जीवाणु उसके पेट में जाकर उसकी विष्टा मे निकलते हैं तथा उसके टाँगों, परों और सूँड में लगे रहते हैं। ऐसी मक्खी टाँगों, परों तथा विष्टा द्वारा खाद्यपेय पदार्थों को दूषित करती है। (४) अमीबावाहकों से—अन्य आन्त्रस्थ विकारों की भाँति इस विकार के भी वाहक होते हैं। ये स्वस्थ या संसर्ग वाहक और व्याधित वाहक करके दो प्रकार के होते हैं। इन वाहकों के मल के साथ सिस्ट उत्सर्गित होते हैं और ये अपने हाथों द्वारा खाद्यपेय पदार्थों को दूषित करते हैं। यह वाहकावस्था चिकित्सा न करने पर १०-१५ साल तक रह सकती है।

विकारकारिता—इससे मनुष्यों में अमीबिक अतीसार (Amoebic dysentery) उत्पन्न होता है। यह रोग जब स्वस्थ मनुष्य सिस्टों का सेवन करता है तब उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।

ये सिस्ट दूषित खाद्यपेय पदार्थों के साथ आमाशय में चले आते हैं आमाशयिक रसका परिणाम इनके ऊपर कुछ भी नहीं होता। यहाँ से क्षुद्रान्त्र में आने पर अग्न्याशय के रस से इनके ऊपर का आवरण घुल जाता है और ये स्थूलान्त्र में स्वतन्त्र हो जाते हैं। इसके पश्चात् प्रत्येक सिस्ट से एक चतुष्केन्द्रीय अमीबा प्रथम बनता है और तदनन्तर उससे चार स्वतन्त्र पूर्ण अमीबा बनते हैं। ये अमीबा अपने मिथ्यापादों से स्थूलान्त्र को प्राचीर में प्रवेश करके वृद्धि करते हैं और वृद्धि के साथ साथ सायटोलैसीन (Cytolysin) नामक विष भी उत्पन्न करते हैं; जिसके कारण सेलों का नाश होकर व्रण बनते हैं। इसी कार्य को ध्यान

में रखकर इसको हिस्टोलिटिका (Histolytica धातु नाशक) कहते हैं। आम्प्रवणित होने से मरोड़ दस्त, आँव, दद रक्तस्राव इत्यादि अतीसार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। बालकों में प्रायः अतीसार न होकर यकृत विद्रधि या अन्य उपद्रव हुआ करते हैं। संक्षेप में अतीसार अमीबा के उपसर्ग का एक प्रधान परिणाम है, संपूर्ण परिणाम नहीं है। इसलिये अमीबा के उपसर्ग से होनेवाले विकार को अतीसार न कहकर अमीबिकता (Amoebiasis) कहना चाहिये।

एण्टामीबा कोली (E Coli)

वास स्थान—यह मनुष्यों का अविकारी सहवासी है। यह स्थूलान्त्र के अवकाश (Lumen) में रहता है, श्लेष्मल त्वचा में नहीं रहता। यह मनुष्यों को बिना पर अपना निर्वाह करता है, अर्थात यह मल भक्षक (Scavenger) है। यह केवल मनुष्यों में ही मिलता है।

शरीर—यह सबसे बड़ा अमीबा है। इसकी मोटाई १० ५० म्यू होती है। शरीर में बाह्य भाग नहीं के बराबर होता है। सर्वशरीर अन्तर्भाग से ही बनता है। इसके मिथ्यापाद छोटे और मोटे होते हैं, जो अन्तर्भाग से निकलते हैं। ये बहुत सुस्त होते हैं और इनमें एक दिशा में गति नहीं होती। देखने में ये ए० हि० के मिथ्यापाद के बराबर शीशे के समान नहीं दिखाई देते। अन्तर्भाग में रिक्त गोल (Vacuoles), अन्न के कण, तृणाणु इत्यादि पदार्थ मिलते हैं परन्तु कोष कण कदापि भी नहीं होते। अन्तर्भाग कणों से भरा रहता है। इसका केन्द्र मोटा और अरंजितावस्था में भी बहुत स्पष्ट होता है। रंजन करने पर यह और भी स्पष्ट हो जाता है। केन्द्र के आवरण के भीतर पृष्ठ में बहुत मोटे कण होते हैं। अन्त केन्द्र बीच में न होकर कुछ एक तरफ (eccentric) होता है।

सिस्ट बनने से पूर्व इसमें भी सिस्टपूर्व अवस्था होती है जिसमें ए० हि० के समान सब प्रक्रिया होती है। सिस्ट की मोटाई १५ २१ म्यू होती है। इसका आवरण दुगना (Double) मोटा होता है। इसमें प्रायः ८ केन्द्र होते हैं। परन्तु कभी कभी दो दो या चारचार केन्द्र के सिस्ट दिखाई देते हैं। क्वचित् ११ केन्द्र के बहुत बड़े सिस्ट भी दिखाई देते हैं। ये राक्षस (Giant) सिस्ट कहलाते हैं। इसके सिस्ट के केन्द्र अरंजित अवस्था में भली भाँति दिखाई देते हैं और रंजन करने पर गहरा रंग धारण करते हैं। ग्लैकोजन दो केन्द्रवाले सिस्टों में अधिक रहता है। क्रोमैटिडिमल वस्तु इसके सिस्टों में बहुत कम होती है। ए० हि० के सिस्टों के समान इसके सिस्ट केवल बँधे हुए मल में ही मिलते हैं।

विकारकारिता—यह अविकारी है। कई बार अतिसार में ए० हि० के साथ यह भी मिल जाता है। इसके ऊपर एमेटिन या अन्य अतिसार नाशक औषधि का जरा सा भी परिणाम नहीं होता। इसलिये जिसके आन्त्र में एक बार इसका प्रवेश होता है उसको इससे छुटकारा पाना असंभव होता है।

एण्डोलीमाक्स नाना (Endolimax nana)

वासस्थान—मनुष्यों के बृहदान्त्र में अविकारी सहवासी के तौर पर कभी कभी मिलता है।

शरीर—यह बहुत छोटा अमीबा है। मोटाई ६–१२ म्यू होती है। मिथ्यापाद छोटे और सुस्त होते हैं। बाह्य भाग अल्पतर होता है। मध्यभाग में अन्न के कण, जीवाणु, रिक्त गोल इत्यादि की भरमार होती है। केन्द्र बड़ा भारी होकर उसका अन्तः केन्द्र मध्य से कुछ दूरी पर होता है। इसमें लोहकण कदापि भी नहीं मिलते। इसके सिस्ट

चार केन्द्रवाले होते हैं। मोटाई कोशकण के बराबर होती है। क्रोमी डियल वस्तु नहीं होती।

विकारकारिता—यह पूर्ण अविकारी है।

आयोडअमीबा बटश्ली (Iodamoeba butschlii)

वासस्थान—यह मनुष्यों के आन्त्र में सहवासी के तौर पर कभी कभी मिलता है।

शरीर—इसकी मोटाई १५-२० म्यू होती है। शरीर ए० नाना के समान होता है। केवल अन्तःकेन्द्र ठीक मध्य में होता है। सिस्ट मोटाई में ९-१५ म्यू होकर उसमें केवल एक केन्द्र होता है। उसमें एक या दो ग्लैकोजन के पिण्ड होते हैं जो आयोडिन से रंजन करने पर गहरे लाल रंग के (Mahogany) दिखाई देते हैं। इसलिये ये सिस्ट आयोडिन सिस्ट कहलाते हैं। यह केन्द्र मध्य में न होकर एक तरफ होता है और बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। इसका अन्तःकेन्द्र साफ दिखाई नहीं देता। यह अविकारी है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—सूक्ष्मदर्शक से मलस्थित अमीबा या उनके सिस्टों को देखकर उनको पहचानना रोग निदान का सर्वप्रथम और सवश्रेष्ठ मार्ग है। इसके लिये निम्न बातों पर ध्यान देना चाहियेः—(अ) पूर्व दिन रोगी को विरेचन न देना चाहिये। (आ) मल के साथ मूत्र का मिश्रण न होना चाहिये। (इ) मल सद्योत्सृष्ट (Freshly passed) होना चाहिये और उसकी परीक्षा तुरन्त करनी चाहिये। (ई) अमीबा ठंडे होने पर गतिहीन हो जाते हैं। इसलिये उनको देखने के लिये सूक्ष्मदर्शक के मंच को गरम रखने का प्रबन्ध (उष्ण मंच—Warm stage) होना चाहिये। यदि इस प्रकार का प्रबंध न हो तो परीक्षण के पूर्व पटी को मन्दोष्ण करके लेना चाहिये। (उ) मल में विट् (Faeces) और आंव (Mucus)

दोनों उपस्थित हों तो अमीबा के लिये मल का अंश परीक्षणार्थ लेना चाहिये।

अमीबा को देखने के लिये मल के साथ लवणजल एक बूँद और सिस्टों को देखने के लिये ग्राम आयोडिन (पृष्ठ १०) का एक बूँद मिला लेना चाहिये। इसके पश्चात् इस पर ढक्कन रखकर सूक्ष्मदर्शक के ⅙ इंच कांच से देखना चाहिये। सुभीते के लिये पटरी की एक तरफ लवण जल का और दूसरी तरफ आयोडिन का मिश्रण करके देख सकते हैं। सिस्ट पतले मल की अपेक्षा गाढ़े में मिलने की अधिक संभावना होती है। इसलिये सिस्टों के लिये गाढ़े या बँधे हुए भाग को लेना चाहिये अमीबा और सिस्टों के अतिरिक्त मलस्थित अन्य चीजों के ऊपर ध्यान देकर उनकी अनुपस्थिति में रोगनिदान में सहायता होती है। इस सूक्ष्म स्वरूप का विवरण पीछे बै० अतीसार में (पृष्ठ १२०) दिया गया है।

पार्थक्य-दर्शक कोष्ठक

	ए० हिस्टोलिटिका (औद्भिदावस्था)	ए० कोलाई
१ स्थान	आन्त्र की श्लेष्मिक त्वचा में	आन्त्रस्थ मल में
२ मोटाई	१८ १० म्यू औसत २० २५ म्यू	१५ ५० म्यू, औसत २० ३० म्यू
३ शरीर	कांचसम बाह्य और दानेदार अन्तर्भागों में स्पष्टतया विभक्त	बाह्य और अन्तर्भागों का विभाग अस्पष्ट
४ मिथ्यापाद	अंगुलिसम चौड़े, मोटे, कांच सम	छोटे, पतले, कम कांचसम
५ गति	अधिक चंचल एक दिशा में स्थानांतर की प्रवृत्ति	मन्द, स्थानान्तर प्रवृत्ति का अभाव
६ अन्तर्भाग	मुख्यतया लोहकण क्वचित्	लोहकणों की अनुपस्थिति,

	स्नेहकण या धातु कण। अन्य वस्तुओं का अभाव, रिक्त गोल एकाध या अनुपस्थित।	गुणाणु, स्फटिक या अन्य चीजों की अधिकता रिक्त गोल प्रायः अनेक
७ केन्द्र	४-७ म्यु, आकार में गोल, मध्य से कुछ दूरी पर क्वचित् अन्तर्भाग के किनारे के पास, अरंजितावस्था में प्रायः अदृश्य, रंजन करने पर सूक्ष्म आवरण पतला, आवरण के भीतर बारीक क्रोमाटिन कणों की किनारी, अन्तःकेन्द्र गोल और मध्य में।	कुछ अधिक मोटा गोल प्रायः मध्य में अरंजितावस्था में भी स्पष्टतया दीख पड़ता, आवरण मोटा और इसके भीतर क्रोमाटिन के मोटे मोटे कणों की किनारी, अन्तःकेन्द्र दुगुना बड़ा और मध्य से दूरी पर।

सिस्टिक अवस्था

१ मोटाई	६-२० म्यु, छोटे प्रकार के औसत ७ म्यु के और बड़े प्रकार के औसत १५ म्यु के।	साधारणतया अधिक मोटे एक ही प्रकार के, १५-२१ म्यु,
२ शरीर	गोल या किंचित् दीर्घगोल, नवीन सिस्ट में आवरण इकहरा और पतला, पुराने सिस्ट में आवरण मोटा और क्वचित् दोहरा, प्रकाशपरावर्तक, अल्पशक्तिक काँच से	गोल या किंचित् दीर्घ गोल, आवरण प्रायः दोहरा और अधिक स्पष्ट, अधिक प्रकाश परावर्तकता देखने में काँच या चीनी मिट्टी के समान, अल्पशक्तिक काँच से ही स्पष्ट दिखाई देता है।

	देखने पर तैलबिंदु के समान वर्णहीन, चिद्रस में ग्लैकोजनपिण्ड और क्रोमोटिडल दण्ड विशेषतया १–२ केन्द्र वालों में सिस्ट प्रगल्भ होने पर ये वस्तुएं बहुत कम हो जाती हैं। आयोडिन से रंग पीला।	चिद्रस में ग्लैकोजन पिण्ड अधिक जो आयोडिन से रंजन करने पर बहुत स्पष्ट हो जाते हैं, क्रोमेटिडल दण्ड बहुत कम या नहीं। आयोडीन से रंग भूरापन लिये पीला।
३ केन्द्र	१–४ पूर्ण प्रगल्भ सिस्ट में चार केन्द्र, अरंजितावस्था में अस्पष्ट आयोडिन से रंजन करने पर स्पष्ट जरा ऊँचे नीचे होने के कारण अनेक बार फोकस करके देखना आवश्यक, अन्तःकेन्द्र ठीक केन्द्र मध्य में।	१ १६ पूर्ण प्रगल्भ सिस्ट में प्रायः ८ केन्द्र, चार केन्द्र की अवस्था प्रायः नहीं दिखाई देती रंजन न करने पर भी केन्द्र दिखाई देते हैं। अन्तःकेन्द्र केन्द्र मध्य से कुछ दूर।

प्रतोदी, तन्तुपिच्छी कीटाणु (Mastigophora flagellata)

आन्त्रस्थ प्रतोदी (Intestinal flagellates)

ये मनुष्यों के आन्त्र में रहते हैं और इनके मल के साथ बाहर आते हैं। अमीबा के समान इनका भी जीवन दो अवस्था में विभक्त होता है। (१) चंचल ओद्भिदावस्था। (२) गतिहीन सिस्टिक अवस्था शरीर के बाहर मल के साथ आते ही ओद्भिदावस्था के कीटाणु मर जाते हैं। परन्तु सिस्टावस्था में कुछ काल तक जीवनक्षम रह सकते हैं। सिस्टों की रचना बड़ी विचित्र होती है। अमीबा के समान इनका प्रसार सिस्टों के द्वारा होता है। इनमें तीन विशेष महत्त्व के हैं:—

(१) जीआर्डिया इन्टेस्टिन्यालिस (२) ट्रायकोमोनेस होमिनिस। (३) कायकोमास्टिक्स मेसनिली। इनमें प्रथम बच्चों में अधिक, दूसरा जवानों में अधिक, और तीसरा क्वचित् मिलता है। ये सब अधिकारी माने जाते हैं, परन्तु इनसे प्रवाहिका के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं इसमें संदेह नहीं है। जीआर्डिया से प्रवाहिका के अतिरिक्त क्षुधानाश, मिचली इत्यादि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। इनके लिये कोई भी औषधि नहीं है, परन्तु कार्बार्सोन या अन्य अमीबानाशक नवीन औषधियों से कुछ फायदा हो सकता है। जिआर्डिया में अटेब्रिन से तथा खाद्यपेय में शर्करा तथा स्टार्च कम करने से लाभ होता है।

(१) जिआर्डिया इन्टेस्टिन्यालिस (Giardia (lamblia) intestinalis—यह मछली में रहता है, इसका एक छोर गोल और दूसरा नोकिला होता है। इसका सामने का भाग विषमकोण और पीछे का उभरा हुआ रहता है। सामने के भाग से यह आन्त्र की श्लेष्मल त्वचा में चिपट जाता है। इसके गोल छोर के निम्नमध्य पृष्ठ भाग के पास दो केन्द्र होते हैं और उनके पास से सम्मुखपिच्छों के चार जोड़े निकलते हैं। शरीर मध्य में दो दण्ड मेरु दण्ड के समान होते हैं। यह बहुत चंचल होता है और कलैया मारता हुआ दिखाई देता है। विरेचन देने पर या प्रवाहिका उत्पन्न होने पर इसकी औन्निद्रावस्था मल में दिखाई देती है, अन्यथा नहीं। बँधे हुए मल में इसके सिस्ट बहुत मिलते हैं, परन्तु इनकी विचित्रता यह है कि एक दिन ये मिलते हैं और दूसरे दिन फिर गायब हो जाते हैं। ये सिस्ट आन्त्र के नीचे के हिस्से में बनते हैं। इनकी मोटाई ७-१० म्यू होकर आकृति अण्डाकार होती है। आयोडिन का उपयोग करने पर ये अच्छी तरह दिखाई देते हैं। इनके बीच में लंबाई में दो दण्ड होते हैं और उनके दोनों ओर दो दो केन्द्र होते हैं। जिआर्डिया का प्रसार सिस्टों से होता है। जब सिस्ट किसी स्वस्थ व्यक्ति में प्रवेश करते हैं तब प्रत्येक सिस्ट से दो

कीटाणु बनते हैं। इससे प्रवाहिका या अतीसार होता है।

(२) ट्रायकोमोनस होमोनिस (Trichomonas hominis) यह आन्त्र में मिलनेवाला हमेशा का तन्तुपिच्छी कीटाणु है। इसका निवास स्थूलान्त्र में होता है। इसके सिवा यह योनि में भी मिलता है। इसकी लम्बाई १० १५ म्यू होती है। यह आकार में दीर्घवृत्त होता है, परन्तु इसका मेरुदण्ड इसकी लम्बाई से भी अधिक लंबा एक नोंक में रहता है। इसके ३ ५ तन्तु पिच्छ होते हैं जो इसके ऊपर के नोंक से केन्द्र के पास प्रारम्भ होते हैं। इनके अतिरिक्त इसके एक पार्श्व में एक लहरी आवरण (Undulating membrane) भी लगा रहता है और इस आवरण के नीचे के सिरे से तन्तुपिच्छ के समान एकतन्तु निकलता है। यह भी बड़ा चंचल होता है और झटके के साथ गति करता हुआ दिखाई देता है। मल में यह बहुत संख्या में मिलता है, परन्तु इसके लिए मुश्किल से दिखाई देते हैं। इसका कारण यह है कि इसकी कोई भी विशेष पहचान नहीं होती। आन्त्रस्थ कीटाणुओं में यही एक लहरी आवरणवाला कीटाणु है। योनि में मिलनेवाला श्वेतप्रदर उत्पन्न करता है। आन्त्र में इससे कोई विकार नहीं होता, परन्तु वैसीकरी अतीसार में यह कभी कभी मिलता है। इसके अतिरिक्त यह मूत्र मार्ग से बस्ति में जाकर कुछ उपद्रव कर सकता है।

(३) चायलोमास्टिक्स मेसनिली (Chilomastix mesnili) यह स्थूलान्त्र में रहता है। यह भी ट्रैकोमोनस के समान दीर्घवृत्त, परंतु एक सिरे में गोल और दूसरे में नोकदार होता है। इसकी लंबाई ९ १२ म्यू होती है। इसके गोल सिरे पर तीन तन्तुपिच्छ होते हैं। मुख काफी बड़ा होता है इस लिए इसको वृहन्मुखी (Macrostoma) भी कहते हैं। मुख के पास एक लघु पिच्छ होता है जो भक्ष्य पकड़ने में सहायता करता है। इसके शरीर पर एक घुमावदार नाली (Spiral groove) होती है जो मुख से निकलकर पीछे की ओर बढ़ती है।

मज्जा, वृक्क, फुफ्फुस इत्यादि अंगों की एन्डोथेलियल सेलों में तथा शरीर संचारी रक्त के अनेककेन्द्र और एककेन्द्र श्वेतकणों में यह मिलता है। मनुष्यों के अतिरिक्त यह अनेक कीटकों में भी मिलता है।

शरीर—यह अण्डाकारी या दालचीनी के आकार का होता है। चौड़ाई २ म्यु और लंबाई ३.५ म्यु होती है। अर्थात् ये मोटाई में कोहुकण से आधे होते हैं। इसके ऊपर आवरण होता है और भीतर प्रिवस होता है जो कीशमन के रंग से फीका नीलवर्ण दिखाई देता है। इसमें दो केन्द्र होते हैं जो चौड़ाई में एक दूसरे के सामने रहते हैं। ये दोनों भी केन्द्र कीशमन के रंग से गहरे लाल रंग के दिखाई देते हैं। यह हमेशा सेलों के भीतर रहकर संख्यावृद्धि करता है। इसलिये एक एक सेल में ये कभी कभी सैकड़ों की संख्या में मिलते हैं। ये सेलों के बाहर अपनी ओर से कदापि भी नहीं रहते हैं। रक्त परीक्षण के समय पटरा के प्रलेप में ये सेलों के बाहर कभी कभी दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तव में ये सेलबाह्य न होकर प्रलेप बनाते समय सेल विदीर्ण होने से बाहर निकले हुए होते हैं। मनुष्यों के शरीर में इनके ऊपर कोई तन्तुपिच्छ नहीं होता। सेलों के भीतर इनकी संख्यावृद्धि द्विपविभजन से होती है। कभी कभी इनकी वृद्धि इतनी अधिक होती है कि इसके कारण सेलावरण विदीर्ण होकर ये बाहर आते हैं। परन्तु ये तुरन्त दूसरी एन्डोथेलियल सेलों में प्रवेश करके फिर से संख्यावृद्धि का काम जारी करते हैं। सवर्धन करने पर इनके आकार में किंचित् परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार का परिवर्तन कीटकों के शरीर में वृद्धि होने पर भी हो जाता है। इस अवस्था में ये मूली के या मछली के समान लंबे और सर्पाकार हो जाते हैं। इनकी लंबाई १ २५ म्यु और चौड़ाई ३.५ म्यु होती है। बड़ा केन्द्र मध्य में होकर छोटा केन्द्र मुख के पास (चौड़े सिरे के पास) होता है और वहाँ से एक तन्तुपिच्छ निकलता है जिसकी लंबाई १०-११ म्यु तक होती है।

इस तन्तुपिच्छ के कारण यह बहुत गतियुक्त होता है और गति को दिशा तन्तुपिच्छ की तरफ होती है। अर्थात् जैसे घोड़ा गाड़ी को वैसे ही तन्तुपिच्छ कीटाणु को खींचता हुआ दिखाई देता है। संवर्धन में अनेक बार अनेक कीटाणु पुष्पवृत्त सदृश वर्तुलाकार समूह में (Agglomeration) तन्तुपिच्छ मध्य में करके इकट्ठे हुए दिखाई देते हैं। एक बड़े समूह के पास दूसरे छोटे-छोटे इस प्रकार के समूह भी बनते हैं।

संवर्धन—इसकी वृद्धि शशक रक्तयुक्त लवण जल में या एन्, एन्, एन् वर्धनक में भलीभांति होती है। वृद्धि के लिये २१ सें० तापक्रम की आवश्यकता होती है। मनुष्य शरीर के तापक्रम पर ये तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

विकारकारिता—इससे काला आजार नामक रोग होता है। इसमें प्लीहा वृद्धि, कृशता, अपविसर्गी ज्वर इत्यादि लक्षण होते हैं। इसमें शरीर का वर्ण काला हो जाने के कारण इसको काला आजार कहते हैं। रोगी के रक्त में यकृत, प्लीहा, मज्जा इत्यादि अंगों में रोग के कीटाणु उपस्थित रहते हैं। इसके अतिरिक्त नासास्राव में और चर्म में अतीसार उत्पन्न होने पर मल में भी कीटाणु उपस्थित रहते हैं।

संक्रमण—इसके संक्रमण के संबंध में अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सका। साधारणतया यह माना जाता है कि इसका संक्रमण फ्लेबोटोमस अर्जेन्टिपिस (Phlebotomus argentipes) नामक एक भुनगे के दंश से होता है। यह भुनगा जब काला आजारी को काटता है तब उसके आमाशय में कीटाणु प्रविष्ट होकर संख्या वृद्धि करते हैं और पश्चात् उसके सुँड़ में आकर दंश के समय स्वस्थ मनुष्य में प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं। परन्तु इसके विरुद्ध प्रमाण यह है कि कीटकों के शरीर में जिस प्रकार के कीटाणु मिलते हैं वे दूसरों में रोग उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं और यह बात प्राणिरोपण

पद्धति से सिद्ध हो चुकी है। भुनगे की उत्पत्ति के पक्ष में केवल एक ही प्रमाण है और वह यह कि जिन जिन स्थानों में या प्रांतों में यह भुनगा मिलता है उन उन स्थानों या प्रांतों में काला आजार होता है। संक्रमण की दूसरी उपपत्ति विण्मूत्रक्षेपोपसर्ग है, क्योंकि रोगी के मासास्राव में कीटाणु होते हैं। तीसरी उपपत्ति दूषित खाद्यपेय पदार्थों के सेवन की है क्योंकि रोगी के मल में कीटाणु होते हैं।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—रोगी के रक्त में, प्लीहा में, यकृत में और अस्थिमज्जा में कीटाणु उपस्थित रहते हैं। इनमें प्लीहा में सबसे अधिक रहते हैं। अतः प्लीहावेध करके पिचकारी से उसका रस लेने से कीटाणु निश्चित से मिलते हैं, परन्तु इस कर्म में रक्तस्राव का डर होने के कारण इसका उपयोग नहीं किया जाता। उर फलक वेधन (Sternal puncture) से मज्जा लेकर उसका परीक्षण कीटाणुओं के लिये भी किया जाता है। इस कर्म में किसी प्रकार का डर नहीं होता। काला आजार में रक्त में कीटाणु बहुत कम मिलते हैं। इसलिये रक्त में कीटाणु देखने के लिये पटरी पर गाढ़ा प्रक्षेप बना कर देखना चाहिये या लेट्रीश्मन रक्त के श्वेतकणों का प्रक्षेप बनाकर देखना चाहिए। रक्तग्रहण के आधा घंटा पहले यदि रोगी को १ सी० सी० अड्रेन्यालिन का उद्दीपक (Provocative) इंजेक्शन दिया जाय तो स्वचागत रक्त में इनके मिलने की संभावना बढ़ती है। आगे विषम ज्वर का निदान देखो। ये हमेशा बृहदेककेन्द्रकणों के भीतर इकट्ठे हुए दिखाई देते हैं। लीशमन से रक्तप्रक्षेप रञ्जित करके देखना चाहिये। श्वेतकणों के भीतर दो केन्द्रों के अनेक कीटाणुओं की उपस्थिति प्रत्यभिज्ञान और निदान के लिये पर्याप्त होती है। अप्रत्यक्ष पद्धतियों में अल्डेहाइड और एन्टीमनी की कसौटी, श्वेतकणापकर्ष, इत्यादि महत्त्व की हैं।

लीशमनिया ट्रोपिका (L. tropica)

विकारकारिता—काला आजार के कीटाणु के समान यह भी कुछ संबोतरा, दो केन्द्रयुक्त, सेकाभ्यन्तरीय होता है। परन्तु इसका शारीरिक और भौगोलिक कार्यक्षेत्र ली॰ डो॰ कीटाणु से भिन्न होता है। इससे शरीर के मुख हाथ पैर इत्यादि अनावृत भागों में व्रण बनता है। यह पौर्वात्य देशों में देहली, बगदाद इत्यादि स्थानों में होता है। इसलिये यह व्रण पौर्वात्य (oriental) व्रण, देहली व्रण या बगदाद व्रण (Boil or sore) के नाम से प्रसिद्ध है। काला आजार का अधिकार भारतवर्ष के पूर्वभागों में है, इसका पश्चिम भागों में है। काला आजार शरीर के गंभीर अंगों में होता है, यह केवल त्वचा में होता है। इसलिये काला आजार को गंभीरलीशमनीयता (Visceral leishmaniasis) और इसको त्वाच या त्वक्लीशमनीयता (Dermal) कहते हैं। इसमें त्वचा पर व्रण उत्पन्न होकर वह धीरे धीरे बढ़ता है और उस पर खुरण्ड या पपड़ी बन जाती है। साल डेढ़ साल के बाद यह आपसे आप ठीक हो जाता है क्योंकि शरीर में इसके लिये क्षमता उत्पन्न होती है।

संक्रमण—इसका संक्रमण फ्लेबोटोमस पपाटसी (p. papatasii) नामक मक्षिका के दंश से होता है। इसके अतिरिक्त व्रण के ऊपर स्वस्थ त्वचा की रगड़ होने से भी यह रोग होता है। एक व्यक्ति में इस प्रकार के कई व्रण उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि नखों से भी इसका स्थानांतर हो जाता है (Auto-inoculable) है। इसका कारण यह है कि यह कीटाणु सक्षत त्वचा से भीतर प्रवेश कर सकता है। रगड़ से या नखों से त्वचा में सूक्ष्म क्षत हो जाने से इन स्थानों से इसका संक्रमण एक ही व्यक्ति में अन्य स्थानों पर या रोगी से दूसरे व्यक्ति पर हो जाता है।

निदान—व्रण के ऊपर की कीचड़ और पपड़ी को हटाकर पश्चात् व्रण को स्वच्छ करके चक्कू से उसका कुछ भाग हटा रखना चाहिये। इसके पश्चात् जो स्राव व्रण से निकलता है उसका प्रलेप पटरी पर करके कीशमन से रंजित करके देखना चाहिये। देहली व्रण होने पर एण्डोथेलियल सेलों * या बृहद के केन्द्र कणों के भीतर इकट्ठे हुए वे दिखाई देते हैं।

ट्रिपानो सोम (Trypanososomes)

वासस्थान—ये मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणियों के रक्त में अविकारी सहवासी के तौर पर या घातक परोपजीवी के तौर पर रहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ मक्खियों के शरीर में भी ये मिलते हैं।

शरीर—यह मछली के समान लंबा कीटाणु है। इसकी लंबाई १५ से २० म्यू और चौड़ाई १०५ से २०५ म्यू होती है। इसका मुख का टोंक नोकीला और दूसरा टोंक कुछ मोथा होता है। इसके मुखके ऊपर एक तन्तुपिच्छ लगा रहता है। उसी से एक लहरी आवरण प्रारम्भ होकर यह पीछे के टोंक के पास चला जाता है। इसमें दो केन्द्र होते हैं, बड़ा केन्द्र मध्य में होकर छोटा केन्द्र पीछे के टोंक के पास रहता है। इसके शरीर में कई रिक्त गोल दिखाई देते हैं। यह गतियुक्त होता है और कामा आकार के कीटाणु के समान (पृष्ठ २८०) गति तन्तुपिच्छ की दिशा में होती है। इसके शरीर में दो केन्द्रों के अतिरिक्त अन्य कण भी दिखाई देते हैं। इसकी संख्यावृद्धि लम्बाई में दुभंग विभजन से होती है।

विकारकारिता—इसके उपसर्ग से निद्रारोग (Sleeping sickness) होता है। यह रोग अफ्रिका और अमेरिका में होता है, भारतवर्ष में नहीं। इसके उपसर्ग का मुख्य परिणाम लसिका ग्रन्थियों और मस्तिष्क संस्थान पर होता है जिसके कारण ज्वर, ग्रन्थियों की

वृद्धि विशेषतया ग्रीवा और हनु के नीचे की, आलस्य, निद्रालुता, मूर्च्छा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह रोग अत्यन्त अल्पकालीन या अत्यन्त दीर्घकालीन (१० वर्ष) भी हो सकता है। कीटाणु रोगी के रक्त में लसिका ग्रन्थियों में और मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में होते हैं। प्रारंभ में इनकी संख्या रक्त में बहुत होती है, परन्तु धीरे धीरे य वहाँ से कम होकर मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में अधिक संख्या में मिलने लगते हैं। रक्त में इनकी उपस्थिति बहुत अनिश्चित स्वरूप की होती है। इसके निम्न भेद होते हैं:—

(१) ट्रि गाम्बियन्सी—(T gambianse) मध्य और पश्चिम अफ्रिका में मिलनेवाला निद्रारोग इससे उत्पन्न होता है। इसका संक्रमण ग्लोसीना पाल्पेलिस (Glossina Palpalis) नामक मक्खी के दंश से होता है। इस मक्खी के शरीर में इस कीटाणु में वृद्धि के साथ कुछ परिवर्तन होता है जिसके लिये औसत १० दिन लग जाते हैं। इसके पश्चात् यह मक्खी दूसरों पर कीटाणुओं का संक्रमण कर सकती है।

(२) ट्रि रोडेसीन्सी—(T rhodesiense) इससे दक्षिण आफ्रिका में निद्रारोग उत्पन्न होता है। यह रोग अधिक तीव्र और असाध्य स्वरूप का होता है। इसका संक्रमण ग्लोसीना मासिटन्स नामक मक्खी के दंश से होता है।

(३) ट्रि क्रूजी—इससे दक्षिण अमेरिका में छागास (Chagas disease) नामक रोग होता है। यह कीटाणु प्रश्न चिन्ह के समान (?) कुछ टेढ़ा रहता है। इसका संक्रमण 'कोनो ह्रायनस' (Conorrhines) नामक खटमल से होता है। इसका उपसर्ग अधिकतर धारीदार (striated) पेशियों में, मुख्यतया हृत्पेशी पर होता है। शरीर की धातुओं में इसका स्वरूप ली शो कीटाणु के समान रहता है।

निदान—इसके लिये रक्त लसिका ग्रन्थिरस या म सु जल का उपयोग करना चाहिये। रक्त की तुरन्त परीक्षा सांद्राकार पाण्डप्रकाशाम

से करने पर ये गतियुक्त दिखाई देते हैं। रक्त में इनकी संख्या कम होने के कारण स्थूल (Thick) प्रक्षेप का उपयोग करना चाहिये। रक्त की अपेक्षा लसिका मस्तिष्करस में इनके मिलने की आशा अधिक होती है। प्रक्षेप लीशमन से रंजित किया जाता है।

विषम ज्वर कीटाणु (Plasmodia)

ये पूर्ण परोपजीवी होते हैं और रक्त में रहते हैं, इसलिये हीमोस्पोराडिया कहलाते हैं। रक्त में इनका निवास लोहकणों के भीतर होता है। इनकी तीन उपजातियाँ हैं और प्रत्येक से विभिन्न प्रकार का विषमज्वर उत्पन्न होता है।

१ प्लासमोडियम वैवाक्स (P Vivax) तृतीयक ज्वर
२ ,, मलेरिया (P malaria) चतुर्थक ज्वर
३ ,, फैल्सीपेरम (P falciparum) घातकी तृतीय ज्वर

इनका जीवन दो प्राणियों में विभक्त होता है एक जीवन मनुष्य में और दूसरा मच्छर में। मनुष्य शरीरगत जीवन को अमैथुनी जीवनचक्र (Asexual cycle) या सायजोगनी (Schizogony) कहते हैं। मच्छर शरीरगत जीवन को मैथुनीचक्र (sexual cycle) या (Sporogony) कहते हैं। इनमें अमैथुनीचक्र संख्या वृद्धि का मुख्य साधन है और व्यवायकोत्पत्ति तथा मैथुनी जीवन जातिरक्षा का मुख्य साधन है।

अमैथुनीचक्र—इसका प्रारंभ पहले पहल उपसृष्ट एनोफेलीज मच्छरी के दंश से शरीर में प्रविष्ट हुए स्पोरोज्वाइट से होता है। ये स्पोरोज्वाइट कुछ लंबोतरे होते हैं और केन्द्र के तौर पर उनमें क्रोमाटिन का एक कण उपस्थित रहता है। शरीर में प्रविष्ट होने पर उनका लंबोतरा स्वरूप नष्ट होकर वे अमीबा के समान गोलाई लिये हुए और

विसपण से गति करनेवाले बन जाते हैं। इसके बाद इनकी वृद्धि भिन्न अवस्थाओं में शुरू होती है।

(१) परिणाहाभयावस्था—शरीर में प्रविष्ट हुए स्पोरोजाइट (या मेरोजाइट) लोहकणों के ऊपर चिपक जाते हैं। साधारणतया एक स्पोरोजाइट (या मेरोजाइट) एक कण के ऊपर चिपक जाता है। परन्तु कभी कभी दो या तीन मेरोजाइट एक कण के ऊपर आक्रमण करते हैं। लोहकणों के ऊपर चिपके हुए कीटाणुओं का रूप परिणाहाश्रमी (Acole forms) कहलाता है।

(२) वलयावस्था—धीरे धीरे किनारे पर चिपके हुए मेरोजाइट अपनी प्रसपण की गति से भीतर प्रवेश करते हैं और कणों के रंग द्रव्य को अपने मिथ्या पादों के द्वारा ग्रहण करके उसपर अपना निर्वाह करने लगते हैं। प्रथम उनमें एक रिक्त स्थान बनकर उनका आकार वलय (Ring) के समान होता है। इस वलय का एक भाग सदा पतला रहता है और उसमें क्रोमाटिन का कण रहता है जो रंजन करने पर साफ दिखाई देता है। दूसरा भाग जरा मोटा होता है। कभी-कभी एक के बदले दो कण दिखाई देते हैं। इस वलय के किनारे की मोटाई किसी में पतली सुकोमल और स्पष्ट होती है और किसी-किसी में मोटी भद्दी अस्पष्ट होती है। इस अवस्था में इसका स्वरूप मुद्रिकावलय (Signet ring) के समान होता है। यह वलयक मोटाई में लोहकण की तिहाई चौथाई होता (औसत २ म्यू) है।

(३) परिपुष्टावस्था—धीरे धीरे रंग द्रव्य के ऊपर अपना निर्वाह करके यह बढ़ता है। इसके शरीर में लोहयुक्त रंग द्रव्य के पाचन से अनेक कण उत्पन्न होते हैं जो हीमोमयजन (Haemozoin) कण कहलाते हैं। ये कण संपूर्ण शरीर में फैलते हैं। इनके अतिरिक्त और भी दूसरे प्रकार के कण उत्पन्न होकर भीतर का रिक्त स्थान भर

जाता है। मिथ्या पादों के कारण इसका आकार बहुत विविध प्रकार का होता है। इस परिपुष्ट कीटाणु को परिपुष्टक (Trophozoite) कहते हैं। इसमें क्रोमाटिन इकट्ठा रहता है। इस अवस्था में इसकी मोटाई प्रत्येक प्रकार में भिन्न भिन्न हुआ करती है।

(४) विभक्तावस्था (Schizont Stage)—पूर्ण परिपुष्ट होने पर भीतर का क्रोमाटिन धीरे-धीरे ३,४,८,१२,१७, या इससे भी अधिक भागों में विभक्त होने लगता है। यह विभाग की संख्या प्रत्येक प्रकार के कीटाणुओं में भिन्न-भिन्न हुआ करती है। इसके पश्चात् चिप्रस भी उतने भागों में विभक्त होकर कणों के चारों ओर इकट्ठा होता है। इस अवस्था में इसका स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारों में भिन्न-भिन्न रहता है। ये विभिन्न विभाग मेरोज्वाइट (Merozoite) कहलाते हैं। कीटाणु के मध्य में हीमोज्वाइन के कण रहते हैं और इसके चारों ओर ये मेरोज्वाइट इकट्ठे होते हैं। प्रत्येक मेरोज्वाइट का व्यास १ म्यू के लगभग होता है। मेरोज्वाइट पूर्ण बनने के पश्चात् कोहकण विदीर्ण हो जाते हैं और ये मेरोज्वाइट रक्त रस में स्वतन्त्र होकर एक-एक मेरोज्वाइट एक-एक कण के ऊपर चिपककर फिर से अपना जीवनचक्र जारी रखता है। कोहकण विदीर्ण होनेपर उनके मध्य में इकट्ठा हुआ हीमोज्वाइन रक्तरस में स्वतन्त्र हो जाता है। इन चार अवस्थाओं के लिये प्रत्येक प्रकार में भिन्न भिन्न समय लगता है। इस प्रकार स्वतन्त्र हुए मेरोज्वाइट में से अनेक शरीर के भक्षक सेलों से नष्ट किये जाते हैं या प्लीहा में वहां छिपे जाते हैं जहाँ पर उनका नाश अन्य प्रकार से किया जाता है। जो बचते हैं वे फिर से अपना चक्र जारी करते हैं। मेरोज्वाइट से युक्त इस अवस्था को विभक्तक (Schizont) कहते हैं।

(५) उपयायकावस्था—इस प्रकार विभजन के द्वारा कुछ काल तक संख्या वृद्धि करने का कार्य जारी रहता है। परन्तु साधारणतया एक दो सप्ताह के पश्चात् मनुष्य शरीर की प्रतीकार शक्ति बढ़ जाने के

कारण इनमें अपनी जातिरक्षा के लिये कुछ प्रतिकारक व्यवायक स्वरूप धारण करना पड़ता है। इनका प्रारंभ मेरोज़ाइट से ही होता है, परंतु षड्वावस्था के बदले इनमें व्यवायक अवस्था उत्पन्न होती है। इसमें क्रोमाटिन का विभजन न होकर कीटाणु गोलाकार ही रहता है। ये दो प्रकार के होते हैं—नर, और मादा व्यवायक (Gametocytes)। मादा व्यवायक संख्या में नर की व्यवायक की अपेक्षा करीब तीगुने अधिक होते हैं। शरीर के भीतर होनेवाले सब कीटाणु व्यवायक नहीं बनते। इनमें से बहुत थोड़े इस अवस्था में परिणत होते हैं। नर व्यवायक छोटा और मादा व्यवायक बड़ा होता है, इसलिये अनुक्रम से सूक्ष्मव्यवायक (Microgamete) और स्थूल व्यवायक (Macro gamete) कहलाते हैं। प्रत्येक प्रकार में इनका स्वरूप भिन्न भिन्न होता है। ये मनुष्यशरीर में आगे वृद्धि नहीं कर सकते। साधारणतया ज्वरारंभ के ८ दिन के पश्चात् व्यवायक उत्पन्न होने लगते हैं, और परिपक्व होने के लिये वहाँ ८ दिन की ज़रूरत होती है। मच्छर शरीर में प्रविष्ट होने पर ही इनमें परिवर्तन हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि अगर कोई व्यक्ति पहलेपहल विषम ज्वर से पीड़ित हो जाय तो रुग्णावस्था के प्रथम १५ दिन के भीतर उसको काटने से मच्छरी बपसद नहीं हो सकती। संक्षेप में अमैथुनीचक्र का आरंभ स्पोरो-ज़ाइट से होकर उसस मेरोज़ाइट बनते हैं, मेरोज़ाइट से चक्र जारी रहता है और उसका अन्त व्यवायक से होता है। अमैथुनीजीवन में इस प्रकार अनेक चक्र हुआ करते हैं।

मैथुनीचक्र—जब एनोफैलीज मच्छरी व्यवायकयुक्त किसी विषमज्वरी को काटती है तब दंश के समय उसके आमाशय में कुछ नर, और मादा व्यवायक तथा अन्य विषम ज्वर के कीटाणु प्रविष्ट होते हैं। सादे कीटाणु आमाशय में मर जाते हैं और व्यवायकों में विग्न परिवर्तन होते हैं।

(१) मैथुनोन्मुखावस्था (Stage of maturation)—आमाशय के भीतर प्रविष्ट होने के पश्चात् ब्यवायकों में भिन्न प्रकार का परिवर्तन होकर वे मैथुनयोग्य परिपक्व हो जाते हैं। नर व्यवायक का केन्द्र पाँच सात भागों में विभक्त होकर प्रत्येक से एक-एक तन्तु बनकर वे उनके आवरण के ऊपर लगे रहते हैं। ये तन्तु थोड़ी देर के बाद उनसे अलग होकर रक्त में गति करते हुए मादा व्यवायक की खोज में रहते हैं। मादा व्यवायक के शरीर पर एक क्षत छिद्र बनता है। इस तरह ये दोनों मैथुनोन्मुख बन जाते हैं।

(२) मैथुनावस्था (Stage of fertilisation) इस प्रकार स्वतन्त्र हुए तन्तु मादाव्यवायक के छिद्र में प्रवेश करते हैं। मादाव्यवायक में केवल एक ही तन्तु प्रवेश करता है। प्रवेश होनेपर वह छिद्र बंद हो जाता है। इस संयुक्त कीटाणु को झायगोट (Zygote) कहते हैं। प्रारंभ में यह गोल होता है, परंतु धीरे धीरे बोकीला बनता है। इसको ऊकीनेट (Ookinet) कहते हैं। यह ऊकिनेट आमाशय की त्वचा को भेद करके उसके और पेशियों के बीच में अवस्थान करके बढ़ता है। प्रथम यह गोल होता है। पूर्ण बढ़नेपर इसको ऊसिस्ट (Oocyst) कहते हैं। इसकी मोटाई ५० से म्यु तक होती है। इस प्रकार कई ऊसिस्ट आमाशय की प्राचीर पर उभार के रूप में दिखाई देते हैं।

(३) स्पोरोझाइट की अवस्था (Stage of sporozoites)—ऊसिस्ट पूर्ण प्रगल्भ होने पर भीतर अनेक भागों में विभक्त होता है। यह प्रत्येक भाग स्पोरोझाइट (Sporozoite) कहलाता है। पूर्ण वृद्धि होने के पश्चात् ये मनुष्य शरीर में प्रवेश होनेपर अमैथुनी चक्र के लिये योग्य होते हैं। स्पोरोझाइटयुक्त ऊसिस्ट को स्पोरोसिस्ट (Sporocyst) कहते हैं।

(४) मच्छर की उपसर्गावस्था—स्पोरोझाइट पूर्ण प्रगल्भ होने

पर स्पोरोसिस्ट उसके ऊपर का आवरण विदीर्ण होकर ये मच्छर के शरीर में स्वतन्त्र हो जाते हैं। ये मच्छर के बीजकोष (Ovary) को छोड़कर बाकी प्रत्येक अंग में फैलते हैं। अधिक संख्य स्पोरोज्वाइट मच्छर की लालाग्रन्थियों में आ जाते हैं। जब इस प्रकार की उपसृष्ट लाला ग्रन्थियुक्त मच्छरी किसी स्वस्थ मनुष्य को काटती है तब ये स्पोरोज्वाइट दंश के साथ उसके रक्त में प्रविष्ट होकर अमैथुनी पद्धति से संख्यावृद्धि करने का कार्य जारी करते हैं।

मैथुनीचक्र का प्रारंभ स्पपामकों से होकर उसका अन्त स्पोरोज्वाइट से होता है। यह चक्र अमैथुनीचक्र के समान अनेक बार नहीं होता केवल एक ही बार होता है। दो स्थानों के जीवन से विषम ज्वर कीटाणु का जीवन पूर्ण होता है। मच्छर में मैथुनीचक्र पूर्ण होने के लिये जो समय लगता है उसकी अवधि वातावरण के तापक्रम और आर्द्रता के अनुसार न्यूनाधिक होती है। तापक्रम और आर्द्रता अधिक होनेपर चक्र का काल कम और ये दोनों कम होने पर चक्र का काल अधिक होता है। १६ सें से कम और ३६ सें से अधिक तापक्रम तथा आर्द्रता कम होनेपर मच्छर शरीरगत इनकी वृद्धि रुक जाती है। मैथुनीचक्र का औसतकाल १ —१२ दिन का होता है।

विषमज्वर के विभिन्न कीटाणुओं का वैशिष्ट्य

मनुष्यशरीर में यद्यपि तीनों प्रकार के कीटाणुओं का जीवनचक्र प्रायः एक ही प्रकार का दिखाई देता है, तथापि कीटाणु की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ, वृद्धिकाल मेरोज्वाइट की संख्या, स्पपामकों का स्वरूप, रक्तकणों में होनेवाला फर्क इत्यादि बातों में प्रत्येक प्रकारके कीटाणु की कुछ विशेषताएँ होती हैं जिनके आधार पर एक का पार्थक्य दूसरे से किया जा सकता है। अतः नीचे प्रत्येक की विशेषताएँ दी जाती हैं।

(१) घातक कीटाणु—(१) इसके वलयक सबसे छोटे (१ १५

से १'५ मृ, लोहकण के २/५ वें हिस्से के) आकार में समपक्ष (Symetrical) पतले और सुकुमार होते हैं। इनमें प्रायः क्रोमाटिन के दो कण होते हैं। ये कण कभी पास पास और कभी एक दूसरे की विरुद्ध दिशा में होते हैं। कई बार ये वलयक कणों के ऊपर चिपके हुए रहते (Acoleformes) (पृष्ठ २८९) हैं। (२) स्वचागत रक्त में वलयाकार अधिक संख्या में मिलते हैं, क्योंकि इस प्रकार में उपसृष्टकणों का अंश, प्रमाण अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक (१० प्र श तक) होता है। (३) एक-एक लोहकण में दो या तीन वलयों का मिलना इस प्रकार में ही दिखाई देता है। इस प्रकार कणों का अनेकोपसर्ग (Multiple-infection) दूसरे प्रकार में क्वचित मिलता है। (४) इसके परिपुष्टक और विभक्तक स्वचागत रक्त में नहीं दिखाई देते। ये अवस्थाएँ प्लीहादी भीतरी अंगों में मर्यादित रहती हैं। यदि प्लीहारस का परीक्षण किया जाय तो उसमें इन अवस्थाओं के कीटाणु दिखाई देंगे। अत्यन्त घातक अवस्था में ये मद रूप स्वचागत रक्त में भी दिखाई देते हैं। परिपुष्टक या विभक्तक मोटाई में लोहकण स १/२-१/३ होते हैं। इसलिये जिन कणों में ये होते हैं वे कण आकार में कुछ छोटे और आकुंचित से हो जाते हैं। इनका वर्ण फीका सा रहता है और इनमें कुछ मोटे-मोटे कण (Maurer's dots) दिखाई देते हैं। (५) इसके मेरोझाइट की संख्या ८-३२ या इससे भी अधिक होकर वे बहुत छोटे होते हैं। अर्थात् इससे सबसे अधिक मेरोझाइट उत्पन्न हो सकते हैं। इसके व्यवायक स्वरूप में अर्धचन्द्राकारी (Cresents), केलाकृति (Banana-shaped) या शरावसदृश (Saussage-shaped) होते हैं। ये चौड़ाई में १'५ मृ और लंबाई में १०-१५ मृ अर्थात् लोहकण से लंबे होते हैं। जब ये पूर्ण अवस्था हो जाते हैं तब इनके निम्न भाग पर लोहकण के आवरण का कुछ हिस्सा मनुष्य के समान लगा रहता है। माता-व्यवायक पतला होकर उसका कणद्रव्य और रंग

erythrocytic period 24 to 48 hours

मध्य मध्य में इकट्ठा हुआ रहता है। मरम्यवायक मोटा होकर उसका केन्द्रद्रव्य तथा रंगद्रव्य कुछ अधिक होकर शरीर में इतस्ततः फैला हुआ रहता है। मादाम्यवायकका रंग हलका नीला और उसके दोनों टोंक कुछ नोकीले होते हैं मरम्यवायक का रंग कुछ हरापन लिये नीला और उसके टोंक कुछ थोथे होते हैं। ये म्यवायक विषमीम प्रतिकारक (Quinine resistant) होते हैं। (७) त्वचागत रक्त में केवल वलयक या म्यवायक मिलते हैं। दूसरी अवस्था के रूप प्लीहादि गंभीर गों में मिलते हैं। (८) अमैथुनी चक्र की अवधि अनियमित यानी २४ ४८ घंटे की होती है।

तृतीयक का कीटाणु—(१) इसके वलयक बड़े १ ३ म्यु या रक्तकण के ½ व्यास के), आकार में विषम, कुछ मोटे होते हैं। इनमें प्राय क्रोमाटिन का एक ही केन्द्र होता है। यह केन्द्र काफी बड़ा होने के कारण इसका स्वरूप मुद्रिकावलय (Signet ring) के समान दिखाई देता है। (२) त्वचागत रक्त में वलयक बहुत कम दिखाई देते हैं क्योंकि इसमें स्पष्ट कणों का प्र श प्रमाण बहुत कम (२ ५ प्र श तक होता है तथा इसके अन्य स्वरूप भी मिलते हैं। (३) एक कोष्ठकण में केवल एक ही वलय होता है। अर्थात् अनेकोपसर्ग इस प्रकार में प्रायः होता नहीं। (४) इसके परिपुष्टक, विभाजक और म्यवायक अर्थात् सब अवस्था के रूप त्वचागत रक्त में दिखाई देते हैं। ये परपुष्टावस्था में अधिक मोटे (८ १० म्यु) होने के कारण जिन कोष्ठकणों में पाये जाते हैं वे आकार में स्वाभाविक से कुछ बड़े होकर फूले हुए से Swollen) दिखाई देते हैं। इन कणों का वर्ण बहुत फीका होता है तथा इनके भीतर अनेक छोटी छोटी बिन्दियाँ दिखाई देती हैं। ये शुफ्नर की बिन्दियाँ (Schuffner's dots) कहलाती हैं। ये मारर की बिन्दियों की अपेक्षा संख्या में अधिक और बारीक होती हैं। (५) विभाजक की अवस्था में इसमें ११-२१ दीपहल

1, 15 — BT

2 Chromatin dots only one
3 Only one ring to one R.B.C 6
4 Less number of [illegible] in Pe

मेरोझाइट बनते हैं जो कदम्ब पुष्पवत सदृश (Mulberry-like, or Rosette) अनेक पंक्तियों में चक्राकार इकट्ठे होते हैं और उनमें मध्य में रंगद्रव्य होता है। (६) इसके युग्मापक आकार में गोल होकर देखने में ये परिपुष्ट के समान होते हैं। मादायुग्मापक मोटाई में कोष-कण से छोटा (१२ १२ म्यु) और नरयुग्मापक कुछ छोटा होता है। मादायुग्मापक का केन्द्र छोटा, किनारे के पास होकर उसका चिह्न अधिक नीलवर्ण और स्पष्ट होता है। नरयुग्मापक का केन्द्र बड़ा कभी-कभी पट्टे के समान संपूर्ण शरीर में फैला हुआ आप मध्य में होकर उसका चिह्न फीका नीलवर्ण का होता है। ये युग्मापक विषमीन से नष्ट होते हैं। (७) स्वभागत रक्त में भी इसकी सब अवस्थाओं का चक्र जारी होने के कारण सब अवस्थाओं के रूप दिखाई देते हैं। ये भिन्न भिन्न रूप भिन्न समय पर लिये हुए रक्तप्रक्षेप में दिखाई देते हैं। परंतु कभी कभी एक ही समय में लिये हुए रक्त के प्रक्षेप में भी ये सब भिन्न रूप दिखाई दे सकते हैं। इसके दो कारण होते हैं। प्रथम कारण दो क्रमागत (Consequtive) दिनों में स्वतन्त्रतया अपना जीवन-चक्र जारी रखनेवाले तृतीयक के दो वंश विस्तार। इसमें दो क्रमागत दिन मच्छर के द्वारा मनुष्य में स्वतन्त्र उपसर्ग होता है। इसको द्विवार उपसर्ग (Double infection) कहते हैं। दूसरे कारण के लिये द्विवार उपसर्ग की आवश्यकता नहीं होती। इसमें यह माना जाता है कि मच्छर के दंश के समय शरीर में प्रविष्ट हुए स्पोरोझाइट विषम वृद्ध (Unequally developed) होने के कारण उनका जीवनचक्र भिन्न भिन्न समय में पूर्ण होता रहता है जिससे एक ही समय के रक्त में सब अवस्थाओं के रूप मिल जाते हैं। (८) इसका अमैथुनीचक्र का काल ४८ घंटे का होता है।

चतुर्थक कीटाणु—(१) इसके वलयक तृतीयक के समान मोटे (२ ३ म्यु, कोषकण के ⅓ व्यास के), एक केन्द्र के परंतु गोल और

7 Hungohm no — 12 to 24

चौड़ी किनारी के होते हैं। (२) स्वचागत रक्त में ये बहुत कम दिखाई देते हैं, क्योंकि रक्तकणों का प्र श प्रमाण इसमें सबसे कम (२ प्र श) होता है। (३) एककण में केवल एक ही कीटाणु होता है। अनेकोपसर्ग इसमें कदापि नहीं होता। (४) इसकी सब अवस्थाओं के रूप स्वचागत रक्त में दिखाई देते हैं। जिन कणों में ये रहते हैं उनकी मोटाई कणों का त्यों रहती है और कीटाणु के अतिरिक्त उनमें कुछ भाग दिखाई देता है, क्योंकि परिपुष्टक की मोटाई कोइकण से कम (४ मू) होती है। तृतीयक के समान इसमें किसी प्रकार की विन्दियाँ नहीं दिखाई देतीं। (५) विभजन की अवस्था में इसमें ६ १२ गोल मेरोज्वाइट बनते हैं जो जाति पुष्पवृक्ष सदृश (Daisy head) एक पंक्ति में मण्याकार इकट्ठे होते हैं और रंग द्रव्य उनके बीच में रहता है इसके व्यवायक आकार में लाल कण के बराबर होकर गोल और परिपुष्टक के समान होते हैं। प क्विनीन स नष्ट होते हैं। (७) इसका जीवनचक्र तृतीयक के समान स्वचागत रक्त में जारी रहने के कारण इसमें सब अवस्थाओं के रूप दिखाई देते हैं, तथा कभी कभी तृतीयक के समान एक समय के रक्त प्रक्षेप में भी सब अवस्थाओं के रूप मिल जाते हैं। (८) इसके अमैथुनीचक्र का काल ७२ घंटे का होता है।

सङ्क्रमण—इन कीटाणुओं का संक्रमण मच्छरों की एनोफेलीज (Anopheles) नामक जाति से होता है। यह घरेलू मच्छर है। मच्छरी घरों के पास, नदी तथा तालाब के किनारों के पास संचित या बँधे हुए स्वच्छ जल में अण्डे देती है। इनकी वृद्धि अण्डा इल्ली (Larve) कृप्या (Pupa) और बच्चा इस क्रम से होती है। मनुष्यों को काटने का काम केवल मच्छरी करती है और उसी के शरीर में विषम ज्वर कीटाणु का मैथुनीचक्र हुआ करता है। इसलिए रोग संक्रमण केवल मच्छरी के द्वारा होता है। एकबार संक्रमित हुई मच्छरी अधिक से अधिक ५५ दिन तक रोग संक्रमण कर सकती है।

मैथुनीचक्र का काल ९ से ११ दिन का और औसत १२ दिन का होने के कारण विषमज्वरी को काटने के पश्चात् १२ दिन के भीतर मच्छरी रोग-संचारी नहीं होती, उसके पश्चात् होती है। इसका तात्पर्य यह है कि रोगी को काटते ही यदि मच्छरी दूसरे स्वस्थ व्यक्ति को काटे तो उसको विषमज्वर नहीं हो सकता। एनोफेलीज की अनेक उपजातियाँ होने पर भी रोगसंक्रमण मुख्यतया ए. क्युलिसीफेसीस (A culicifacies) के द्वारा और क्वचित् ए. स्टीफेन्सी और ए. तरोडी के द्वारा होता है। रोग संक्रमण का प्रधान मार्ग मच्छर है। इसके अतिरिक्त रोगी का रक्त (½ १ सी सी) स्वस्थ मनुष्य में प्रविष्ट करने से भी रोग हो सकता है। पृष्ठ २६१ देखो।

विकारकारिता—प्लाज्मोडियम से विषम ज्वर (Malaria) नामक रोग होता है। इसमें ज्वर की जितनी विविधता और विषमता दिखाई देती है उतनी अन्य रोग में नहीं दिखाई देती। इससे विसर्गी (Intermittent) अर्धविसर्गी (Remittent) और क्वचित् सतत (Continuous) स्वरूप का ज्वर होता है। प्लाज्मलेरिआ से प्रत्येक चौथे दिन आनेवाला (चतुर्थक Quartan) विसर्गी ज्वर आता है। प्ला. वैवाक्स से प्रत्येक तीसरे दिन आनेवाला (तृतीयक Tertian) विसर्गी ज्वर आता है। प्ला. फैल्सीपेरम से भी तीसरे दिन आनेवाला ज्वर आता है, परन्तु तृतीयक या चतुर्थक के समान इसका ज्वरकाल कुछ घण्टों का न होकर बहुत लम्बा होता है जिससे दो आवेगों के बीच में निर्ज्वर काल बहुत कम या नहीं के बराबर होता है। इसलिये इसका ज्वर अर्धविसर्गी या कभी कभी सतत होता है। ये तीन ज्वर इसके सामान्य प्रकार हुए हैं। इसके अतिरिक्त संयोग के कारण और भी कुछ प्रकार होते हैं। तृतीयक के दो स्वतन्त्र दलों का दो क्रमागत दिनों में उपसर्ग होने से या चतुर्थक के तीन स्वतन्त्र दलों का तीन क्रमागत दिनों में उपसर्ग होने से अन्येद्युष्क (Quotidian) ज्वर उत्पन्न

होता है। चतुर्थक के दो स्वतन्त्र दलों का दो क्रमागत दिनों में उप सर्ग होने से चातुर्थक विषमय (Double quratn) ज्वर उत्पन्न होता है। मच्छरी के दंश के समय तृतीयक के स्पोरोज़ाइट विषमय चित्त (पृष्ठ २९१) होने पर नहीं क बिना प्रारंभिक १ ५ दिन धीरे धीरे चढ़नेवाला अनियमित स्वरूप का ज्वर आता है, उसके पश्चात् ८ १० दिन अन्येद्युष्क ज्वर आता है और अन्त में वह तृतीयक स्वरूप का हो जाता है। *मिश्रित उपसर्ग के इन ज्वर प्रकारों के अतिरिक्त मिश्र उप* सर्ग (जैसे, तृतीयक और चतुर्थक तृतीयक और दुष्ट इत्यादि) से ज्वर के और भी कुछ संयोग हो सकते हैं।

सचयकाल—ज्वर उत्पन्न होने के लिये शरीर में २५-१०० करोड़ कीटाणुओं की उपस्थिति आवश्यक होती है। यदि मच्छरी के दंश क समय शरीर में १० स्पोरोज़ाइट प्रविष्ट हो जाय और प्रत्यक स्पोरोज़ाईट से प्रत्येक चक्र में १५ मैरोज़ाइट बन जायें तो ६ चक्रों में उनकी संख्या सौ करोड़ स अधिक हो जायगी। इसमें एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि सब लाल कणों का नाश करक मैरोज़ाईट रक्त रस में स्वतन्त्र हो जाते हैं तब उनमें से कुछ भक्षक कणों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं और जो बचते हैं वे दूसरे लाल कणों में प्रवेश करते हैं। इसका अर्थ यह है कि केवल गणित के द्वारा प्राप्त संख्या शरीर में कदापि मिल नहीं सकती। फिर भी साधारणतया यह कह सकते हैं कि दंश के १२ दिन क पश्चात् मनुष्य में ज्वर पहलेपहल उत्पन्न हो सकता है।

संप्राप्ति—विषमज्वर परोपजीवी (M P) का योगक्षेम लाल-कणों के ऊपर होने के कारण उनके प्रत्येक चक्र के समय करोड़ों लाल कणों का नाश होकर निम्न वस्तुएँ रक्तरस में स्वतन्त्र होती है —(१) मैरोज़ाइट (२) कीटाणुओं से परिवर्तित हुआ हिमोज़ाइन नामक रंग (३) बचा हुआ लोहकणों रंग (४) लोहकणों के आवरण क टुकड़े

(५) और कीटाणुजनित विषद्रव्य। इनके कारण शरीर में विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(१) प्रत्येक चक्र के समय असंख्य कणों का नाश होने के कारण रक्तक्षय होता है। (२) शरीर में कीटाणु सदैव उपस्थित रहते हैं, परन्तु ज्वर सदैव नहीं होता। इसलिये ज्वर कीटाणुओं की उपस्थिति से नहीं हो सकता। यह देखा गया है कि कणों का नाश करके जब मेरोज़ोाईट रक्त रस में आते हैं तब रोगी को सर्दी और ज्वर आने लगते हैं। इसका कारण कीटाणुजनित विष है। यह विष विजातीय प्रोटीन (Foreign) स्वरूप का होने के कारण प्रतिक्रिया के तौर पर (Protein shock) शरीर में ज्वर उत्पन्न करता है। ज्वरोत्पादक गुण के अतिरिक्त इस विष में कणनाशक भी गुण होता है जो रक्त क्षय बढ़ाने में सहायता करता है। (३) कीटाणुओं से उत्पन्न हुआ वर्णक (Pigment) प्लीहा, यकृत, मज्जा इत्यादि अंगों की एण्डो थेलियल सेलों में संचित होने के कारण ये अंग काले हो जाते हैं। (४) रक्तकणों के अत्यधिक नाश के कारण उनका रंग द्रव्य रक्तरस में अधिक राशि में स्वतन्त्र होता है और इसी से पित्त की उत्पत्ति अधिक राशि में होने से कामला और पित्ताधिक्य के लक्षण इस ज्वर में दिखाई देते हैं। (५) जिन लोहकणों में दुष्ट कीटाणुओं का वास होता है वे चिपटू भंगुर और अनम्य (Sticky, fragile Inflex ible) बन जाते हैं जिससे बहुत पतली केशिकाओं में से जाते समय वे उनकी दीवाल पर चिपककर रक्त प्रवाह को मन्द कर देते हैं। इस प्रकार की विकृति मुख्यतया मस्तिष्क और आन्त्र में हुआ करती है और इसी के कारण अतितीव्र संताप, प्रलाप संज्ञानाश, आक्षेप, अतिसार, विषूचिका इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। लोहकणान्तर्गत यह परि वर्तन कोट णुओं की यकृयावस्था की अपेक्षा परिपुष्ट और विभजन की अवस्थाओं में अधिक हुआ करता है जिसके कारण दुष्ट कीटाणु के बल

पक स्वचागत रक्त में दिखाई देते हैं, परन्तु दूसरी दो अवस्थाओं के रूप प्लीहा मस्तिष्कादि अंगों की केशिकाओं में अटके हुए रहते हैं, स्वचागत रक्त में नहीं आ सकते।

पुनरावर्त्तन (Relapses)—विषमज्वर पुनरावर्त्तनशील रोग है, क्योंकि शरीर के यकृत प्लीहादि अभ्यन्तरीय अंगों में जो कीटाणु दबक मारकर रहते हैं उनका नाश मामूली तौर पर चिकित्सा करने से नहीं होता तथा शरीर के भीतर प्रतिकारक शक्ति के साथ मुकाबला करके बरसों तक जीवनक्षम रहने की शक्ति उनमें होती है। इसलिये रोगनिवृत्त होने के पश्चात् सर्दी लगना, पानी में भीगना, अत्यधिक शारीरिक थकावट, शस्त्रकर्म, रक्तस्राव, प्रसूति इत्यादि कारणों से जब शरीर दौर्बल्य हो जाता है तब गंभीर अंगों में छिपे हुए कीटाणु अपना अमैथुनी चक्र फिरसे आरम्भ करके विषम ज्वर उत्पन्न कर सकते हैं। साधारणतया दुष्ट का बीज अधिक से अधिक डेढ़ साल तक तृतीयक का ३ साल तक और चतुर्थ का ५ साल तक रह सकता है।

क्षमता—विषम ज्वर के लिये शरीर में वास्तविक क्षमता नहीं उत्पन्न होती। यह क्षमता कीटाणु प्रतिक्रिया के कारण शरीर की सेलों से उत्पन्न हुए क्षमताजनक प्रतियोगी पदार्थों के (Antibody) ऊपर निर्भर होती है। विषमज्वर कीटाणु का शरीर में प्रवेश होने से प्रतियोगी पदार्थ नहीं उत्पन्न होते। फिर भी यह देखा जाता है कि विषम ज्वर पीड़ित प्रदेशों में अनेक लोग शरीर में विषम ज्वर के कीटाणु का बराबर उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी ज्वरमुक्त रहते हैं। इसका समाधान यह है कि उनके शरीर में शरीर रक्षा का कोई दूसरा साधन होता है। इसको अभ्यास सात्म्य (Toleration) कहते हैं। अभ्यास सात्म्य वस्तु के निरन्तर अभ्यास (मादकद्रव्यों के लिये सेवन, विकारी कीटाणुओं के लिये शरीर में उपस्थिति) से बना रहता है और अभ्यास छूट जाने पर नष्ट होता है। विकारी कीटाणुओं की निरन्तर उपस्थिति

से जो सात्मय क्षमता है उसको मभिक्षमता (Premunition) कहते हैं। इस प्रकार की क्षमता विषम ज्वर अमीबिक अतीसार इत्यादि कीटाणुओं के रोगों में अधिक दिखाई देती है।

चिकित्सा—विषमज्वर की चिकित्सा के लिये वैक्सीन या सीरम नहीं है। क्विनीन प्लेटेक्विन और प्लाज्मोचिन ये तीन रामबाण औषधियाँ हैं। इनमें प्लाज्मोचिन दुष्ट विषम ज्वर के स्त्रावकों का नाश करने के लिये और शेष दोनों इनके अतिरिक्त बाकी सब प्रकार के और अवस्था के कीटाणुओं का नाश करने के लिये प्रयुक्त होती हैं।

विषम ज्वर कीटाणुओं का उपयोग फिरंग की चतुर्थावस्था की चिकित्सा के लिये (पृष्ठ २३९) किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञान और प्रायोगिक निदान—इसका एक मात्र साधन रक्त परीक्षा है। रक्त में कीटाणुदर्शन के द्वारा प्रत्यक्ष निदान के लिये लोहकणों (R. B C) का और कीटाणुरमित रंग दर्शन के द्वारा अप्रत्यक्ष रोग निदान के लिये श्वेतकणों का परीक्षण किया जाता है। इसकी भिन्न पद्धतियाँ हैं:—

(१) नवार्द्र प्रलेप पद्धति (Fresh wet film method)—कर्णपाली या अंगुलि को सुई से चुभोकर निकाले हुए रक्त के बूँद को ढक्कन के मध्य में लेकर वह ढक्कन पटरी पर उलटा—करके—रखने से पटरी पर तरल रक्त का पतला प्रलेप बन जाता है। फिर ढक्कने के चारों ओर किनारे पर वैसलीन लगाया जाता है जिससे रक्त जल्दी नहीं सूख सकता। फिर उस पटरी को तैलावगाही काँच से देखा जाता है। इस परीक्षण के लिये सूक्ष्मदर्शक पर उष्णमंच का प्रबंध (Warm stage apparatus) होना चाहिये। इस प्रकार देखने से विषम ज्वर कीटाणु लोहकणों के भीतर रंगहीन पिण्ड के समान दिखाते हैं।

(२) शुष्क तनुप्रलेप पद्धति (Thin film)—इसमें उपयुक्त पद्धति के अनुसार निकाला हुआ रक्त का बूँद काँच की पटरी पर

दूसरी पटरी के द्वारा पतले प्रलेप के रूप में फैलाया जाता है। इसके पश्चात् हवा में इसको सुखाया जाता है।

(३) स्थूल प्रलेप पद्धति (Thick film) इसमें पटरी के मध्य में आधे इंच चौकोर स्थान के चारों कोनों में रक्त के चार बूँद लेकर वे उतने स्थान में गाढ़े लेप के रूप में फैलाये जाते हैं। इसके बाद उष्म पोषक यन्त्र में (या धूप में) या ढकने के नीचे इसको रखकर सुखाया जाता है। इसको रोस रग (Ross-ruge) पद्धति कहते हैं।

(४) केन्द्रित रक्त प्रलेप पद्धति—इसमें केन्द्रीकरण (Concentration) पद्धतियों से केन्द्रित लोहकणोंका प्रलेप बनाया जाता है।

इसमें प्रथम पद्धति का उपयोग केवल परोपजीवी कीटाणु की विविध अवस्थाओं को देखने के लिये किया जाता है। नवीन रोगियों में निदान के लिये परिपाटी के तौर पर अनुप्रलेप पद्धति का उपयोग किया जाता है। जब रक्त में कीटाणु की संख्या कम होती है (जैसे, क्षीण-रोगियों में और विषम ज्वर वाहकों में) तब तृतीय और चतुर्थ पद्धति का उपयोग किया जाता है। इसका उपयोग सूक्ष्म श्लीपद कृमि (Micro-filaria) देखने के लिये भी किया जाता है। प्रथम पद्धति को छोड़कर शेष तीनों में लीशमन या जीम्सा (पृष्ठ ११) से लेप रंजित करके देखा जाता है। स्थूल प्रलेप को रंजने से पहले निम्न द्रव्यों में से एक के द्वारा विलोहित करके लेना चाहिये। तनुप्रलेप में कीटाणु प्रकार का ज्ञान होता है, परन्तु स्थूल से केवल कीटाणु का ज्ञान होता है, प्रकार का नहीं।

विलोह करण (Dehaemoglobinisation)—स्थूल प्रलेप का रंजन करने से पहले लोह कणों का रंग निम्नद्रव्यों से निकाला जाता है (१) सिंचक् पातित जल में बनाया हुआ म्यागनेशियम सल्फेट का १ प्र० श० घोल। (२) ५० सी० सी० अल्कोहोल हैड्रोक्लोरिक एसिड १० बूँद। (३) ५ प्र० श० फार्मेलिन और १ प्र० श० एसेटिक

एसिड। प्रथम सुखाया हुआ स्थूल प्रलेप इनमें से एक के द्वारा १० मिनिट तक विलोहित किया जाता है। इसके पश्चात् पानी से धोकर सुखाकर तत्पश्चात् रंजित किया जाता है। इससे छोड़कणान्तर्गत कीटाणु स्पष्टतया दिखाई देते हैं।

केन्द्रीकरण पद्धतियाँ—(१) रोसला की स्थूल प्रलेप पद्धति एक दृष्टि से केन्द्रीकरण पद्धति है। (२) अंगुलि या कर्णपाली से १ सी०सी० रक्त लेकर उसको २ प्र० श० एसेटिक एसिड के ५ सी० सी० घोल के साथ अच्छी तरह मिलाकर सेन्ट्रीफ्यूज से केन्द्रित करके तलछट का उपयोग पटरी पर प्रलेप करने के लिये किया जाता है। (३) बास और जोन की पद्धति (Bass and John's method) यह पद्धति इस तत्व पर निर्भर होती है कि विषमज्वर कीटाणुओं से उपसृष्ट छोड़कण औरों की अपेक्षा हलके होने के कारण सेंट्रीफ्यूज (प्रति० मि० २५००) तेजी से घुमाने पर पृष्ठ भाग पर ही रहते हैं। पटरी पर उनका प्रलेप करके देखा जाता है। इसके लिये १० सी० सी० रक्त रोगी की सिरा से लेकर उसके साथ ½ सी० सी० सैट्रेट डेक्स्ट्रोस घोल मिलाया जाता है।

रक्त परीक्षणार्थ सूचनाएँ—रोगी विषम ज्वर से पीड़ित होने पर भी कई बार रक्त परीक्षा में सफलता नहीं मिलती। अतः अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करने के लिये निम्नसूचनाओं के अनुसार काम करें। (१) रक्तग्रहण से पहले क्विनीन का उपयोग न करें। इससे कुछ विषम क व्यवायकों को छोड़कर शेष सब प्रकार के और अवस्थाओं के कीटाणु त्वचागत रक्त से अदृश्य हो जाते हैं। (२) उचित समय पर रक्त ग्रहण करें। यह समय शीतयुग कुछ घंटों पर या शीतोत्तर कुछ घंटों पर अथवा ज्वर मध्यपर होता है। जीर्ण विषम ज्वरियों में कीटाणु प्लीहा में रहते हैं, त्वचागत रक्त में बहुत ही कम होते हैं। इसलिये उनमें रक्तग्रहण का कोई उचित काल नहीं होता। उनमें रक्तग्रहण के पूर्व कई

चार उनको नीचे झुकाना, प्लीहा पर ठंडे पानी को छिड़काना, अर्गे-
ट्यामिन या पिच्युट्रिन का इंजेक्शन देना इत्यादि उद्दीपक साधनों का
उपयोग करना चाहिये। इससे प्लीहा संकुचित होकर तद्गत कीटाणु
रक्तभागत रक्त में आ जाते हैं। केम्ब्रीकम पद्धतियों का उपयोग इन्हीं
में उचित होता है। (३) प्रलेप और रंजन सम्यक होना चाहिये। प्रलेप
समतल और बहुत पतला होना आवश्यक है। प्रायः इस प्रकार की
स्थिति प्रलेप के अन्त भाग में हुआ करती है। उत्तम रंजन का परिचय
श्वेतकणों के केन्द्रों के रंजन से हो जाता है। (४) उचित क्षेत्र का
उचित काल तक परीक्षण करना चाहिये। प्रायः प्रलेप का अन्तिम भाग
विशेषतया उसके किनारे कीटाणु मिलने की दृष्टि से अधिक योग्य होते
हैं। ऐसे स्थान के कम से कम सूक्ष्मदर्शक के दोनों क्षेत्रों का (अर्थात्
१० मिनिट तक) परीक्षण करना आवश्यक है। इतनी सतर्कता रखने
पर भी कई बार एक प्रलेप में उनका मिलना असम्भव होता है। इस
लिये अन्तिम निषेधार्थी निर्णय देने से पहले तीन पटरियों का परीक्षण
होना उचित है। (५) उचित दिनों तक लगातार परीक्षण होना
चाहिये। कई बार यह देखा जाता है कि एक दिन रक्त में कीटाणु नहीं
मिलते, दूसरे दिन मिलते हैं। इसलिये यदि एक दिन के रक्त-प्रलेपों
में कीटाणु न मिलें तो क्रमागत दो तीन दिन लगातार परीक्षा करनी
चाहिये।

श्वेतकण परीक्षण—जीर्ण रोगियों में जब कीटाणु नहीं मिलते
तब श्वेतकणों का परीक्षण करने से निदान में कुछ सहायता होती है।
विषम ज्वर में एक केन्द्रीय कणों की संख्या २० प्र० श० तक बढ़ती
है तथा बहुकेन्द्रीय और एककेन्द्रीय श्वेतकणों में हीमोज्वाइन कण
इकट्ठे दिखाई देते हैं।

विषमज्वरग्राहक—(Malaria carriers)—जिस कारण
से विषम ज्वर के पुनरावर्तन होते हैं उसी से इसके ग्राहक भी

बन आते हैं। पुनरावर्तन अमैथुनी की उपस्थिति पर और वाहक अथवा चक्रों की उपस्थिति पर निर्भर होते हैं। ये व्यवापक अमैथुनी की अपेक्षा अधिक प्रतिकारक होने के कारण किसी विषम ज्वरी में पुनरावर्तन होने की जितनी संभावना होती है इससे अधिक संभावना वाहक बनने की होती है तथा पुनरावर्तन होने की अधिक से अधिक जितनी अवधि होती है उसके अधिक अवधि वाहकावस्था की होती है। ये वाहक तथा एनोफेलीज मच्छर बारहों मास उपस्थित होने के कारण विषम ज्वर बारहों मास न्यूनाधिक संख्या में स्वस्थ मनुष्यों को सताता रहता है।

लोमश कीटाणु (Ciliates)

बेलान्टिडिअम कोली (Balantidium coli)—मनुष्यों के आन्त्र में अनेक लोमश कीटाणु कभी कभी मिलते हैं। इनमें यह विशेष महत्व का है। यह कीटाणु मनुष्यों के स्थूलान्त्र में वास करता है। परोपजीवी कीटाणुओं में यह सबसे बड़ा होता है। इसकी लंबाई ६०-१०० म्यू और चौड़ाई ५० ७० म्यू होती है। यह कुछ अंडाकार होकर एक टोंक कुछ नोकदार होता है। नोकीले टोंक के पास चोंगे के समान मुख होता है। शरीरमध्य में वृक्काकारी वृहत्केन्द्र होकर उसके पास एक सूक्ष्मकेन्द्र भी होता है। इसका चित्रस दानेदार होकर उसमें कई रिक्तगोल होते हैं। इसके संपूर्ण शरीर पर लंबाई में छोटे छोटे बालों की रेखाएँ होती हैं। इसके सिस्ट ५० ६० म्यू मोटे, गोल और दो केन्द्र के होते हैं। सिस्ट और कीटाणु दोनों मल के साथ उत्सर्गित होते हैं।

विकारकारिता—यह कीटाणु सुअरों के आन्त्र में हमेशा रहता है और उन्हीं से मनुष्यों पर सिस्टों के द्वारा संक्रान्त होता है। यह स्थूलान्त्र तथा क्वचित क्षुद्रान्त्र के अन्त में अमीबा के समान व्रण उत्पन्न

करके अमीबिक अतीसार समान लक्षण भी उत्पन्न करता है। इसका पायबय मल में या व्रण में इसके मिलने से हो हो सकता है। इससे यकृत् विद्रधि नहीं होती।

अतीसार—अतीसार कीटाणुओं की विशेषता है। प्रायः प्रत्येक कीटाणु अतीसार उत्पन्न करता है या कर सकता है। जैसे—ए० हिस्टोलिटिका जीआर्डिया एन्टरस्टिन्यालिस, बे० कोली, कीशमब रोमोषम याकी और प्लाज्मोडिया।

---

१८ अध्याय

विपाणु (Filterable viruses)

स्वरूप (Nature)—विपाणु अपेक्षय सूक्ष्मदर्शक की शक्ति के बाहर होने के कारण इनके स्वरूप के संबंध में वैज्ञानिकों में कई मत भेद दिखाई देते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इनका अस्तित्व काल्पनिक है केवल मतभेद इनकी सजीवता या निर्जीवता के संबंध में है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार विपाणु जीवधारियों के शरीर की मज्जों में रहकर उनपर निर्वाह करनेवाले अतिसूक्ष्म आमही परोपजीवी जीवाणु हैं। यही मत इस समय अधिक मान्य माना जाता है। कुछ वैज्ञानिक इनको सेलविकृति (Perversion) के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए कणाकारी (Particulate) निर्जीव परन्तु संक्रमणशील रोग-प्रवर्तक (Transmissible noitants of disease) मानते हैं।

विशेषताएँ—विपाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी अपनी कुछ विशेषताएँ रखते हैं जो इनको तृणाणुओं से पृथक करती हैं तथा इनके स्वरूप के संबंध में कुछ परिचय देती हैं। (१) अतिसूक्ष्मता – सूक्ष्म दर्शक की शक्ति ½ म्यू तक होती है। ये इससे भी छोटे होते हैं (पृष्ठ २)। इनका परिमाण १ से १० म्यू म्यू (पृष्ठ १६) तक बताया जाता है। (२) निस्यन्दनशीलता (Filterability)—ये सब अतिसूक्ष्म निस्यन्दकों में से बाहर निकल जाते हैं। तृणाणुओं में भी बे० न्यूमोसिन्टस (पृष्ठ १८४), बे० पुरुक्तुएन्जा, बै० प्योटम तथा कुछ चक्राणु (पृष्ठ २१०) निस्यन्दनशील होते हैं। निस्यन्दक स्थूल, सूक्ष्म और कोलोडियन तीन प्रकार के होते हैं। इनमें कालोडियन आवरण के (Collodion membrane) सबसे सूक्ष्म होते हैं। विपाणु इनमें से बाहर चले जाते हैं। (३) अदृश्यता—ये अतिसूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मदर्शक से दिखाई नहीं देते हैं। इसलिये ये सूक्ष्म

दर्शकातीत कहलाते हैं। आजकल नीललोहितातीत प्रकाश (Ultra violet) और सूक्ष्म प्रकाश ऐक्सन (Microphotography) के द्वारा इनको देखने की कोशिश हो रही है और इसमें आंशिक सफलता भी मिल रही है। भविष्य में इस साधन में अधिक सुधार होने पर सूक्ष्मदर्शकातीत शब्द अचरितार्थ होने की आशा है।

सवर्धन—तृणाणु विस्पालिन, अगर, रक्तरस तथा शरीर के अन्य स्राव इत्यादि निर्जीव पदार्थों से युक्त सामान्य वर्धनकों में संवर्धित होते हैं तथा घन वर्धनकों पर संघ उत्पन्न करते हैं। विषाणु ऐसे निर्जीव वर्धनकों में न वृद्धि करते हैं न उनके संघ दिखाई देते हैं। ये सजीव सेलों के भीतर वृद्धि कर सकते हैं, बाहर नहीं कर सकते। अर्थात् ये विषमज्वर कीटाणु के समान पूर्ण सकोषजीवी ((ytotropic) होते हैं। इसलिये इनका संवर्धन सेलों से युक्त वर्धनकों पर किया जाता है।

जीवन क्षमता और प्रतीकार—सामान्य तृणाणु ५० प्र० श० ग्लिसरीन में अल्पकाल में मर जाते हैं। विषाणु इसमें अधिक कालतक जीवनक्षम रहते हैं। तृणाणु उपमल से बचने की वृद्धि से इसलिये विषाणुद्रव के साथ ५० प्र० श० ग्लिसरीन मिलाकर रक्खा जाता है। उदा० मसूरिका टीका द्रव। उष्णता और जीवाणुनाशक अन्य द्रव्यों से ये जल्दी मर जाते हैं, परन्तु शरीर के बाहर शीत, प्रकाश और शुष्की भवन दीर्घकाल तक सह सकते हैं।

विकारकारिता—इसकी निम्न विशेषताएँ होती हैं। (१) तीव्र औपसर्गिकत्व—ये रोग प्रायः अत्यन्त औपसर्गिक और शीघ्र व्यापी होते हैं जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर इतनी शीघ्रता से फैलते हैं कि उनकी रोक-रोक करना असंभव हो जाता है। उदाहरण, मसूरिका रोमान्तिका, पूयगुल्मजा और खुरपका या मुँहपका (Foot and mouth disease)
(२) क्षेत्रविविधता—इनका अधिकार तृणाणु, पक्षी, पशु, वनस्पति और मनुष्य सबके ऊपर होता है। तृणाणुओं पर अधिकार करनेवालों का

उदाहरण येक्टेरिओफेज (पृष्ठ ६९) है। (३) तीव्रविषता—ये अत्यन्त उग्र और विकारकारी होते हैं जिसके कारण इनका प्रसार तेजी से हो जाता है। पीतज्वर के विषाणु की तीव्रता इतनी तेज होती है कि उससे मृत प्राणी के मस्तिष्क के द्रवांश का [illegible] सी० सी० अंदर में उपसर्ग पहुँचा सकता है। (४) सावधिकता—विषाणुजनित अधिकांश रोग स्वयं मर्यादित या सावधिक (Self limited) होते हैं जो क्रम से बढ़ते हैं और अवधि समाप्त होने पर प्रायः ठीक हो जाते हैं या क्वचित घातक होते हैं। औषधियों का परिणाम इनकी अवधि पर प्रायः नहीं होता। (५) स्थान संश्रयता—विषाणु शरीर की संपूर्ण धातुओं पर आक्रमण करने में असमर्थ मालूम होते हैं। केवल त्वचा और नाड़ी ये दो धातुएँ इनके लिए ग्रहणशील होती हैं। त्वचा को उपसर्ग पहुँचानेवाले त्वचोपसर्गी (Dermotropic) कहलाते हैं और ये त्वचा की एपिथेलियल अंशों पर आक्रमण करते हैं। नाड़ियों को उपसर्ग पहुँचानेवाले नाड्युपसर्गी (Neurotropic) कहलाते हैं और ये परिसरीय (Peripheral) नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क संस्थान में फैलकर विषाणु नाड़ीशोथ (Septineuritis) उत्पन्न करते हैं। नाड्युपसर्गियों में अधिकांश विषाणु नाड़ी सेलोपघाती (Polio-clastic) होते हैं और कुछ नाड़ीत्वगुपघाती (Mylinoclastic) होते हैं। जैसे तृणाणु रक्त के द्वारा संपूर्ण रक्तवह संस्थान में फैलकर तृणाणु दोषमयता उत्पन्न करते हैं वैसे ही विषाणु प्रवेश स्थान संबंधित नाड़ियों द्वारा संपूर्ण नाड़ी संस्थान में फैलकर विषाणु नाड़ीशोथ उत्पन्न करते हैं। यद्यपि स्थानविकृति के अनुसार इनके उपयुक्त दो वर्ग किये जाते हैं तथापि इस वर्गीकरण का अर्थ यह नहीं है कि एक वर्ग के विषाणुओं में दूसरे वर्ग के विषाणुओं के समान अपने स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में विकृति उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। जब रोग तीव्र हो जाता है तब दूसरे स्थान में भी विकृति होने लगती है।—जैसे, मसूरिका, रोमान्तिका, [illegible] इत्यादि के वातिक,

* उपद्रव। यद्यपि स्थान सम्बन्ध की दृष्टि से इनके दो भाग किये जाते हैं तथापि व्यावहारिक विवरण की दृष्टि से इनके निम्न चार वर्ग किये जाते हैं।

(अ) केवल त्वचोपसर्गी—ओपसर्गिक और मांसर्गिक माष (Infectious wart, molluscus contagiosum) पलक के रोहे (Trachoma)।

(आ) केवल नाड्युपसर्गी—शैशवीय पक्षाघात, जलसंत्रास, निद्रा-रूपी मस्तिष्कशोथ (Encephelitis lethargica)

(इ) त्वङ्नाड्युपसर्गी—मसूरिका, छोटी मसूरिका, कक्षा (Zoster), परिसर्प (Herpis)।

(ई) श्वसनमार्गोपसर्गी—रोमान्तिका, कनफेर, एनफ्लुएन्ज़ा प्रतिश्याय इत्यादि।

(उ) कोटदंशजनित—पीतज्वर, दण्डकज्वर (Dengue) मल्ल-मक्षिका ज्वर।

(६) तृणाणुओं का उपसर्ग—त्वचा और श्लेष्मल त्वचापर अनेक तृणाणु सर्वदा (पृष्ठ ९) उपस्थित रहते हैं। जब इन स्थानों पर विषाणुओं से आक्रमण होता है तब ये तृणाणु वार करके अनेक उपद्रव उत्पन्न करके रोग की गंभीरता को बढ़ाते हैं। इस प्रकार की स्थिति मसूरिका रोमान्तिका, एनफ्लुएन्ज़ा, कनफेर (Mumps) इत्यादि रोगों में दिखाई देती है। *मसूरिका में मृत्यु का हेतु विषाणु न होकर त्वचागत तृणाणुओं का उपसर्ग ही होता है।*

विकृत शारीर—विषाणुवर्ग सेलोपजीवी होने के कारण जिनके भीतर आक्रमण करते हैं उनमें विविध परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। (१) अप-क्रान्ति नाश या द्रावण (Degeneration necrosis or lysis) —*इस प्रकार के परिवर्तन मसूरिकादि त्वचा के रोगों में स्पष्ट प्रतीत होते हैं।* मस्तिष्क संस्थान के रोगों में भी यही स्थिति होने से स्थायी घात का कारण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि मस्तिष्क या नाड़ी की सेल एक बार नष्ट होने पर फिर से बन नहीं सकतीं। द्रावण का उदाहरण

बैक्टेरिओफेज (पृष्ठ ३०) है। (२) अन्तर्पिंड (Inclusion bodies) विषाणु उपसर्गों की यह विशेष विकृति है। ये पिण्ड दो स्थानों में पाये जाते हैं और उनके अनुसार इनके दो भेद किये गये हैं। इनका उपयोग विषाणु रोग निदान के लिये (पृष्ठ १९९) किया जाता है। (१) केन्द्रान्तरीय (Intranuclear)—इस प्रकार के पिण्ड पीतज्वरी के यकृत, में, परिसर्पी की विकृत त्वचा की उपिथेलियल सेलों में दिखाई देते हैं। (२) चित्रसान्तरीय (Cytoplasmic)—ये पिण्ड सेलों के चित्रस में होते हैं। इनके प्रसिद्ध उदाहरण जलसंत्रास के नेगरीपिण्ड (Negri bodies) और मसूरिका के ग्वानरी (Guarnieri) पिण्ड हैं। ये जीम्सा के रंग से गुलाबी या लाल दिखाई देते हैं। जहाँपर विषाणुओं का उपसर्ग होता है वहीं पर ये पिण्ड उत्पन्न होते हैं। अर्थात् सेलों में इनकी उपस्थिति उपसर्ग को निदर्शक होती है। कुछ रोगों में केन्द्रान्तरीय कुछ रोगों में चित्रसान्तरीय और कुछ रोगों में दोनों प्रकार के पिण्ड मिलते हैं। (३) प्रारम्भिक पिण्ड (Elementary bodies)—कुछ रोगों में कोकाय के समान बहुत छोटे (½ म्यू) पिण्ड दिखाई देते हैं। इनका प्रसिद्ध उदाहरण मसूरिका के पास्चेन) (Paschen) पिण्ड हैं। मसूरिका के अतिरिक्त छोटी मसूरिका और दूसरे रोगों में भी ये पिण्ड दिखाई देते हैं। जीम्सा से अधिक काल तक रंजन करने पर ये लाल या नीलापन लिये लाल रंग के दिखाई देते हैं। इन पिण्डों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ तज्ज्ञ इनको विषाणु समझते हैं और दूसरे इनको विषाणुओं के उपसर्ग से सेलों में उत्पन्न हुई अपक्रान्ति या प्रतिक्रिया के फल समझते हैं। इनमें प्रथम मतानुवर्ति लोक अधिक है। इनका कहना है कि प्रारंभिक पिण्ड विषाणु के कण हैं और अन्तर्भूत पिण्ड प्रारम्भिक पिण्डों के समूह (Aggregates) हैं जिनके अलग अलग कणों को हम आधुनिक रंजन और सूक्ष्मदर्शन की पद्धतियों से देख नहीं सकते।

(४) शोथ (Inflammation)—विषाणुजनित रोगों में सेलों

की विकृति प्रधान है और शोथजन्य विकृति अत्यन्त गौण होती है। शोथ में मुख्यतया एक केन्द्र श्वेतकणों की (Mononuclears) और गौण रूप से लसिका कणों की भरमार होती है, बहुकेन्द्र श्वेतकण अपवाद (जैसे शैशवीय अंगघात में) मिलते हैं। विषाणु रोगों में मस्तिष्क संस्थान के रोग बहुत होते हैं और मस्तिष्क संस्थान में शोथयुक्त स्थान सन्निकटवर्ति वाहिनियों के आस पास एक केन्द्र कणों की भरमार (Perivascular collections) होती है। (५) अतिवृद्धि (Hyperplasia)—कहीं-कहीं विषाणुओं के उपचार से सेलों की संख्यावृद्धि होकर अर्बुद बनने लगते हैं। इसका उदाहरण सांसर्गिक मांस (Molluscum contagiosum) है। इस आधार पर कुछ वैज्ञानिक अर्बुदों (Tumours) की उत्पत्ति में विषाणुओं का सहयोग भी मानते हैं तथा इसके प्रमाण में विषाणुजनित अर्बुदों के उदाहरण (Rous sarcoma of fowls etc) देते हैं।

संक्रमण—(१) अधिकतर विषाणु रोग संसर्ग, बिन्दूत्क्षेप और वायुप्रवाह के द्वारा फैलते हैं। जैसे—मसूरिका, रोमान्तिका, इन्फ्लुएन्जा प्रतिश्याय कनफेड शैशवीय अंगघात मारक मस्तिष्कशोथ इत्यादि (२) कुछ कीटों के या जानवरों के द्वारा से फैलते हैं। जैसे—पीतज्वर, दण्डकज्वर जलसंत्रास। (३) जीवाणुजनित अन्य रोगों के समान विषाणुजन्य रोगों में भी वाहक होते हैं जो रोगप्रसार में बहुत सहायता करते हैं। उदाहरण—शैशवीय अंगघात प्रतिश्याय और मारक मस्तिष्कशोथ के वाहक।

रोगक्षमता—जीवाणुओं से जैसे उत्पन्न संक्रमियों में क्षमता उत्पन्न करने की शक्ति होती है, वैसे विषाणुओं में भी होती है परन्तु इसकी भिन्न विशेषताएँ हैं। (१) यह क्षमता अधिक टिकाऊ और कई रोगों में यावज्जीवन होती है। उदा० मसूरिका रोमान्तिका, छोटी मसूरिका कनफेड तथा शैशवीय अंगघात, पीतज्वर। (२) विषाणुजनित रोगों में भी रोगी के शरीर में स्वस्थावस्था में प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न होकर

उपस्थित रहते हैं, परन्तु क्षमता स्थायी बनाने में इनका स्थान गौण माना जाता है। रोगनिवृत्ति होने के पश्चात् तृणाणुजनित रोगों में वाहकों को छोड़कर अन्य सब रोगनिवृत्तों के शरीर से जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। विषाणु जनित रोगों में रोगनिवृत्ति होने पर भी वे शरीर में निवास करते हैं ऐसा तज्ज्ञों का मत है और स्थायी क्षमता उनके निवास के कारण होती है ऐसा माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवाणुजनित रोगों के लिये जिस प्रकार क्षमता शरीर रसाश्रयि (Humoral) होती है वैसी विषाणुजनित रोगों के लिये न होकर वह सेलाश्रयि (Cellular, विषाणु सेलाश्रयि होने के कारण) होती है। ये शरीर की सेलों में रहनेवाले विषाणु शरीर के स्रावों से उत्सर्गित भी होते रहते हैं और इसलिये विषाणुजनित रोगों के वाहक भी होते (कराह संक्रमण देखो) हैं। (४) रोगी के शरीर में जो प्रतियोगी पदार्थ बनते हैं वे विषाणुजनित रोगों में तृणाणुजनित रोगों के समान रक्त में प्रकट नहीं होते। इसका कारण यह माना जाता है कि विषाणु सेलाश्रयि होने के कारण, जिनके ऊपर आक्रमण कर सकते हैं उनके ऊपर ये, प्रतियोगी चिपककर (Adsorb) उनको विषाणुओं के लिये अगम्य बना देते हैं और इसलिये रक्तरस में स्वतन्त्रतया नहीं मिलते। (४) सक्रिय क्षमता उत्पन्न करने के लिये इनके भी वैक्सीन होते हैं, परन्तु तृणाणु मृतावस्था में जैसी बढ़िया क्षमता उत्पन्न कर सकते हैं वैसी ये नहीं कर सकते। इनके वैक्सीन कुछ विशिष्ट संस्कारों से या कार्बोलिक अम्लादि रासायनिक द्रव्यों से अनुग्र (Attenuated) बनाये हुए परन्तु सजीव विषाणुओं के होते हैं। (५) निष्क्रिय क्षमता उत्पन्न करने के लिये इनकी भी सम लसिकाएं होती हैं, परन्तु वे मनुष्येतर प्राणियों में कृत्रिम तौर बनायी हुई न होकर नैसर्गिक रीत्या-मनुष्यों में उत्पन्न हुए रोगों से बचे हुए व्यक्तियों की अर्थात् रोग निवृत्तों की लसिकाएं (Convalescent Serum) होती हैं। (६) तृणाणु तत्प्रतिरोधिका तृणाणु या उनके विष से परस्पर मिलकर और

उनको क्रम से निर्बल और निर्विष बनाकर शरीर की रक्षा करती है। विषाणुक्षमलसिका विषाणुओं के साथ परस्पर नहीं मिलती, परन्तु शरीर की जिन सेलों के ऊपर विषाणुओं का आक्रमण या आकर्षण होता है उनके साथ मिलती है और उनको अग्राह्य बनाकर यह शरीर की रक्षा करती है। इसलिये यदि विषाणुओं का आक्रमण होने से पहले मरक के समय क्षमलसिका का उपयोग किया जाय तो शरीर की आक्रम्य सेलें विषाणुओं के लिये अग्राह्य होने के कारण मनुष्यों की रक्षा उससे होती है। (७) गुणाणुजनित प्रतियोगी पदार्थों को क्षमता उत्पन्न करने के लिये पूरक (Compliment) या श्वेतकणों की आवश्यकता होती है। विषाणुजनित प्रतियोगी पदार्थ बिना उनके स्वतन्त्रतया क्षमता उत्पन्न कर सकते हैं, क्योंकि (इनकी क्षमता में प्रतियोगी जनक (Antigen) और प्रतियोगी (Antibov) दोनों का संयोग नहीं होता।

चिकित्सा—इनके प्रतिषेध के लिए वैक्सीन का उपयोग होता है—जैसे, मसूरिका और अलर्कत्रास की टीका। प्रतिषेध के लिये रोग निवृत्त की लसिका का उपयोग होता है और यदि प्रारंभ में प्रयुक्त की जाय तो चिकित्सा में भी काम होता है। जैसे—रोमान्तिका शैशवीय अंगघात और पीतज्वर की लसिका का उपयोग। इनके रोगों के लिये कीटाणु रोग के समान कोई अमोघ औषधि नहीं है।

प्रायोगिक निदान—विषाणु स्वयं अदृश्य होने तथा उनके प्रतियोगी पदार्थ लसिका में नहीं के बराबर होने से निदान में प्रायोगिक पद्धतियों (पृष्ठ ९८) का बहुत कम उपयोग होता है। मसूरिका या अलर्कसंत्रास जैसे कुछ रोगों में अन्तर्मूर्त पिण्डों (पृष्ठ १०९) को देखकर निदान किया जा सकता है। परंतु इनका उपयोग परिपाटी के तौर पर नहीं किया जाता। केवल पागल कुत्तों के निदान के लिये प्रायोगिक पद्धति का उपयोग होता है।